गया था। साथ ही में कमेटी से लिखितरूप में यह प्रतिज्ञा की गई थी कि "५ सहस्र रु० की लागत के हिन्दी-वैज्ञानिक ग्रन्थ स्थानीय श्रीबालचन्द्र ई० प्रेस से प्रकाशित कर दिये जांयगे। तदनुसार एक वर्ष के भीतर भीतर हमनें लगभग २॥ सहस्र के व्यय के दो खण्ड प्रकाशित कर दिए हैं। लिखित प्रतिज्ञानुसार व्यय के हिसाब के साथ प्रकाशित खण्डों की १०० प्रतिएं कमेटी की सेवा में भेज दीं गईं हैं। बाकी बचे हुए ऋण से भी हम शीघ्र ही मुक्त होनें का प्रयास कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में कमेटी से, विशेषतः श्रीमतीलेडी लक्ष्मीबाई, एवं राजासाहब श्रीमुकुन्दलालजी से यह विनम्र निवेदन करना चाहते हैं कि कमेटी नें जो द्रव्य हमें प्रदान किया था उसका उपयोग पूर्वकथनानुसार प्रकाशन सम्बन्धी सामान में ही होगया है। ऐसी स्थिति में प्रकाशन जैसा परिष्कृत होना चाहिए था, नहीं होसका है। कमेटी द्वारा प्राप्त सामान से किस प्रकार संकट-ग्रस्त बन कर हम दो खण्ड कमेटी के सामनें रखनें में समर्थ होसके हैं, इस का पूरा विवरण "हमारी यात्रा, और वैदिकस हिस" नाम के वक्तव्य से कमेटी को विदित होगा। इन सब संकटों के रहते हुए भी कमेटी को हम विश्वास दिलाते हैं कि अग्रिम वर्ष की समाप्ति तक जैसे भी बनैगा, हम शेष ऋण से मुक्त होनें का प्रयास करेंगे। हमें आशा है—लेडी साहिबा, एवं राजासाहब हमारी विषम परिस्थिति को लक्ष्य में रखते हुए भविष्य में भी इस साहित्य पर इसी प्रकार अनुग्रहदृष्टि बनाए रक्खेंगे।

इस के अनन्तर "उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका" का प्रथम खण्ड प्रकाशित होगा। यह भूमिका ९०० पृष्ठों में सम्पन्न हुई है। इसी लिए इसे भी दो खण्डों में ही प्रकाशित करनें का निश्चय किया है। इस में निम्न लिखित विषयों का समावेश हुआ है—

१—प्रारम्भिक वक्तव्य	—१००	भूमिकाप्रथमखण्ड
२—पद्धनपाठरहस्य	—४०	
३—उपनिषत् शब्द का अर्थ	—१००	
४—क्या उपनिषत् वेद है ?	—१२०	

(लगभग ४४०)



(५)—१—उपनिषदों में क्या है ?
(६)—२—उपनिषत् ज्ञान का अधिकारी कौन है ?
(७)—३—उपनिषत् हमें क्या सिखाती है ?
(८)—४—औपनिषद ज्ञान के प्रवर्त्तक कौन थे ?
(९)—५—ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत् में परस्परमें क्या सम्बन्ध है ?
(१०)—६—श्रुतिशब्दमीमांसा, एवं एकेश्वरवाद पर एक दृष्टि।

भूमिकाद्वितीयखण्ड

(लगभग ५०० पृष्ठ)

प्रकाशित दोनों खण्डों के सम्बन्ध में हमें अपने प्रेमी पाठकों से यह निवेदन करते हुए लज्जा का अनुभव होता है कि प्रकाशन में अशुद्धियों को आवश्यकता से अधिक स्थान मिला है। कारण इसका यही है कि अध्ययन के कार्य में संलग्न रहने कारण हमें समय बहुत ही कम मिलता है। साथ ही में अर्थसंम्बन्धिनी जटिल समस्या के कारण हम इस कार्य के लिए स्वतन्त्र व्यक्ति रखने में भी असमर्थ हैं। इन्हीं सारी परिस्थितियों को लक्ष्य में रखते हुए पाठक उक्त अपराध के लिए हमें क्षमा प्रदान करेंगे, यही निवेदन कर हम अपनी संक्षिप्त प्रस्तावना समाप्त करते हैं।

प्रीयतामनेनात्मदेवतेति-शम्

फाल्गुनकृष्ण १३ शिवरात्रिः

वि० सं० १९९०

(ग्रन्थसमाप्ति)

विद्वद्भिर्विधेयः—

मोतीलालशर्म्मा,भारद्वाजः

जयपुर—राजधानी

॥ श्रीः ॥

ईशोपनिषत्-हिन्दीविज्ञानभाष्य-द्वितीयखण्ड की विषयसूची



अथ

प्राकृतात्माधिकरणे—

अव्यक्तात्माधिकरणम्

१

(१ पृष्ठ से १५१ पृष्ठ पर्यन्त)



इति-विषयोपक्रमः

मन्त्रार्थसम्बन्धिनी-त्रयीवेदनिरुक्तिः

(१२ पृष्ठ से ३० पर्यन्त)

त्रयीवेदनिरुक्ति-समाप्त

मन्त्रार्थसम्बन्धिनी-अथर्ववेदनिरुक्तिः

(३१ पृष्ठ से ४६ पर्यन्त)

अथर्ववेदनिरुक्ति-समाप्त

मन्त्रार्थप्रकरण

(५० पृष्ठ से ११५ पर्य्यन्त)

मन्त्रार्थप्रकरण—समाप्त ।

अव्यक्तात्माधिकरण में ब्रह्म—कर्म्मसंबन्धाधिकरण

(११७ पृष्ठ से १५१ पर्य्यन्त)




S. N.
LIBRARY

समन्वयाधिकारसमाप्त

इति—मन्वयतात्माधिकरणं समाप्तम्

१

अथ

प्राकृतात्माधिकरणे—

२— महदात्माधिकरणम्

(१५३ पृष्ठ से २५१ पृष्ठ पर्यन्त)

इति प्राकृतात्मधिकरणे
महदात्माधिकरणम्

३

अथ
प्राकृतात्माधिकरणे
विज्ञानात्माधिकरणम्
(२१५–३०४ पर्य्यन्त)


BHARATIYA VIDYA B

मन्त्रार्थप्रकरण

प्रथममन्त्रार्थप्रकरण

(२७३ पृष्ठ से २७८ पृष्ठ पर्यन्त)



प्रथममन्त्रार्थसमाप्त

द्वितीयमन्त्रार्थप्रकरण

(२७८ पृष्ठसे २८८ पृष्ठ पर्यन्त)



द्वितीयमन्त्रार्थसमाप्त

तृतीयमन्त्रार्थप्रकरण

(२८८ पृष्ठसे ३०३ पृष्ठ पर्यन्त)

तृतीयमन्त्रार्थसमाप्त

इति

प्राकृतात्माधिकरणे-विज्ञानात्माधिकरणम्

समाप्तम्

अथ

प्राकृतात्माधिकरणे
प्रज्ञानात्माधिकरणम्

—४—

(३०५ पृष्ठसे ३४६ पृष्ठपर्यन्त)

इति

प्राकृतात्माधिकरणे प्रज्ञानात्माधिकरणं

समाप्तम्

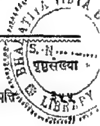
—४—

अथ

प्राकृतात्माधिकरणे

प्राणात्माधिकरणम्—

—५—


BHARATIYA VIDYA BHAVAN
S. N.
LIBRARY

इति

प्राकृतात्माधिकरणे प्राणात्माधिकरणं

समाप्तम्

५

अथ

प्राकृतात्माधिकरणे शरीरात्माधिकरणम्

६

(३७६ पृष्ठसे ३८६ पृष्ठपर्यन्त)



इति

प्राकृतात्माधिकरणे शरीरात्माधिकरणं

समाप्तम्

६

अथ

प्राकृतात्माधिकरणे उभयोः सत्यात्मनोरग्निना-ऐकात्म्यम्

(३८४ पृष्ठ से ३८६ पृष्ठ पर्यन्त)

इति

वाजसनेयोपनिषत्-विज्ञानभाष्यं सम्पूर्णम्

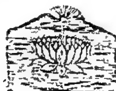


उपनिषत् निष्कर्ष

(३८७ पृष्ठ से ३९२ पृष्ठ पर्यन्त)



ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!



" मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् "

प्राकृतात्माधिकरण

२

प्राण–आप–वाक्–अन्न–अन्नादमयः प्राकृतात्मा 'विश्वात्मा'

४—१—१—अनेजदेकं मनसो जवीयः
५—२—२—तदेजति तन्नैजति
६—३—३—यस्तु सर्वाणि भूतानि
७—४—४—यस्मिन् सर्वाणि भूतानि
→ अव्यक्तात्माधिकरण

८—५—१—स पर्यगाच्छुक्रमकायम्
→ महदात्माधिकरण

९—६—१—अन्धं तमः प्रविशन्ति
१०—७—२—अन्यदेवाहुर्विद्यया
११—८—३—विद्यां चाविद्यां च
→ विज्ञानात्माधिकरण

१२—९—१—अन्धं तमः प्रविशन्ति
१३—१०—२—अन्यदेवाहुः सम्भवात्
१४—११—३—सम्भूतिं च विनाशं च
→ प्रज्ञानात्माधिकरण

१५—१२—१—हिरण्मयेन पात्रेण
१६—१३—२—पूषन्नेकर्षे
१७—१४—३—वायुरनिलममृतम्
→ प्राणात्माधिकरण

१—अथेदं भस्मान्तं शरीरम्
→ शरीरात्माधिकरण

१८—१५—१—अग्ने नय सुपथा राये
→ अग्निदेव की सर्वता

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम्

पूर्णमदः →→→—→ पूर्णमिदम्

←स्वयम्भूः →→→—→ १-शान्तात्मा

अधिदैवतम् →→→—→ अध्यात्मम्

ब्रह्मसत्याद्वार:—

ब्रह्म-कर्म्ममयः प्राकृतात्मा स्वयम्भूः

अव्यक्तात्मा

१

स्वयम्भूः ←——←←←← प्राणः →→→→——→ शान्तात्मा

(अव्यक्तात्माधिकरणे *शान्तात्मा*)

वेदावच्छिन्नो वेदमूर्त्तिर्विद्याकर्म्ममयात्मा

विश्वेश्वरः

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

(ईशोपनिषत् ४ मन्त्र)





अव्यक्तस्वरूपनिदर्शन

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् प्रकाशयन् भ्राजते यद्वनड्वान् ।
एवं स देवो भगवान् वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः ॥ १ ॥

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद्यः ।
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः ॥ २ ॥

तद्वेद गुह्योपनिषत्सु गूढं तद् ब्रह्मा वेदयते ब्रह्मयोनिम् ।
ये पूर्वं देवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥ ३ ॥

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः ॥ ४ ॥

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ ५ ॥

स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता ।
य ईशेऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ॥ ६ ॥

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ७ ॥

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति ।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः ॥ ८ ॥

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं स च विचैति सर्वम् ।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥ ९ ॥

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥ १० ॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥



॥ श्रीः ॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत !
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ १ ॥ (गी० २।२८।)
अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ २ ॥ (गी० ८।१८)
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ३ ॥ (गी० ९।८।)
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्
हेतुनानेन कौन्तेय ! जगद्विपरिवर्तते ॥ ४ ॥ (गी० ९।१०)



स्वार्थ से सम्बन्ध रखने वाला बहिरङ्ग विषय समाप्त होगया। अब मन्त्र-प्रकरण आरम्भ होता है। पुरुष प्रकरण का 'असुर्या नाम ते लोकाः' इत्यादि मन्त्र आवरणतन्त्र का निरूपण करता है। आवरणतन्त्र विश्व है। इसी विश्वावरण से आत्मप्रकाश रहता हुआ भी तिरोहित हो रहा है। इस आवरणतन्त्र के सम्बन्ध में प्रश्न उपस्थित होताहै कि—आवरणतन्त्र का प्रवर्तक कौन है ? विशुद्ध अव्यय पुरुष तो केवल आत्मकाम बनता हुआ आप्तकाम, अतएव निष्काम है। ऐसी अवस्था में विशुद्ध अव्यय से आवरणरूप विश्व की प्रवृत्ति हो-यह संभव नहीं है। इसी प्रश्न का समाधान करने के लिए 'असुर्याः' इत्यादि मन्त्र के अव्यवहितोत्तरकाल में ही निम्नलिखित मन्त्र हमारे सामने आता है।

**अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥**

"वह (कोई) एक (विलक्षण तत्व सर्वथा) कम्प रहित है। (वह) मनसे भी (अधिक) वेग वाला है। पहिले से ही (सर्वत्र) व्याप्त उस तत्व को देवतालोग प्राप्त करने में

असमर्थ हैं। वह तत्त्व दौड़ते हुए देवताओं का स्वयं बैठा बैठा ही अतिक्रमण कर रहा है। ऐसे इस तत्त्व में मातरिश्वा (नाम का तत्त्वविशेष) अप् नाम के पदार्थ को रखता है" यह है मन्त्र का अक्षरार्थ।

श्रुति कहती है कि एक तत्त्व ऐसा है जो सदा के लिए ठहरा हुआ है एवं वही तत्त्व एक क्षणके लिए भी ठहरा हुआ नहीं है। वह एकान्ततः शान्त है, एकान्ततः अशान्त है। दोनों धर्मों से वह नित्य आक्रान्त है। उभयधर्मावच्छिन्न वस्तुतत्त्व एक है। इस प्रकार श्रुति एक ही तत्त्व में सर्वथा विरुद्ध दो भावों का सन्निवेश बतला रही है। ऐसा कौनसा तत्त्व है जो निरन्तर चल भी रहा है, एवं ठहरा भी हुआ है, जो अनेजत् भी है, एवं मनसे भी तेज दौड़ने वाला है? इस का उत्तर है वही अव्ययपुरुष। अव्यय का अमृतरूप विद्याभाग सर्वथा स्थिर (अनेजत्) है, मृत्युरूप कर्मभाग सर्वथा चर है। अपनी इन्हीं दोनों नियतियों से वह संसारमें व्याप्त हो रहा है। संसार चलाचल है। बनना—बिगड़ना संसार का स्वाभाविक धर्म है। इसी द्विनियति से यह विश्व भी 'द्विनियति' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। विश्व के बनना (स्थिति—इदन्त्व) और बिगड़ना (गति—अन्यथात्व) यही दो रूप (रंग) हैं, अतएव लोकभाषा में विश्व के लिए—'दुनिया दुरंगी' यह आभाणक प्रसिद्ध है। निरुक्त क्रमानुसार द्विनियति शब्द ही 'दुनिया' बन गया है। यहां एक बनता है, एक बिगड़ता है। एक रोता है, दूसरा हंसता है। एक सोता है, एक जगता है। एक सेवक है, दूसरा स्वामी है। एक पति है, दूसरी पत्नी है। एक भोक्ता है, दूसरा भोग्य है। एक बालक है दूसरे खिलौने हैं। इस प्रकार भावद्वयावच्छिन्न अव्यय की सृष्टि में सुख दुःख, पुण्यापुण्य, अच्छा बुरा, सत्य मिथ्या, दिन रात, स्याह सुफेद, गुरु शिष्य, राजा प्रजा, विद्वान् मूर्ख राव रंक आदि भेद से सर्वत्र इसी द्विनियतिभाव का साम्राज्य है।

अव्यय का विद्याभाग रसप्रधान है, कर्मभाग बलप्रधान है। रसभाग अमृत है, बलभाग मृत्यु है। यदि मृत्युरूप सारे बल उस अमृतरूप रस समुद्र में प्रविष्ट हो जाते हैं, उन्मुग्ध बन जाते हैं तो वही अव्यय द्विनियतिमर्यादा से बाहर निकलता हुआ 'परात्पर' बनजाता है, जैसा कि परात्परनिरुक्ति में विस्तार से बतलाया जाचुका है। (देखिए ई. उ. प्र. खं. २५५–२६४ पृ.)।

वही सीमित बलावच्छिन्न बनता हुआ, अतएव द्विनियतिभाव का प्रवर्त्तक बनता हुआ अव्यय कहलाने लगता है, जैसा कि पुरुषनिरुक्ति में स्पष्ट करदिया गया है। (देखिए ई० उ० प्र०-२६५-२८५ पृ०) बलभाग सर्वथा क्षणिक है, क्षोभ ही इस का स्वरूपधर्म है। इसी आत्यन्तिक क्षोभ से अव्ययपुरुष 'असत्' कहलाने लगता है। रसभाग सर्वथा अक्षण है। शान्ति इस का स्वरूपधर्म है। इसी आत्यन्तिक शान्ति से यह 'सत्' नाम से व्यवहृत होने लगता है। नित्य अशान्तिगर्भित नित्य शान्त अमृत-मृत्युरूप सदसद् तत्त्व ही ओंकार (ईश्वर) है, वही अहंकार (ईश्वरांशभूत जीवाव्यय) है, वही अहस्कार (विश्व) है। यही रामानुज सम्प्रदाय का विशिष्टाद्वैत है। इस प्रकार तत्त्व दो हैं, परन्तु आश्चर्य है-कहलाते हैं दोनों 'एक'। ऐसा क्यों? इसका उत्तर अपने वस्त्र से पूंछिए। वस्त्र में कपड़ा है, सूत है, रूई है, कपास है, मिट्टी है, जल है, तेज है, वायु है, आकाश है, प्राण है, मन है, विज्ञान है, आनन्द है, अनन्त (परात्पर) है। वस्त्र में इतनी चीजें, फिर भी वस्त्र एक कहलावे, ऐसा क्यों? बस जो उत्तर इस 'क्यों' का है, वही उत्तर पूर्व के 'क्यों' का है।

अद्वैततत्त्व के वास्तविक मर्म को न समझने वाले कुछ एक दार्शनिकों का कहना है कि "यदि रसवद् बल को भी शाश्वत एवं वस्तुसत् (एकपदार्थ) मानलिया जायगा तो अद्वैत का समूल विनाश होजायगा। अतः नाम रूप कर्मात्मक विश्व को सर्वथा मिथ्या ही समझना चाहिए। केवल रसतत्व सत्य है। और सारा प्रपञ्च मायिक है, मिथ्या है"। इस प्रकार—'अनृतं द्वे तु मायिके' कहते हुए नामरूपात्मक विश्व को असत्य मानने वाले— "असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्" (गी० १६ अ० ८ श्लो०) भगवान् के इस कथन के अनुसार अनीश्वरवादी कल्पित अद्वैतवाद की रक्षा के व्याज से इस बल की शाश्वतता पर प्रहार करना चाहते हैं। उनके प्रति हमारा यही कहना है कि थोड़ी देर के लिए अभ्युपगमवाद से हम अद्वैतरक्षा के लिए कर्ममय विश्व को आपके कथनानुसार मिथ्या मान लेते हैं। यह मानलेने पर भी बल स्वीकार करने से जो आपत्ति हमारे ऊपर आती है, उस आपत्ति से आप भी नहीं बच सकते। सांसारिक पदार्थों में स्वगत, सजातीय, विजातीय भेद से तीन प्रकार के भेद

हुआ करते हैं। अश्व और मनुष्य का भेद विजातीय भेद है। मनुष्य-मनुष्य का भेद सजातीय भेद है। एक ही मनुष्यशरीर में कान-नाक-मुख हाथ-पैर आदि शरीरावयवों का पारस्परिक भेद "स्वगत" भेद है। ब्रह्मतत्व इन तीनों भेदों से पृथक् माना जाता है, जैसा कि-"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। विजातीय भेद को हटाने के लिए 'एकम्' कहा है, सजातीय भेद को हटाने के लिए 'एव' कहा है, एवं स्वगत भेद की व्यावृत्ति के लिए 'अद्वितीयम्' कहना पड़ा है। इस पर हमारा यह कहना है कि हम उसे सजातीय-विजातीयभेदशून्य तो मानते हैं, परन्तु आपके माने हुए अद्वैतब्रह्म के स्वरूपानुसार उसे स्वगतभेद शून्य नहीं माना जासकता। कारण स्पष्ट है। "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" के अनुसार उसमें सत्ता-चेतना-आनन्द यह तीन पर्व स्वतःसिद्ध हैं। अस्ति (सत्ता), भाति (चेतना), प्रिय (आनन्द) यह तीन पर्व आपके ही माने हुए हैं। उस एक ब्रह्म का तीन तरह से भान होरहा है। क्या भातिमूलक भेद अभेद का प्रतिबन्धक नहीं है? यदि हां तो इस विप्रतिपत्ति को हटाने का आप के पास क्या उपाय है? यही सत्तादृष्टि। उक्त विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए आप कहते हैं कि-"यद्यपि ब्रह्मतत्त्व सत्ता-चेतना-आनन्द रूप से तीन तरह से भासित होता है, परन्तु सत्ता तीनों की एक है। भातिभेद द्वैत का कारण नहीं है, अपि तु सत्ताभेद द्वैत का कारण है। ऐसी अवस्था में सत्ताभेदमूलक स्वगतभेद का प्रकृत में समावेश नहीं होसकता"। क्या यह उत्तर (हम नाम रूप को मानते हुए) नहीं देसकते? अवश्य देसकते हैं। वस्त्र की भाति होती है, सत्ता एक है। पूर्वोक्त वस्त्रोदाहरण पर ध्यान दीजिए। मन प्राण बना है, प्राण आकाश बना है, आकाश वायु, वायु अग्नि, अग्नि जल, जल मिट्टी, मिट्टी कपास, कपास रुई, रुई सूत, सूत कपड़ा, एवं कपड़े से वस्त्र बना है। प्रतिसंचरक्रम का आश्रय लेते हुए यदि आप ग्रन्थिबन्धन तोड़ते जांयगे तो उक्त सब पदार्थ आप एक ही वस्त्र में प्रत्यक्ष देख लेंगे। इन सब अनेक भातियों के रहने पर भी—"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" के अनुसार पूर्वपूर्व कारण सत्ता ही उत्तरोत्तर कार्य में प्रतिष्ठित होती है। इस एक सत्ताभाव से अनेक भातियों के (प्रतीतियों के) रहने पर भी

अब एक कहलाता है। यही अवस्था यहां है। बलतत्त्व अनेकरूप से प्रतीत हो रहा है साथ ही में उपाधिभेद से सत्ताभाव का भी पार्थक्य प्रतीत हो रहा है, परन्तु परमार्थतः सत्तारस एक है। अतः नामरूपप्रवर्त्तक बलपदार्थ को मानलेने से अद्वैततत्त्व में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। ऐसी अवस्था में कल्पित अद्वैतवाद की रक्षा में व्यस्त होकर नामरूपात्मक विश्व को मिथ्या मानना सर्वथा मिथ्या है। " अनृते द्वे तु मायिके " " ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या " यह प्रमाण किस शास्त्र के हैं, यह पता न लगा। सम्पूर्ण वेदवाङ्मय में गीता में, वेदान्तसूत्रों में कहीं भी विश्व को मिथ्या नहीं बतलाया है। विश्व को मायिक अवश्य बतलाया है, परन्तु माया-बल मिथ्या है-यह किस आधार पर मान लिया गया, यह समझ में न आया। यदि आप बुरा न मानें तो हमें यह कहलेने दीजिए कि भारतवर्ष का उन्नति का समूल विनाश यदि किसी ने किया है तो वह यही कल्पित जगन्मिथ्यावाद है। "संसार मिथ्या है–आत्मा सत्य है, सांसारिक कर्म बन्धन के कारण हैं" इन अनुचित एवं अशास्त्रीय भावनाओं ने कर्मण्य भारतवर्ष को सर्वथा अकर्मण्य बना डाला है। पाठकों को हम यह विश्वास दिलादेते हैं कि आप के शास्त्रों में कहीं भी जगत् को मिथ्या नहीं बतलाया गया है, अपि तु यह विश्व को ब्रह्म की विभूति मान रहा है।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" के अनुसार विश्व का मूलप्रभव ब्रह्म सत्ता चेतना–आनन्दलक्षण बनता हुआ 'सत्य' है। इधर— ब्रह्मैवेदं सर्वम्' यह श्रुति सत्यब्रह्म के कार्यभूत विश्व को 'ब्रह्म' मान रही है। एक सत्यपूत महर्षि की कृति जब सत्य मानी जाती है तो सत्यमूर्त्ति ब्रह्म-की कृतिरूप विश्व को कैसे मिथ्या माना जासकता है। कारण के गुण ही तो कार्य के आरम्भक (स्वरूपसम्पादक) बनते हैं। जब कारण सत्य है तो कार्य कैसे मिथ्या होसकता है। 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते' (गीता १० अ. ८ श्लो.) के अनुसार सत्यमूर्त्ति अव्यय से सारा विश्व बना है। अव्यक्त ब्रह्म ही व्यक्तरूप में आकर विश्व कहलाने लग गया है। ऐसा विश्व मिथ्या होगा–यह कौन विश्वास करेगा ? ममवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' (गीता१५अ.७श्लो.) 'एकांशेन स्थितं सर्वम्' 'त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादो

व्येदाभवत् पुनः' 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्' 'एकं वा इदं विबभूव सर्वम्' 'तमेकं सन्तं बहुधा वदन्ति' इत्यादि श्रुतिस्मृतिएं जब स्पष्ट शब्दों में ब्रह्मकारणतावाद को पुष्ट करतीं हुईं विश्व को ब्रह्म की विभूति मान रहीं हैं तो ऐसी अवस्था में विश्व को मिथ्या मानना क्या निरी कल्पना नहीं है। अपि च सृष्टि होती है प्रजापति से। प्रजापति को सृष्टिकामना से तपश्चर्या करनी पड़ती है। उस की चिरकाल की तपश्चर्या से विश्व उत्पन्न हुआ है, जैसा कि -'प्रजापतिर्वा इदमग्र एक-आसीत्। सोऽकामयत बहुस्स्यां प्रजायेय, भूमानं गच्छेयं, स तपोऽतप्यत' (जै० उ० १।४६।१) इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट है। साधारण मनुष्य परिश्रम करके यदि किसी वस्तु का निर्माण करता है तो लोक में उस का आदर होता है। ऐसी स्थिति में जगन्नियन्ता ने तपश्चर्या से जिस विश्व का निर्माण किया उसे एक हेला से मिथ्या बतला देना सचमुच अपराध है, अपराध ही नहीं अक्षम्य अपराध है। अपिच-'अहं ब्रह्मास्मि' 'योऽहंसोऽसौ' इत्यादि रूप से उपनिषच्छ्रुतिएं अहं पदार्थ को 'ब्रह्म' मानतीं हैं। "उभयं हैतदग्रे प्रजापतिरास-मर्त्यं चैवामृतञ्च" (शत १०। कां.।१अ.।४ब्रा.।१कं.) इत्यादि ब्राह्मणश्रुति उस अहं प्रजापति को अमृत-मृत्युमय मान रही है। श्रौती उपनिषत् के आधार पर चलनेवाली स्मार्त्ती उपनिषत् (गीता) 'अमृतं चैव मृत्युश्च सद-सच्चाहमर्जुन' इत्यादि रूपसे स्पष्ट शब्दों में ब्रह्म को उभयधर्मावच्छिन्न बतला रही है। ऐसी स्थिति में ब्रह्म के मृत्युप्रधान विश्व को मिथ्या मानना साहस नहीं तो और क्या है। जिस नामरूपमय विश्व को आप मिथ्या मान रहे हैं, देखिये श्रुति उसी के लिए अपने क्या विचार प्रकट करती है—

> "त्रयं वाऽइदं नाम रूपं कर्म। तेषां नाम्नां वागित्येतदेषामुक्थम्। अतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्ति। एतदेषां साम, एतद्धि सर्वैर्नामभिः समम्। एतदेषां ब्रह्म, एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्त्ति। अथ रूपाणां चक्षुः.................. । अथ कर्मणामात्मा (शरीरम्) .... । तदेतत् त्रयं सदेकमयमात्मा। आत्मा-उ एकः सन्नेतत्त्रयम्। तदेतदमृतं

सत्येन छन्नम् । प्राणो वाऽअमृतम् । "नामरूपे सत्यम्" । ताभ्या-
मयं प्राणश्छन्नः" —

(शत० १४का० । ३प्र० । ४ब्रा० । ४ब्रा०) इति ।

जिसप्रकार हमनें स्पष्ट शब्दों में 'नामरूपे सत्यम्' इस रूपसे स्वयं वेद में नाम रूपा त्मक विश्व की सत्यता बतलाई है, क्या विश्व को मिथ्या सिद्ध करनें वाला कोई वाक्य आप बतला सकेंगे? नहीं तो क्यों आपके काल्पनिक मत का आदर किया जाय। 'असत्यम-प्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्' के अनुसार क्यों नहीं आपको 'अनीश्वरवादी' माना जाय। रामानुज सम्प्रदाय के अनुसार क्यों नहीं आपको 'प्रच्छन्नबौद्ध' कहा जाय। समस्या बड़ी जटिल है। आज जगन्मिथ्यात्ववाद पर प्रायः सभी विद्वानों का दृढ अभिनिवेश है। उनके इस मन्तव्य के विरोध में कुछ भी कहना आपत्ति को निमन्त्रण देना है। फिर भी सत्य सिद्धान्त सत्य ही रहेगा। ऊपर की पङ्क्तियों से केवल क्षोभ प्रकट कर देना दूसरी बात है, एवं शास्त्रीय विचार से निर्णय पर पहुंचना दूसरी बात है। हम आज स्पष्ट शब्दों में आर्यावर्त्त के सभी विद्वानों को यह बतला देना चाहते हैं कि जगन्मिथ्यात्ववाद अशास्त्रीय है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' वाक्य का शास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रस्थानत्रयी का कोई भी वाक्य जगत् को मिथ्या नहीं बतला रहा। विश्व के लिए 'अनृत' शब्द अवश्य आया है। परन्तु इस अनृत शब्द का अर्थ भी मिथ्या नहीं है, जैसा कि विचार उपस्थित होनें पर प्रकट होगा। नीरक्षीरविवेकियों के सम्मुख कुछ एक वचन उपस्थित कर दिये जाते हैं। यह वचन **विश्व ईश्वर की कृति है—ईश्वर ही अपनें अंशरूप से विश्व बना है। अतः तदंशभूत विश्व तद्रूप ही है'** इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते हैं। विद्वानों का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वे इन वचनों का समन्वय कर चिरकाल से चली आनें वाली जगन्मिथ्यात्वविषयिणी मिथ्या भ्रान्ति का निराकरण कर देश को निष्काम कर्मयोग में प्रवृत्त करें।

१—" सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम् " (तै० उ० १)।

२—" स एवाधस्तात्, स उपरिष्टात्, स पश्चात्, स पुरस्तात्, स दक्षिणतः, स उत्तरतः, स एवेद सर्वम्—(ब्रह्मैवेदं सर्वम्) " (छां. उ. ७।२५।१)।

३—" पुरुष एवेदं सर्वम्–यद्भूतं यच्च भाव्यम् " (यजुः सं० ३१ अ० । २ मं०)।

४—" एकं वा इदं विबभूव सर्वम् "

५—" प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिता बभूव " (यजुः १०।२०)।

६—" एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः " , ऋ.सं. १।१६४।४६)।

७—" ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत्, यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः " (तै.ब्रा.२।८।९।६)

८—" तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते तस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे " (कठ.२।६।१)

९—" यो देवानां प्रभवोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः " (श्वेता. उप. ३।४)।

१०—" षोडशकलः प्रजापतिः " (शत० ७।२।२।१७)।

११—" एष ह प्रजानां प्रजापतिर्यद्विश्वजित् " (गो० पू ५।१०)।

१२—" प्रजापति ह्येवेदं सर्वमनु प्रजायते " (श० ४।५।५।१३)।

१३—" प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत् । तेषां तप्यमानाना रसान् प्रावृहत्—अग्निं पृथिव्याः, वायुमन्तरिक्षात्, आदित्यं दिवः " (छां० उ० ४।१७।१)।

१४—" प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा " (श० ७।४।२।५)।

१५—" इमे लोकाः प्रजापतिः " (श० ७।५।१।२७)।

१६—" द्यावापृथिवी हि प्रजापतिः " (श० ५।१।५।२६)।

१७—" सं बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः " (ऋक् १०।८१।३)।

१८—" सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः " (श० ५।१।१।४)।

१९—" त्रिपादूर्ध्वं उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः " (यजुः ३१।४)।

२०—" प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च " (......)

२१—" य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः " (श्वे. उ. ३।१)।

२२–" क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः " (श्वे० १।१०) ।

२३–" य एको वर्णो बहुधा शक्तियोगात् वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति " (श्वे० ४ । १) ।

२४–" अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते " (गी० पृ० ८) ।

२५–" ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः " (गी०) ।

२६–' मत्तः परतरं नान्यद् किञ्चिदस्ति धनंजय " (गी० ७ । ७) ।

२७–" विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् " (गी० १० । ४२) ।

२८–" नामरूपे सत्यम् " (श० १४ कां० । ३ । ४) ।

२९–" ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत् सत्यं, स आत्मा " (छां० उ० ५।८।७) ।

३०–" तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्योऽन्नं, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः । + + + + + अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते याः काश्च पृथिवीं श्रिताः । सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति, येऽन्नं ब्रह्मोपासते । अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्' (तै० उ० १।१–२–) ।

३१–" यद्वै किञ्च प्राणि स प्रजापतिः" (शत० ११ । ६ । ३ ।) ।

३२–"मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यः" (बृ० आ० ५ अ० ६ ब्रा०) ।

३३–"अन्नमयं हि सोम्य मनः" (छां० उ० ६।७।१।) ।

३४–"षोडशकलः सोम्य पुरुषः" (छां० उ० ६।७।१) ।

३५–'रूपं वै प्रजापतिः + + + । नाम वै प्रजापतिः" (तै० ब्रा० २।२।७।१।) ।

३६–"प्रजापतिः प्रजा असृजत । स ऊर्ध्वेभ्य एव प्राणेभ्यो देवानसृजत, येऽवाञ्चप्राणास्तेभ्यो मर्त्याः प्रजाः + + + तस्य ह प्रजापतेरर्धमेव मर्त्यमासीदर्धममृतम्" (शत० १०।१।२।१–२–) ।

३७–'स आस्येनैव देवानसृजत, तस्मै स ससृजानाय दिवेवास । अथ योऽयमवाङ्प्राणः, तेनासुरानसृजत । तस्मै ससृजानाय तम इवास" शत० ११।१।६।७–८।) ।

३८–"एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः । स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥ (श्वे० उ० २।१६) ।

उक्त सत्यमीमांसा से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि रस बलरूप विद्या-कर्म दोनों आत्मा के स्वरूपधर्म हैं। अभिन्नसत्ताभाव के कारण दोनों एकतत्त्व हैं। विद्याभाग स्थितिमूर्त्ति होनें से सर्वथा कम्प रहित है। इसी विद्याभाग को लक्ष्य में रखकर श्रुतिनें **'अनेजत्'** कहा है। कर्मभाग गतिरूप होनें से **'एजत्'** है। इन दोनों विरुद्धभावों से द्वैत का भ्रम न होजाय, अतः एकत्वव्यवहारमूला उसी सत्तातत्त्व की ओर लक्ष्य रख कर श्रुति ने **'एकम्'** कहा है। अनेजत्-और एजत् दोनों उस एक के उदर में समाविष्ट हैं। मध्यस्थ **'एकम्'** दोनों का सम्बन्ध-सूत्र है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर **"अनेजत्—एकम्—मनसो जवीयः"** यह क्रम रक्खा गया है। इस प्रकार स्पष्ट ही इस मन्त्र का विद्याकर्ममयाव्ययप्रतिपादकत्व सिद्ध होजाता है। यदि इस मन्त्र में 'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति' यह वाक्य न होता तो अवश्यमेव प्रथम प्रकरणवत् यह द्वितीय प्रकरण भी विश्वोपहित (वेदोपहित) शुद्ध अव्यय का ही निरूपक मान लिया जाता। परन्तु उक्त चतुर्थ चरण ही उस के वेदयुक्त सोपाधिक भाव की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है।

उस स्थितिगतिमय विलक्षण तत्त्व में मातरिश्वा नाम का तत्त्व विशेष अप् का आधान करता है। आधान का अर्थ है आहिति। एक आलम्बन पर दूसरी वस्तु का रक्खा जाना ही आहिति किंवा आधान है। वैदिक परिभाषानुसार जिस आलम्बन पर वस्तु का आधान होता है, जिस पर वस्तु आहित होती है, वह अत्ता (भोक्ता) बनता हुआ **'अन्नाद'** नाम से व्यवहृत होता है, एवं आहित होनेवाला पदार्थ **'आहुति'** कहलाता है। आहिति शब्द ही परोक्षभाषा में आहुति है, यही अन्न है। उदर अन्नाद है, वहां आहित अन्न अन्न है। दोनों का समन्वित-रूप ही यज्ञ कहलाता है। उदाहरणार्थ सूर्य अन्नाद है, उस पर आहित, अतएव आहिति नाम से प्रसिद्ध चन्द्रमा (सोम) आहुति है। यही प्राकृतिक (आधिदैविक) नित्ययज्ञ है। इसी आधानात्मक यज्ञ का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है—

> 'स वै यः सोऽग्निरेव सः। तस्मिन् यत्किञ्चाभ्यादधति-आहितय एवास्य ताः। आहितयो वै ता आहुतय इत्याचक्षते परोक्षम्। आदित्यो

वा ग्रत्ता, तस्य चन्द्रमा (सोमः) एवाहितयः, चन्द्रमसं ह्यादित्ये आदधाति"
(शत० १०।६।३।१-२)

प्रकृत मन्त्रभाग यही यज्ञक्रम बतला रहा है । प्राचीन भाष्य के अनुसार अप् का अर्थ है कर्म, मातरिश्वा का अर्थ है सूत्रवायु । सूत्रवायु उस अनेजदेजत् नाम के परमात्मतत्व में कर्म का आधान करता है । वैज्ञानिकदृष्टि से अप् आहुति द्रव्य है, मातरिश्वा भी एक स्वतन्त्र तत्व है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा । इस अन्नाहुति से यह अव्ययपुरुष यज्ञपुरुषरूप में परिणत होजाता है । पुरुष जबतक यज्ञ का आश्रय नहीं लेता, तबतक प्रजोत्पत्ति नहीं होसकती । कारण 'सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा ' (गी. ३।१०) के अनुसार प्रजासृष्टि या मूल उपक्रम यज्ञ प्रजापति ही है ।

अप् की आहुति होती है, इससे यज्ञस्वरूप निष्पन्न होता है । उधर हमारा शुद्ध अव्ययपुरुष भोक्तृभोग्यलक्षण अन्नअन्नादात्मक यज्ञ से सर्वथा बहिर्भूत है । क्योंकि यज्ञ का पहिला मूल आपोमय परमेष्ठी है । आपसे ही यज्ञ होता है । यज्ञमूर्त्ति परमेष्ठी का अप् नाम का पुरंजन प्राणमय वेदपुरंजन से उत्पन्न होता है । स्वयम्भू का प्राण ही 'ब्रह्मनिश्वसित' वेद है । 'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात' के अनुसार इसी वेदवाक् से पानी उत्पन्न होता है । ऐसी अवस्था में वेद हो तब अप् तत्व का विकाश हो, अप् हो तब मातरिश्वा द्वारा उस अव्ययब्रह्म पर अप् का आधान हो । अतः मानना पड़ता है कि मन्त्रगत अव्यय ब्रह्म वेदमय ही है । वेदमूर्त्ति अव्यय पर ही अन्नाहुति सम्भव है । वेदमय अव्ययब्रह्म हो, दूसरे शब्दों में अव्ययावच्छिन्न वेद ही इस मन्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है । अव्यय स्वयं विद्याकर्ममय है । अतएव इस के धास्मच्छद के पञ्चीकृत प्राणभाग से प्रकट होनेवाला वेद भी अवश्य ही विद्याकर्ममय है । वेद में जो विद्या-कर्म का भाग है, वह अव्यय के विद्या-कर्म का ही अनुग्रह है । वेद क्या पदार्थ है ! वह अपौरुषेय है, अथवा पौरुषेय ! आदि प्रश्नों के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है । इन सब विषयों का विवेचन भाष्यभूमिका में किया जाचुका है । अतः प्रकृत में मन्त्रार्थ से सम्बन्ध रखने वाले वेदपदार्थ का ही स्वरूप पाठकों के सामने रक्खा जाता है ।

इति-विषयोपक्रमः



मन्त्रार्थसम्बन्धिनी-त्रयीवेदनिरुक्तिः



पदार्थज्ञान का साधक तत्त्व वेद है। "अयं घटः" "अयं पटः" इत्यादिरूप से जिसके द्वारा पदार्थ की उपलब्धि होती है, वह उपलब्धि ही वेद है, जैसा कि पूर्व की वेदनिरुक्ति में विस्तार से बतलाया जाचुका है। वेद का जन्म किंवा आविर्भाव आत्मक्षर से होता है। आत्मक्षर की (मर्त्य) ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम यह पांच कलाएं हैं। सृष्टिनिर्माण करना ब्रह्मा का काम है। परन्तु जब तक यह ब्रह्मतत्त्व प्राणमय वेदद्वार को अपनी प्रतिष्ठा नहीं बना लेता, तब तक यह सृष्टिनिर्माण में सर्वथा असमर्थ रहता है। सृष्टिनिर्माता है ब्रह्मा, परन्तु साधन (उपादान) है वेद। अतएव मन की इच्छा से ब्रह्मा से सर्व प्रथम वेद का ही प्रादुर्भाव होता है। उस प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होकर ब्रह्मा विश्व निर्माण करता है, जैसा कि पूर्व की विश्वनिरुक्ति में विस्तार से बतलाया जाचुका है।

वेदग्रन्थों के भक्तों को यह सुविदित है कि वेदतत्त्व ऋक्, यजुः, साम, अथर्व भेद से चार भागों में विभक्त है। चतुर्धा विभक्त वेदतत्त्व विज्ञानदृष्टि से अग्नि-सोम भेद से दो भागों में विभक्त है। अग्निवेद पहिला वेद है, सोमवेद दूसरा वेद है। वह तत्त्व जो दाहक होता हुआ केन्द्र से निकलकर विविध अवस्थाओं में परिणत होता हुआ, उत्तरोत्तर विशकलित होता रहता है, वही अग्रगामी होने से 'अग्नि' कहलाता है। आगे चलना, आगे बढ़ना इसका स्वाभाविक धर्म है। परोक्षभाषानुसार यह अग्नितत्त्व ही 'अग्नि' नाम से व्यवहृत होता है- (देखिए शत० ६ कां०।१ प्र०।१ अ ।१ ब्रा०।११ कं०)। वह तत्त्व जो दाह्य होता हुआ प्रधि (परिधि) से केन्द्र की ओर आता हुआ प्रधि की ओर जाते हुए दाहक अग्नि में आहुत होकर अग्नि

* अग्निः कस्मात् अग्रणीर्भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते, अङ्गं नयति सन्नममानः, ... न क्नोपयति, न स्नेहयति"

[या० नि० ५ अ० दै० कां० ३-४-५-]।

को स्वस्वरूप से सुरक्षित रखता है, वही सुत (आहुत) होने से 'सूयते' इस निर्वचन के अनुसार सोम नाम से प्रसिद्ध है। सोम स्नेहतत्त्व है, अग्नि तेजतत्त्व है। स्नेहतत्त्व की प्रतिष्ठा स्थितितत्त्व है, तेजतत्त्व की प्रतिष्ठा गतितत्त्व है। स्थिति-गति ही आगे जाकर स्नेह-तेज रूप में परिणत होजाती है। प्रत्येक पदार्थ स्थिति-गति-स्नेह-तेज इन चारों की समष्टिमात्र है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा। संसार में आप जितनीं भी मूर्त्तिएं देख रहे हैं, वे सब अग्निमयीं हैं। अग्नि ही मूर्ति का निर्माण करता है। दूसरे शब्दों में अग्नि ही वस्तु का स्वरूप है। वस्तु (पदार्थ) 'गुणाकृतो द्रव्यम्' इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार कर्म का पुद्गल है। यह कर्म कर्म एवं क्रिया भेद से दो भागों में विभक्त है। एक एक क्रिया क्रिया कहलाती है, ऐसी अनेक क्रियाओं की समष्टि 'कर्म' नाम से व्यवहृत होती है। अनेक क्रियाओं के संघात से एक कर्म (काम) पूरा होता है। उदाहरणार्थ भोजन निर्माण एक कर्म है। इस कर्म की सिद्धि के लिए ईंधन-अग्नि-पानी-आटा-नमक-फूत्कार आदि अनन्त क्रियाएं करनी पड़तीं हैं। 'रसोई तैयार होगई' यह एक कर्म संपन्न होगया। इस कर्मसंपत्ति के लिये तदवयवभूत अवान्तर कितने ही कर्म करने पड़े। बस महाकर्म सिद्धि के लिए क्रियमाण अवान्तर कर्म क्रिया नामसे, एवं अवान्तर कर्मो से निष्पन्न कर्म कर्म नाम से व्यवहृत किया जाता है। एक ही कर्म की दो अवस्थाएं होजातीं हैं। इसी क्रियासंतानरहस्य को लक्ष्य में रख कर अभियुक्त कहते हैं—

> गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम् ।
> बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते ॥ (वाक्यपदी)

कर्म की क्रिया अवस्था क्षोभयुक्ता है, कर्मावस्था शान्तवत् है। हल-चल क्रिया है। स्थिति कर्म है। स्वस्थान पर स्थिर रहते हुए चलना हिलना है, इसे ही कम्पन कहते हैं। स्वदेश का परित्याग करते हुए आगे बढ़ना चलना है, यही गति है। इस प्रकार क्रियाभाव कम्पन-और गति दो भावोंमें परिणत रहता है। इसी अभिप्राय से इस का 'हल-चल' शब्द से अभिनय किया जाता है। कहना यह है कि वस्तुमात्र में एक स्थिरभाव है, एक चलभाव है।

निरन्तर उस पदार्थ में से उसके परमाणु निकला करते हैं, इसी (परमाणुविनिर्गमा) अवस्था का नाम क्रिया है । वस्तुपिण्ड कर्म है । शरीर पर दृष्टि डालिये । शरीर अग्निपिण्ड है । आप शरीर को जहां छूते हैं, गरम पाते हैं । यह अग्नि के प्रत्यक्ष दर्शन हैं । इस अग्निमूर्त्ति शरीर से प्राणाग्नि का निरन्तर विस्रंसन होता रहता है । इन्द्रियजन्य परिश्रम, रोमकूप आदि से प्राणाग्नि खर्च होता रहता है । इसी कमी को पूरा करने के लिये साय प्रात: अन्नाहुति (भोजन) की आवश्यकता होती है । शरीरपिण्ड अग्निमय है, जो वस्तु खर्च हो रही है वह भी अग्नि है । इस प्रकार पिण्डरूप कर्म विस्रंसनलक्षण क्रिया दोनों का अग्निमयत्व सिद्ध होजाता है । वस्तुपिण्ड कर्म है, यह भी अग्नि है । वस्तुपिण्ड में होने वाला व्यापार क्रिया है, यह भी अग्नि ही है । इस प्रकार संसार में जितने भी कर्म हैं, उन सब का अग्निमयत्व मान लेना पड़ता है । अग्नि की इसी कर्मव्यापकता को लक्ष्य में रखकर "विश्वानि (सर्वाणि) कर्म्माण्ययमग्निः" (शत० ब्रा० ६ का० । ५ अ० । १ ब्रा० । ४२ क०) यह कहा जाता है । हम अमुक वस्तु देख रहे हैं, इस वाक्य का 'देखना' कर्म से ही तो सम्बन्ध रखता है । परिवर्त्तनरूपाक्रिया, एवं पुद्गलावस्थापन्न कर्म (वस्तुपिण्ड) ही तो दृष्टि के विषय बनते हैं । दृष्टि विषयक सारे कर्म अग्निरूप हैं, दूसरे शब्दों में इन कर्मों का प्रवर्त्तक, किंवा स्वरूप सम्पादक अग्नि ही है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर निर्घण्टु (निघन्टु) शास्त्र कहता है—

"यत्त्व किञ्चिद्दार्ष्टिविषयकमग्निकर्म्मैव तत्" (या० नि० दे० का० ७।८।३)

सर्वकर्मप्रवर्त्तक, सर्वकर्म्ममूर्त्ति इस अग्नि की प्राण-भूत भेद से दो अवस्थाएं हैं । प्राणाग्नि अमृताग्नि है, यही देवता है । भूताग्नि मर्त्याग्नि है, यही भूत है । वस्तुपिण्ड भौतिकाग्नि है, पिण्डगत निराकार प्राणाग्नि देवता है । प्राणाग्नि क्रिया है भूताग्नि कर्म है । इस प्रकार संसार के सारे भूत, एवं संपूर्ण देवता "सर्वाणि ह्येष भूतानि, सर्वान् देवान् गर्भो बिभर्त्ति, यो- ऽग्निं निभर्त्ति" (शत० ब्रा० ६ का० । ५ अ० । १ ब्रा० । ६३ क०) के अनुसार अग्निमय ही हैं । इस अन्नादाग्नि की सत्ता सोमाहुति पर निर्भर है । जब तक सोमाहुति होती रहती है तभी तक अग्नि स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है । भूताग्निमय प्राणाग्नि ही मूर्त्तिरूप में परिणत हुआ है । परन्तु विश्वास कीजिए जब तक इस में सोम की आहुति नहीं होगी, तब तक वह

मूर्त्ति कभी प्रतिष्ठित न रहेगी। कारण—अग्नि तेजोमय होता हुआ विशकलनधर्मा है। यह ठहरना जानता ही नहीं। उसमें निरन्तर गति होती रहती है। वह मूर्त्ति का निर्माण नहीं करता, अपि तु उस के स्वरूप को विशकलित करता है। परन्तु स्नेहगुणक सोम इस में आहुत होकर इस की विशकलनशक्ति का स्तम्भन कर देता है। इस सोमसम्बन्ध से अग्नि को बाध्य होकर मूर्त्तिरूप में परिणत रहना पड़ता है। यह सोम अग्नि में आहुत होकर अग्निमय बनकर ही मूर्त्ति सत्ता का कारण बनता है. इसी आधार पर अग्नि को मूर्त्ति का अधिष्ठाता मानलिया जाता है। परन्तु वस्तुतः यह मूर्त्तिभाव सोम की कृपा पर ही निर्भर है। जिस प्रकार अग्नि 'प्राण' कह लाता है, एवमेव सोमतत्त्व 'रयि' नाम से व्यवहृत होता है। रयि (सोम) ही मूर्त्ति बनता है, इसी आधार पर—'तस्मान्मूर्त्तिरेव रयिः' (प्रश्नोपनिषत् १ प्र० ५ क०) यह कहा जाता है। सोमतत्त्व आहुति द्रव्य है, अत एव भोक्ता अग्नि की अपेक्षा इसका स्थान (दर्जा) नीचा माना जाता है। यह सब कुछ होते हुए भी सोम अग्नि का अभिन्न मित्र है, अन्तरंग सखा है। अपने छोटे दर्जे के इसी सोम सखा के कारण प्रज्वलित होकर यह अग्नि ही वेदत्रयी का प्रभव बनता है, जैसा कि मन्त्रश्रुति कहती है—

अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते, अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥
(ऋक् सं० ५।४४।१५)

उक्त अग्नि-सोम के निरूपण से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि सम्पूर्ण भौतिक विश्व में अग्नि-सोम का साम्राज्य है, जैसा कि 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इत्यादि से स्पष्ट है। स्वयम्भू-परमेष्ठी आदि विश्वके पांच पर्व हैं। पांचों में स्वयम्भू सत्याग्निमय, सूर्य देवाग्निमय, पृथिवी भूताग्निमयी है। परमेष्ठी और चन्द्रमा सोममय हैं, जैसा कि शुक्रनिरुक्ति में विस्तार से बतलाया जाचुका है। इस दृष्टि से भी विश्व का अग्निसोममयत्व सिद्ध होजाता है। इनमें अग्नि-भेद वेदत्रयी है, सोमवेद चौथा अथर्ववेद है। अग्नि की अग्नि-वायु-आदित्य यह तीन अवस्थाएं हैं, अतएव अग्निवेद ऋक्-यजुः-साम भेद से तीन भागों में विभक्त होजाता है।

सोमतत्त्व दिक्सोम (निरायतन सोम) भास्वर सोम (सायतन सोम) भेद से दो भागो में विभक्त है। अतएव सोमवेद–घोराङ्गिरा अथर्वाङ्गिरा भेद से दो भागो में विभक्त होजाता है। दोनो की समष्टि अथर्ववेद है। त्रयीवेद की प्रतिष्ठा अग्निमूर्त्ति ब्रह्मा है, दूसरे शब्दो में त्रयीवेद पिता पर प्रतिष्ठित है, एवं सोमवेद ब्रह्मा के ज्येष्ठपुत्र अथर्वा पर प्रतिष्ठित है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा। सोमवेद को थोड़ी देर के लिये छोड़ दीजिये, अग्नि वेद पर दृष्टि डालिए।

यह अग्निवेद आत्मा प्रतिष्ठा, ज्योति, भेद से तीन भागों में विभक्त है। आत्मवेद यजुर्वेद है प्रतिष्ठावेद ऋग्वेद है एवं ज्योतिर्वेद सामवेद है। यह तीनों ही वेद पूर्वप्रतिपादित मन–प्राण–वाक् के त्रिवृत्करण से त्रयीभाव से युक्त हैं। तीनों में से सर्वप्रथम सर्वप्रधान आत्मरूप यजुर्वेद को ही लीजिए।

१–आत्मवेदः (यजुर्वेदः– ऋग्यजुःसाममयः)

'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः' के अनुसार आत्मा मन-प्राण-वाङ्मय है। इसी का नाम विद्याभित अव्ययात्मा (कर्मात्मा) है। आत्मा की इन तीनो कलाओं से क्रमश रूप-कर्म–नाम इन तीन मर्त्य कलाओं का उदय होता है। मन रूपमात्र का उक्थ है। मन ही विषयरूपाकाराकारित बनता है दूसरे शब्दों में सारे रूप मन से ही उठते हैं, अतएव हम मन को रूपों का उक्थ (प्रभवस्थान) मानने के लिए तय्यार हैं। मन ही रूपों को धारण करता है विषयाकार मन पर ही प्रतिष्ठित रहता है अतएव इसे सब रूपों का ब्रह्म (बिभर्ति रूपाणि) कहा जासकता है। अश्व–मनुष्य–घट–पट आदि सब के रूप परस्पर में सर्वथा भिन्न हैं। परन्तु इन भिन्नों में मन अभिन्न रूप से व्याप्त है, सब रूपों में समान है, सम है, अत मनको ही रूपों का साम (समानभूमि) कहा जासकता है। इस प्रकार 'यतो उत्तिष्ठन्ति सर्वाणि रूपाणि, बिभर्त्ति यत् सर्वाणि रूपाणि, सम यद् सर्वेषु भूतेषु' इस निर्वचन प्रक्रिया के अनुसार हम आत्मा की मनोकला को रूपों का उक्थ–ब्रह्म–साम लक्षण आत्मा मानने के लिए तय्यार हैं। इसी प्रकार आत्मा की प्राणकला कर्मों की उक्थ

ब्रह्म-साम है, वाक्कला नामों का उक्थ-ब्रह्म-साम है । नाम-रूप-कर्म भेद से वह एक आत्मतत्त्व तीन भागों में विभक्त होरहा है । तीनों मिलकर एक आत्मा है । इस आत्मा की मनोकला में उक्थभाव प्रधान है, ब्रह्म-साम भाव गौण हैं, प्राणकला में ब्रह्मभाव की प्रधानता है, उक्थ-साम गौण हैं, एवं वाक्कला में साम की प्रधानता है, उक्थ ब्रह्म गौण हैं । इस गौणमुख्य भाव के कारण तद्यदन्याय से हम मन को उक्थ कहसकते हैं, प्राण को ब्रह्म कह सकते हैं, एवं वाक् को साम कहसकते हैं । यह उक्थ ऋक् है, ब्रह्म यजु है, साम साम है । इस प्रकार उक्थ-ब्रह्म-साम भेद से आत्मरूप यजुर्वेद में तीनों वेदों का समन्वय होजाता है ।



२—प्रतिष्ठावेदः (ऋग्वेदः—ऋग्यजुःसाममयः)

दूसरा है प्रतिष्ठावेद । इसीका नाम ऋग्वेद है । यह प्रतिष्ठातत्त्व आत्मधृति, भूतधृति, सतोधृति भेद से तीन भागों में विभक्त है । मन-प्राण-वाक् की अव्याकृतावस्था का नाम सत्ता है, यही आत्मा है । प्रत्येक वस्तु पर इस आत्मलक्षण सत्ताब्रह्म का अनुग्रह है । प्रत्येक वस्तु अस्तिभावापन्न है । सूर्य स्वरूप से विद्यमान है, पृथ्वी है, हम हैं, इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ का पदार्थत्व सुरक्षित रखने वाला जो अस्तिभाव है-स्वसत्ता है, इसी का नाम आत्मधृति' (आत्म प्रतिष्ठा-आत्मसत्ता) है । हम (प्रत्येक पदार्थ) मन को धारण करते हैं, प्राण को, एवं वाक् को धारण करते हैं । इसी धृति से हम हैं । 'अहमस्मि' (मैं हूं) यही तो आत्मधृति किंवा स्वधृति है ।

जो वस्तु सत्ताशून्य होती है वह अन्य सत्ता के अनुग्रह से सत्तावत् बन जाती है । उदाहरणार्थ-घट पहले न था, वह असत् था, नास्ति रूप था, अभाव के गर्भ में विलीन था । कुम्भकार मिट्टी में कुलाल द्वारा अपने मनप्राणवाङ्मय आत्मा के आधार पर हस्तप्रयोग से बल डालता है । कुम्भकार के बौद्धजगत् में प्रतिबिम्ब, अतएव तदाकाराकारित (घटाकाराकारित) मन प्राण वाक् की सहायता से दण्ड-चक्र-चीवरादि साधनों द्वारा वह असत् घट

मृत्तिका में स्थित सत्ता को ग्रहण कर सत्तायुक्त बन जाता है। घट में जो सत्ता है, वह मिट्टी से आई हुई है। असत् घट मृत्सत्ता से सत् बन रहा है। इसी सत्ता की अपेक्षा से 'घट उत्पन्न हुआ' यह व्यवहार होता है। अपूर्वसत्ताधारण को ही 'जन्म' कहा जाता है। उत्पन्न वस्तु अपनी प्रकृति (उत्पादक) में ही प्रतिष्ठित रहती है। अतएव इस प्रकृतिसत्ता को 'असतो धृति' कहा जाता है जैसा कि—"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इत्यादि से स्पष्ट है। सत्तारूप से हम आत्मधृति रूप हैं, एवं शरीर असतो धृति रूप है। जीवात्मसत्तारूप आत्मधृति से असत् शरीर सत्तायुक्त बन रहा है। यही दूसरी प्रतिष्ठा है।

तीसरी सतोधृति है। जल भी सत् है, घट भी सत् है। सत् घट में सत् जल भरा हुआ है, यही सतोधृति है। हम भूपृष्ठ पर प्रतिष्ठित हैं, पुस्तक मेज पर रक्खी है। अस्तियुक्त पदार्थ स्वप्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित रहते हुए अन्य प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित हो रहे हैं। महाप्राण अल्पप्राण की प्रतिष्ठा है। अन्नाद अन्न की प्रतिष्ठा है। शरीर वस्त्र की प्रतिष्ठा है। हमारा प्रतिष्ठा घर है, घर की प्रतिष्ठा भूपिण्ड है, भूपिण्ड की प्रतिष्ठा पानी है, पानी की प्रतिष्ठा अग्नि है, अग्नि कि प्रतिष्ठा वायु है, वायु कि प्रतिष्ठा आकाश है, आकाश की प्रतिष्ठा सौम्यप्राण है, प्राण की प्रतिष्ठा मन है, मन की प्रतिष्ठा विज्ञान है, आनन्द सब की प्रतिष्ठा है। इस प्रकार यह प्रतिष्ठा उत्तरोत्तर के सद्भावों को अपने में प्रतिष्ठित रखती है, अतएव हम इसे 'सतोधृति' कहने केलिये तय्यार हैं। इसी को परप्रतिष्ठा भी कहा जासकता है। यही तीसरी प्रतिष्ठा है।

पुरुषप्रतिष्ठा आत्मधृति है, प्रकृतिप्रतिष्ठा असतोधृति है, एवं विकृतिप्रतिष्ठा सतोधृति है। पुरुष ही प्रकृति है, प्रकृति ही व्यक्तावस्था में आकर विकृति कहलाने लगती है। फलत उक्त तीनों प्रतिष्ठाओं का अन्ततोगत्वा—'आत्मविधृति' (आत्मप्रतिष्ठा) पर ही पर्यवसान सिद्ध हो जाता है। तीनों प्रतिष्ठा प्रतिष्ठा हैं। प्रतिष्ठातत्त्व 'ब्रह्म' है। ब्रह्मतत्त्व प्राण है, जैसाकि पूर्व के आत्मवेद में बतलाया जाचुका है। यह वही प्राण है जो सप्तपुरुषपुरुषात्मक ब्रह्मप्रजापति के

तप से प्रकट होता है। "ब्रह्म वै सर्वस्य प्रथमजम" "ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा" के अनुसार ब्रह्माक्षर से समुद्भूत यह प्राणप्रतिष्ठा साक्षात् वेद है। जैसे अपप्रकृतिक अक्षर विष्णु से उत्पन्न होनेवाले भाव लोक कहलाते हैं, एवमेव प्राणप्रकृतिक ब्रह्माक्षर से प्रसूत प्रतिष्ठाभाव वेद नाम से प्रसिद्ध हैं। पूर्वप्रतिपादित इन तीनों धृतियों में आत्मधृति ऋग्वेद है। क्योंकि आगे की सारी प्रतिष्ठाएं आत्मप्रतिष्ठा पर ही प्रतिष्ठित रहतीं हैं। असतोवृति-सतोधृति दोनो का आधार आत्मप्रतिष्ठा है। यजु-और साम ऋक् पर प्रतिष्ठित रहते हैं। अतएव सर्वप्रतिष्ठारूप इस आत्मप्रतिष्ठा को हम अवश्य ही ऋग्वेद कह सकते हैं। प्रस्ताव ऋग्वेद है, ऋक् ही उपक्रम है। आत्मप्रतिष्ठा ही इतर प्रतिष्ठाओं का प्रस्ताव (उपक्रम) स्थान है। असतोवृति यजुर्वेद है। कार्य में कारण सत्ता का योग हो जाना ही असतोवृति है। कारणसत्ता कार्य में आहुत हो जाती है। दोनों का यजन होता है। अतः 'यजनात्' से इस असतोवृति को हम अवश्य ही यजुर्वेद कहने के लिये तय्यार हैं। एवं शेष सतोधृति सामवेद है। साम का 'ऋचा समं मेने' यह लक्षण है। आत्मधृति ऋक् है। अन्य को धारण करने वाली आत्मसत्ता ही सतोधृति है। आत्मधृति ही आगे जाकर सतोधृति बन जाती है। सतोधृति ऋग्रूपा आत्मधृति से समभावापन्न है, अतः इसे सामवेद कहा जासकता है। इस प्रकार ऋग्वेदरूप प्रतिष्ठावेद में प्रतिष्ठात्रयी के कारण ऋक्-यजु-सामात्मिका वेदत्रयी का उपभोग सिद्ध होजाता है।



३-ज्योतिर्वेदः (सामवेदः-ऋग्यजुःसाममयः)

तीसरा है ज्योतिर्वेद। 'सर्वं तेजः सामरूपं शश्वत' के अनुसार ज्योति ही सामवेद है। ज्ञानज्योति, भूतज्योति, सत्यज्योति भेद से ज्योतितत्व तीन भागों में विभक्त है। आत्मज्योति ज्ञानज्योति है। सूर्य-चन्द्र-विद्युत-नक्षत्र-अग्नि-भेद से पञ्चधा विभक्त ज्योति भूतज्योति है। ज्ञानज्योति ही भूतज्योति की प्रतिष्ठा है। ज्ञान ही भूत की आधार भूमि है। ज्ञानज्योति से ही भूतज्योति प्रकाशित रहती है, अतएव इस ज्ञानज्योति को 'ज्योतिषां ज्योतिः'

(ज्योतियों की भी ज्योति) कहा जाता है। भूतज्योति पाँच हैं, इसी बहुत्व की अपेक्षा से 'ज्योतियां' कहागया है। इसी मूलज्योति का निरूपण करती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है–

> न तत्र सूर्यो भाति[1] न चन्द्र[2]तारकं[3] नेमा विद्युतो[4] भान्ति कुतोऽयमग्निः[5]।
> तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

बात यथार्थ है। जबतक हम में ज्ञान है, तभी तक सूर्य–चन्द्रादि हमारे लिए प्रकाशित हैं। यदि ज्ञान विलुप्त है तो सारे विश्व में हमारे लिये अन्धकार है। इसी आधार पर प्रान्तीय भाषा में "आप मरा तो जग परले (प्रलय)" यह किंवदन्ती प्रचलित है। इस ज्ञानज्योति से प्रकाशित भूतज्योतियों का मूलाधार सूर्यज्योति है। इसका चक्षुरिन्द्रिय पर अनुग्रह होता है। तीसरी सत्यज्योति नामरूपात्मिका है। नामरूपात्मक घटपटादि में जो भाग विशेष नाम से प्रसिद्ध है, वही अमृत है। यही तत्त्व विज्ञानभाषा में 'प्राण' नाम से प्रसिद्ध है। यह अमृतभाग घट–पटादि समस्त पदार्थों में समान है, अविशेष रूप से व्याप्त है। यही अविशेष (अमृतत्त्व) नामरूप की कृपा से विशेष बन कर 'अयं घटः' 'अयं पटः' इत्यादि रूप से पृथक् पृथक् प्रतीत होने लग गया है। यदि नामरूप का परित्याग करदिया जाता है तो वह अमृततत्त्व औपाधिक विशेषभाव से पृथक् होता हुआ अप्रतीति का विषय बन जाता है। नामरूप के बिना वह सर्वथा तिरोहित है। नामरूप से परिच्छिन्न होकर ही वह प्रकाशित होता है। अतएव अमृत को आच्छादित करने वाले, किन्तु उसे भातिरूप से प्रकाश में लाने वाले नामरूप को हम अवश्य ही 'ज्योति' कहने के लिए तय्यार हैं। विषयोपक्रम में बतलाए हुए सत्यनिर्वचन के अनुसार नामरूपात्मिका ज्योति सत्यज्योति है। जैसा कि निम्न श्रुति से स्पष्ट होजाता है—

"तदेतदमृतं सत्येन छन्नम्। नामरूपे सत्यम्। ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः"

(शत० १४ कां०) इति।

इन्हीं तीनों ज्योतियों के कारण ज्योतिर्मय देवताओं को त्रिसत्य कहा जाता है । उक्त तीनों ज्योतिएं विश्व में परस्पर में नित्य सम्बद्ध हैं । ज्ञानज्योतिर्मय आत्मा (विज्ञानात्मा) सुषुप्ति-काल में जब पुरीतति नाड़ी में चला जाता है तो वह भूत-एवं सत्यज्योतियों का प्रत्यक्ष करने में असमर्थ होजाता है। सूर्य-चन्द्र-अग्नि-वाक्-आत्मभेद से पञ्चज्योतिर्मय यह ज्ञानज्योतिर्घन जीवात्मा भूतज्योति के सहारे ही अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित रहता है । आदित्यज्योति से ही यह तत्तत् कर्मों में प्रवृत्त होनें के लिए समर्थ होता है। तदभाव में चन्द्रमा, चन्द्राभाव में अग्नि, अग्नि के अभाव में वाक्, सर्वाभाव में आत्मा है। परन्तु विना सूर्यादि ज्योतियों के यह अधिक समय तक नहीं ठहर सकता, जैसा कि 'असुर्या नाम ते लोकाः' इत्यादि मन्त्रभाष्य में विस्तार से बतलाया जाचुका है । शारीरप्राणों के केन्द्रभूत हृदय में जो विज्ञानज्योति है, वही आत्मा है। भूतज्योतिर्घन सूर्य द्वारा अध्यात्म में प्रविष्ट होनें वाला यह आत्मा स्वप्रभस्वरूप ज्योतिर्मय सूर्यादि के विना कैसे प्रतिष्ठित रह सकता है । इसी प्रकार नामरूप के विना भी शुद्ध ज्ञानात्मा का विकास असंभव है । नामरूप को छोड़ देनेंपर ज्ञानात्मा निर्विकल्पकभाव में परिणत होता हुआ भातिजगत् से बाहर निकल जाता है। ऐसी अवस्था में हम कह सकते हैं कि उपर्युक्त तीनों ज्योतिएं परस्पर में ओतप्रोत रहकर ही उपलब्ध होतीं हैं । इन तीनों में मूलप्रभव ज्ञानज्योति प्रस्तावस्थानीय होनें से ऋग्वेद है । विषयावसानभूमिरूपा सत्य-ज्योति सामवेद हैं। दोनो का यजन (सम्बन्ध) करानें वाली मध्यपतिता भूतज्योति यजुर्वेद है। इसप्रकार ज्योतिलक्षण सामवेद में ज्योतित्रयी से वेदत्रयी का भोग सिद्ध होजाता है।

आत्मा, प्रतिष्ठा, ज्योति इन तीनों में प्रतिष्ठा सत्तातत्व है, ज्योति चेतना है, आत्मा आनन्दघन है। सत्ताश्रयभाव सत् है, चेतनाश्रय चित् है, आनन्दाश्रयभाव आनन्द है । विश्वातीत विशुद्ध अव्यय के सत्ता-चेतना-आनन्द के आश्रय से प्रतिष्ठित रहनें वाला विश्व-मूर्ति प्रजापति भी 'सच्चिदानन्दघन है, तदंशभूत जीवात्मा भी सच्चिदानन्द है, ईश्वरांशभूत विश्व भी 'सच्चिदानन्दम्' है। सच्चिदानन्दघन ईश्वर-जीव-विश्व इन तीनों के 'सत्ता-चेतना आनन्द यह तीन वेद हैं। सुतरां वेदत्रयी का भी सच्चिदानन्दत्व सिद्ध होजाता है । यही ब्रह्म

है, यही सर्वत्र व्याप्त है, यही सब कुछ है, इसी में सब कुछ है । यह है मौलिकवेद । इन तीनों में आनन्दात्मकवेद ही (यजुर्वेद ही) पहिला पुरञ्जन है । यही सृष्टि का मूलप्रभव है । यह अनेजत् है, मनसो जवीयः है, एकम् है । आगे का सारा प्रपञ्च इसी अव्यक्त वेद से उत्पन्न होता है, उत्पन्न होकर इसी प्रतिष्ठित पर रहता है, अन्त में इसी में विलीन होजाता है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥

अग्निवेदविवर्त्त

अग्निवेदस्त्रयीवेदः—(मूलवेदः)

१—आत्मवेदः	आनन्दः	आनन्दः	→ यजुर्वेदः	अग्निमयो मूलवेदः
२—प्रतिष्ठावेद	सत्ता	सत्	→ ऋग्वेदः	
३—ज्योतिर्वेद	चेतना	चित्	→ सामवेद	

१	उक्थम् — १ - उक्थवेदः	→ ऋग्वेद	आत्मवेदः—वेदत्रयात्मकः	यजुर्वेदः १ यजुर्भिः
	ब्रह्म —२— ब्रह्मवेद	→ यजुर्वेदः		
	साम —३— सामवेद	→ सामवेद		
२	आत्मा —१— आत्मधृतिवेदः	→ ऋग्वेद	प्रतिष्ठावेदः—वेदत्रयात्मकः	ऋग्वेदः २ ऋग्भिः
	धृति —२— असतोधृतिवेद	→ यजुर्वेद		
	विधृति —३ सतोधृतिवेद	→ सामवेदः		
३	आत्मा —१— ज्ञानज्योतिर्वेदः	→ ऋग्वेद	ज्योतिर्वेदः—वेदत्रयात्मकः	सामवेदः ३ सामभिः
	भूतानि —२— भूतज्योतिर्वेदः	→ यजुर्वेदः		
	नामरूपे —३— सत्यज्योतिर्वेदः	→ सामवेदः		

आत्म-प्रतिष्ठा-ज्योति तीनों मिलकर एक वेद है। तीनों का समुचित रूप ही हमें उपलब्ध होता है। प्रत्येक वस्तु की हमें अस्तिरूप से उपलब्धि होती है। अस्ति सत्तातत्त्व है, यही प्रतिष्ठावेद है। वस्तु है-यह हम जानते हैं। यह ज्ञानज्योति ही चेतना है। चेतना ही ज्योति वेद है। जो वस्तु है, जिस का हमें ज्ञान होता है, ज्ञानसत्ता का प्रतिष्ठाभूत वही तीसरा वस्तु-तत्त्व 'रस' है। यही प्रिय है, यही आनन्द है, यही आत्मा है, यही आत्मवेद है। अस्ति-भाति-प्रिय की समष्टि ही वस्तूपलब्धि है। यही त्रयीवेद है। संसार का प्रत्येक पदार्थ वेद है, 'अनन्त व्यक्तियें हैं, अनन्त वेद हैं। समष्टिरूप से एक ही वेद है। उपलब्धिरूप यह 'सच्चिदानन्दात्मकवेद' नामरूपकर्मात्मक भौतिक पदार्थ के आधार से ही प्रतीति का कारण बनता है। यदि अस्तिमत् पदार्थ में से नामरूपात्मक भूतभाग को हटादिया जाता है तो स्वस्वरूप से निराकार रहता हुआ वेद तिरोहित हो जाता है। उपलब्धिरूप वेद को आप जब भी देखेंगे, भूत के आधार पर ही देखेंगे। त्रयीवेद के आधार पर प्रतिष्ठित रहने वाला नामरूपकर्मप्रपञ्च सर्वथा असत् रहता हुआ भी उस वेद अस्ति से अस्तित्वत् प्रतीत होने लगता है। संसार में आप जो कुछ 'अस्ति' 'अस्ति' कर के देख रहे हैं, विश्वास कीजिए वह सब त्रयीगर्भित वेद ही है। वही अस्ति अमृत है, जो अमृत है वही है। साथ ही में नामरूपकर्मात्मक मर्त्यभाग भी यही है। क्योंकि मनप्राणवाङ्मय अस्तिभाग ही तो नामरूपकर्म का प्रभव है। इसी वेदविज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

"स त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यत्। एतद् वा अस्ति। एतद्धि-अमृतम्। यद्ध्यमृतं तद्ध्यस्ति। एतदु तत्-यन्मर्त्यम्। त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि- प्रतिष्ठितानि।"

(शत० १०।६।१।२।) इति।

वेदतत्त्व को प्राजापत्य कहा जाता है। ब्रह्मप्रजापति से उद्भूत वेद वास्तव में प्राजापत्य है। पुरुष (मनुष्य) प्रजापति से उत्पन्न केशलोमादि जैसे पुरुष को चारों ओर से वेष्टित कर

लेते हैं, एवमेव प्रजापति से उत्पन्न प्राजापत्यवेद प्रजापति को केन्द्र बनाकर इस के चारों ओर व्याप्त हो जाता है । सम्पूर्ण विश्व इस प्राजापत्यवेद से आप्यायित रहता है । इसी प्राजापत्य-वेद का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

१—"प्रजापतिरिदं ब्रह्म वेदानां संसृजते रसम् ।
तेनाहं विश्वमाप्यासं सर्वान् कामान् दुहां महत् ॥ (ऐ॰ आ. ………)"

२—"महाव्रतं कर्म वा, निष्केवल्यं शस्त्रं वा संसृजे,
तेन सर्वफलमाप्नुयाम्, सर्वांश्च कामान् सम्पादयेयम् ।'

३—"प्राजापत्यो वै वेदः" (तै॰ ब्रा॰ ३।३।७।) ।

४—"प्रजापतेर्वा एतानि श्मश्रूणि यद् वेदः" (तै॰ ब्रा॰ ३।३।८।) ।

उक्त ब्रह्मप्रजापति अपनी वेदविभूति के कारण वेदि, वेद, यज्ञ, प्रजापति, भेद से चतुःसंस्थ बन जाता है । उदाहरण के लिए पार्थिवप्रजापति की संस्थाओं का विचार करिए । पृथिवीस्वरूपसमर्पक सप्तपुरुषपुरुषात्मक अग्नि प्रजापति है, जैसा कि विश्वनिरुक्ति में बतलाया जाचुका है । भूपिण्ड निर्म्माण की इच्छा रखने वाले इस अग्निप्रजापति की सब से पहिले 'पुष्करपर्ण' पर दृष्टि जाती है । पुष्करपर्ण इस की पहिली प्रतिष्ठा बनती है । पार्थिवप्रजापति (ब्रह्मा) पुष्करपर्ण पर प्रतिष्ठित होकर ही पार्थिवसृष्टि निर्माण में समर्थ होता है अतएव पार्थिव ब्रह्मा को 'पद्मभूः' कमलोद्भवः' आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है । इसी आधार पर पद्मपुराणादि में भूपिण्ड को चतुर्दलकमल माना गया है । पानी में वृन्तद्वयात्मक-सूक्ष्मातिसूक्ष्म हरितवर्ण की जो 'काई' है, जो कि काई आगे जाकर शैवाल रूप में परिणत होजाती है, वही 'पुष्करपर्ण' है । पुष्करपर्ण का शब्दार्थ है—पानी का पत्ता । आरम्भ में

● ब्रह्मा की प्रतिष्ठाभूत पद्म का क्या स्वरूप है ? पाद्मभुवनकोश के आदि प्रवर्त्तक कौन थे ? इत्यादि विषयों के आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक रहस्यों को जानने के लिए शतपथ विज्ञान भाष्य देखना चाहिए ।

पानी के ऊपर पानी से ही इसका निर्माण होता है । पानी प्रतिष्ठाशून्य है, ऋत है । आप इसमें जो भी डालेंगे विलीन होजायगा । सब से पहिली प्रतिष्ठा यही पुष्करपर्ण है । ऋत-पानी का पहिला सत्यरूप पुष्करपर्ण है। सशरीर-सहृदय भाव को ही विज्ञानभाषा में सत्य कहा जाता है। अबतक पानी में हृदयभाव न था। परन्तु पुष्करपर्णरूप दो वृन्तवाली काई में पिण्डभाव का उदय होजाने से हृदयभाव प्रकट होजाता है। 'प्रजापतिश्चरति गर्भे' के अनुसार प्रजापति हृदय में प्रतिष्ठित होकर ही सृष्टिनिर्माण में समर्थ होता है। इस प्रजापति की पहिली प्रतिष्ठाभूमि यही पुष्करपर्ण है । पुरभाव में हृदय है, हृदय प्रजापति की प्रतिष्ठा है। उक्त पर्ण पुरभाव का स्वरूपसमर्पक बनता हुआ ही 'पुरकरत्वात्' पुष्करपर्ण नाम से व्यवहृत होता है । इसमें प्रतिष्ठित प्रजापति (हृदयशक्ति-केन्द्रबल) ही पार्थिवसृष्टि का कारण बनता है । अभी मृद्भाव का उदय नहीं हुआ है । पुष्करपर्ण में अभी पानी ही प्रधान है। पानी ही घनताभाव में आकर सकेन्द्र बन गया है । इसी आधार पर-'आपो वै पुष्करपर्णम्' (शत० ६।४।२।२) यह कहा जाता है। आपोमय पुष्करपर्ण की प्रतिष्ठा आपोमय पारमेष्ठ्य विष्णु है । विष्णुकी नाभि में पुष्करपर्ण प्रतिष्ठित है, पुष्करपर्ण पर ब्रह्मा प्रतिष्ठित है , ब्रह्मा पर सब कुछ प्रतिष्ठित है। सब की प्रतिष्ठा होने से जहां ब्रह्मा को प्रतिष्ठा कहा जाता है, वहां इसकी भी प्रतिष्ठा होने से आपोमय विष्णु को प्रतिष्ठा की भी प्रतिष्ठा कहा जाता है। विष्णु की नाभि से पुष्करपर्ण निकला है। उसी पर प्राण-आप-वाक्-अन्नान्नादरूप चतुर्मुख ब्रह्मा प्रतिष्ठित हैं । वह आपोमय पानी स्थूल पानी नहीं है, अपि तु अम्भः नाम का वायुमय पानी है। इसी में सत्तरसात्मक दुग्ध का उदय होता है, अतएव इसे क्षीरसमुद्र कहा जाता है। प्रतिसंचरक्रम में वायु शेष रहजाता है, वायु गतिशील है, सर्पणशील है । इसी शेष पर विष्णु प्रतिष्ठित हैं। यह वायुमय पानी जिस ऋषि (प्राण) से उत्पन्न होता है, वह 'नारद' नाम से प्रसिद्ध है। वर्णवाक् जैसे अनुष्टुप् है, स्वरवाक् जैसे बृहती है, एवमेव ध्वनिवाक् सरस्वती नाम से प्रसिद्ध है। जैसे पार्थिवसमुद्र 'अर्णव' कहलाता है, स्वायम्भुवसमुद्र नभस्वान् कहलाता है, एवमेव पारमेष्ठ्य वैष्णव समुद्र "सरस्वान्" नाम से प्रसिद्ध है। इसी में ध्वनिप्रव-

र्तिका सरस्वतीवाक् प्रतिष्ठित है। स्वर-वर्ण दोनों इसी ध्वनिवाक् पर प्रतिष्ठित हैं। यही वाग्-देवी सृष्टि की मूलप्रवर्तिका है। यह आपोमयी ध्वनिवाक् स्वप्रभव उसी नारदऋषि (प्राण) पर प्रतिष्ठित है। इसी महासृष्टि विज्ञान को प्रसादभाषा में प्रकट करते हुए पुराण ने कहा है—

> "क्षीरसमुद्र में शेष शय्या पर विष्णुभगवान् सो रहे हैं। उन की नाभि में से कमल निकल रहा है। कमल पर चतुर्मुख ब्रह्मा विराजमान हैं। वह चारों वेदों से सृष्टिनिर्माण कर रहे हैं। विष्णुभगवान् के मस्तक की ओर नारद खड़े हुए हैं उनके हाथ में वीणा है.... .. .."

प्रकृत में उक्त निदर्शन से हमें यही बतलाना है कि सत्पुरुषपुरुषात्मक प्रजापति (अग्नि) के व्यापार से सर्वप्रथम पुष्करपर्ण उत्पन्न हुआ, वही प्रजापति की, किंवा सारे पार्थिव विश्व की पहिली प्रतिष्ठा बना। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

> यत् पयपश्यत् सरिरस्य मध्ये—उर्वीमपश्यज्जगतः प्रतिष्ठाम्।
> तत् पुष्करस्यायतनाद्धि जातं पर्णं पृथिव्यायतनं इदमि ॥
>
> (तै० ब्रा० १।२।१) इति।

यही पुष्करपर्ण आगे जाकर रुद्रवायु की रूक्षता, पानी की स्निग्धता के परस्पर के संसृष्टि सम्बन्ध से उत्तरोत्तर घनभाव में परिणत होता हुआ भूपिण्डरूप में परिणत हो जाता है। प्रजापति के स्वेद से पानी पैदा हुआ, पानी से पुष्करपर्ण उत्पन्न हुआ, वही घनावस्था में आकर भूपिण्ड बनगया। इस भूपिण्ड के केन्द्र में प्रजापति प्रतिष्ठित हो गये। यही पृथिवी वेदमूर्ति प्रजापति के सम्बन्ध से 'वेदि' नाम से प्रसिद्ध हुई। इस वेदि पर अग्निरूप वही त्रयी वेद प्रतिष्ठित हुआ। पार्थिव अग्नि साक्षात् वेद है। अग्निमय वह वेद सत्यमूर्ति है। इस सत्यात्मवेदरूप उस प्रजापति के अङ्गरूप प्राणदेवताओं के द्वारा (इसी वेदि पर) यज्ञ होता है। सोमाहुति होने से यही अग्निवेद २१ स्तोम पर्यन्त वितत हो जाता है। पार्थिव पिण्डाग्नि भस्माधान है, त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न घनावस्था अग्निहोत्र है, पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न घनावस्था

दर्शपूर्णमास है, सप्तदशस्तोमावच्छिन्न यज्ञसंस्था चातुर्मास्य एवं पशुबन्ध है, एवं यही ज्योतिष्टोम है। एकविंशस्तोमावच्छिन्न यज्ञसंस्था अग्नियज्ञ किंवा चयनयज्ञ है। इस प्रकार स्तोमभेद से पार्थिव यज्ञसंस्था उक्त विभागों में परिणत हो जाती है। इसी अग्नीषोमात्मक यज्ञ से वह प्राजापत्य वेद एकविंशस्तोमपर्यन्त व्याप्त हो जाता है। त्रिवृत्स्तोम तक अग्निमय ऋग्वेद है, पञ्चदशस्तोम तक वायुमय यजुर्वेद है, एकविंश तक आदित्यमय सामवेद है। यही मूलवेद का वितान है। इसी वितान सम्बन्ध से उक्त पार्थिव यज्ञसंस्था वितानयज्ञ आतानयज्ञ आदि नामों से प्रसिद्ध है।

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थ–ऋग्–यजुः–सामलक्षणम् ॥ (मनुः १।२३)

इत्यादि मानवसिद्धान्त इसी पार्थिव यज्ञमात्रिक प्राजापत्यवेद का स्पष्टीकरण करता है। इस वेदतत्त्व की प्रतिष्ठा पिण्डपृथिवी, एवं अमृता पृथिवी है। याज्ञिक परिभाषा के अनुसार चित्याग्निमय भूपिण्ड 'कृष्णाजिन' कहलाता है, एवं चितेनिधेयाग्निमयी महापृथिवी पुष्करपर्ण नाम से प्रसिद्ध है। (देखिए शत० ६।४।१।८)। पिण्डपृथिवी में छन्दोवेद प्रतिष्ठित है, तत् सम्बन्धी पार्थिवयज्ञ– आतानयज्ञ' नाम से प्रसिद्ध है। भूपिण्ड वेदि है, महापृथिवी महावेदि है। प्रजापति केन्द्र में प्रतिष्ठित रहता है, यह अनुपद में ही बतलाया जाचुका है। हृदयस्थित हृ–द–यम्–रूप, अन्तर्यामी नाम से प्रसिद्ध ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र का नाम ही प्रजापति है। अग्नि–सोमात्तर वेद हैं। यह अग्नि सोम उस हृदय प्रजापति से अभिन्न हैं। इन्द्र ही ब्रह्मगर्भित होकर अग्नि बनता है, विष्णु ही ब्रह्मगर्भित होकर सोम कहलाने लगता है। अतएव अन्तर्यामी हृद प्रजापति के अवयवभूत, विश्वस्वरूपसम्पादक अग्नीषोमात्मक वेद को हम अवश्य ही प्रजापति के 'श्मश्रु' कहने के लिए तय्यार हैं। हृदयभाव का नाम ही सत्य है। इस सत्य अन्तर्यामी का निर्वर्तभूत वेद भी अवश्यमेव सत्य है। प्रजापति सत्य, इसका वेद सत्य, वेदमय विश्व सत्य–'सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्'। यही सत्यवेद यज्ञद्वारा महावेदि के आधार पर २१ तक व्याप्त होता है। इस प्रकार वह सत्यप्रजापति सत्य (वेद) के द्वारा पार्थी

उत्पन्न करता हुआ पृथिवीरूप वेदि को उत्पन्न कर यज्ञसम्पत्ति से युक्त होता हुआ- वेदि-वेद-यज्ञ-प्रजापति भेद से चतुष्कल बनजाता है। इसी वेद रहस्य को प्रकट करते हुए निम्नलिखित श्रौत वचन हमारे सामनें आते हैं।

१—"एष प्रजापतिर्यद् हृदयम्, एतद् ब्रह्म, एतत् सर्वम्।
तदेतत् त्र्यक्षरं-हृ द-यमिति। तद्वै तदेतदेव तदास सत्यमेव" (श० १४।८।४)

२—"ते देवा सर्व सत्यमवदन्। तत्यत् तत् सत्य त्रयी सा विद्या।
ते देवा अब्रुवन्-यज्ञं वै कृत्वा सत्यं तनवावहै" (श० ९।५।१)

३—"त्वया (वेदेन) वेदिं विविदुः पृथिवीं त्वया यज्ञो जायते विश्वदानिः।
अच्छिद्रं यज्ञमन्वेषि विद्वान् त्वया होता संतनोत्यर्द्धमासान् ॥"(तै०ब्रा०३।७।४)

४—"अयं वेदः पृथिवीमन्वविन्दत्, गुहासतीं गहने गह्वरेषु।
स विन्दतु यजमानाय लोकमच्छिद्रं यज्ञं भूरिकर्मा करोतु ॥"
(तै० ब्रा० ३।७।६।)

५—"वेदेन वै देवा असुराणां वित्त वेद्यमविन्दत।
तद् वेदस्य वेदत्वम्, भूमिरेव वेदिः। सा वा इयं सर्वैव वेदिः"
इत्यादि…………।

'सर्वा-एव वेदिः' इस वाक्य के सर्वशब्द से सर्वभूतप्रपञ्च अभिप्रेत है। इसकी प्राप्ति उसी त्रयीविद्या के उदर में हुई है। तभी तो पूर्वोक्त-'त्रय्या वाव विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यत्' यह कथन चरितार्थ होता है। यह प्रजापति वेदि-वेद-यज्ञ-इन तीन कलाओं से चतुष्कल बनता हुआ इस महाभुवन के केन्द्र में पृ० अ०-द्यौ रूप तीनों भुवनों का शास्ता बनता हुआ अन्तर्यामी नाम से प्रसिद्ध होरहा है। यह अन्तर्यामी जिस नियति सूत्रसे

चराचरभावमय विश्व का शासन कर रहा है, उसका यही नियतिसूत्र, विज्ञानदण्ड वेदपदार्थ है। इस वेदसीमा के बाहर कुछ भी नहीं है । जिसका वेद नहीं वह भी–**न स वेदः, न स वेदः**, । जो सब कुछ जानता हुआ भी वेदतत्त्व नहीं जानता, वह भी–**न स वेद, न स वेद**। इसी वेद से वेदि और यज्ञरूप विश्व का निर्माण हुआ है। विश्वनिर्माण के लिए इसे सर्व प्रथम पानी ही उत्पन्न करना पड़ता है। स्वायम्भुव ब्रह्मनिश्वसित वेदप्रजापति के काम–तप–श्रम से भृग्वङ्गिरा नाम से प्रसिद्ध अथर्वा नाम का अप्तत्त्व उत्पन्न होता है। इसी मिथुनभाव से त्रयीवेद सृष्टि करने में समर्थ होता है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा।

उक्थ मूलवेद का ऋक् भाग छन्दोवेद है, इससे मूर्ति का (पिण्ड का) निर्माण होता है। सामभाग वितानवेद है, इससे महिमाभाव की स्वरूपनिष्पत्ति होती है । एवं यजु भाग रसवेद है, यही गतिभाव का अधिष्ठाता है। इन तीनों वेदो की मूलप्रतिष्ठा आहुतिरूप ब्रह्म-वेद (अथर्ववेद) है। इन्हीं चारों मौलिक वेदोका निरूपण करते हुए महर्षि तित्तिरि कहते हैं–

> ऋग्भ्यो जाता सर्वशो मूर्त्तिमाहुः सर्वागतिर्याजुषी हैव शश्वत ।
> सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत् सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम् ॥
> (तै० ब्रा.३।१२।६।१-२) ।

> ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्नः ।
> सामवेदेनास्तमये महीयते वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः ॥
> (तै० ३।१२।६।१)।

मनप्राणवाक् के त्रिवृद्भाव के कारण उक्त तीनों वेद ऋग्–यजुः–साम भेदसे तीन तीन भागो में विभक्त हैं। इन सबका विशद निरूपण उपनिषद्भाष्यभूमिका में किया जाचुका है, अत. प्रकृत में इनके नाममात्र का दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

१—छन्दोवेदः—मूर्तिः ………… उक्थम् →→—→ ऋग्वेदः
२—रसवेदः—मध्यस्थो वायुमयोऽग्निः" ब्रह्म →→—→ यजुर्वेदः
३—वितानवेदः-महिममण्डलम् ……… साम →→—→ सामवेदः
} मूलवेदः १

१—छन्दोवेदः—(ऋक्)

१ १—विष्कम्भः—ऋग्वेदः
२—परिणाहः—सामवेदः
३—हृदयम्—यजुर्वेदः
} तदित्थं ऋङ्मये छन्दोवेदे वेदत्रयोपभोगः

२—वितानवेदः— साम)

२ १—पूर्वपूर्वमण्डलम् ……… ऋग्वेदः
२—उत्तर—उत्तरमण्डलम् ……… सामवेदः
३—ऋजु (अकुटिला) रेखा ……… यजुर्वेदः
} तदित्थं साममये वितानवेदे वेदत्रयोपभोगः

३—रसवेदः—(यजुः)

३ १—उत्तरोत्तरं ह्रसीभवन्तो विष्कम्भाः—ऋग्वेदः
२—उत्तरोत्तरं वृद्धिमन्ति मण्डलानि—सामवेदः
३—तयोरन्तराले प्रतिष्ठितानि वाक्—यजुर्वेदः
प्राणमनांसि
} तदित्थं यजुर्मये रसवेदे वेदत्रयोपभोगः

इति—त्रयीवेदनिरुक्तिः

● इस विषयका संक्षिप्त विवेचन कल्याण मासिक पत्र के वेदान्त—अङ्क में वेद का स्वरूप विचार नाम के लेख में निकल चुका है।

मन्त्रार्थसम्बन्धिनी–अथर्ववेदनिरुक्तिः



दत्रयी का निरुपण समाप्त हुआ। अब क्रमप्राप्त चौथे अथर्ववेद का स्वरूप बतलाया जाता है। पूर्व के वेदत्रयी प्रकरण से यह मान लेना पड़ता है कि केवल वेदतत्त्व (वेदत्रयीरूप केवल अग्नि) सृष्टि करने में असमर्थ है। सृष्टि अग्नि–सोम के समन्वय पर निर्भर है। कारण सृष्टि संसृष्टिभाव से सम्बन्ध रखती है। एवं संसृष्टि परस्पर में विजातीय योषा वृषाप्राण पर निर्भर है। योषा रयि नाम से, वृषा प्राण नाम से प्रसिद्ध है। इधर ऋक्सामरूप वयोनाध से सीमित वयरूप यजुर्वेद प्राणात्मक बनता हुआ केवल 'वृषा' रूप है, अग्निमय है। आग्नेय-प्राणप्रधान (ब्रह्माग्निरूप ऋषिप्राणप्रधान) यह वृषावेद सर्वथा असंग है। ऐसी अवस्था में इस असंग वेदप्रजापति से तब तक सृष्टि नहीं होसकती, जब तक कि 'योषा' नामक संसग अप्तत्त्व (रयि) उत्पन्न नहीं होजाता। अतएव सृष्टिकामुक त्रयीमय उस ब्रह्मप्रजापति को सब से पहिले पानी ही उत्पन्न करना पड़ता है। सृष्टिकामना से प्राण क्षुब्ध होजाता है। प्रत्येक कामना फलसिद्धि पर्यन्त प्राणक्षोभ का कारण बनी रहती है, यह सर्वानुभूत विषय है। वही क्षुब्ध प्राणाग्नि संघर्ष के कारण अब्रूप में परिणत होजाता है। इस का यह अर्थ नहीं है कि अबुत्पत्ति के अनन्तर प्राणाग्नि रहा ही नहीं। यह कार्यकारणभाव ऊर्णातन्तु (मकड़ी का जाला) के समान है। मकड़ी अपने एक प्रदेश से जाल बनाती है। वही (आंशिकरूप से) जाल बनती है, परन्तु उस का स्वरूप ज्यों का त्यों बना रहता है, जैसा कि स्वरूप जालोत्पत्ति से पहिले था। इसी को "अभिन्नसत्ताक कार्यकारणभाव" कहा जाता है। यही अवस्था यहां है। वेदप्राण का जो भाग क्षुब्ध हो जाता है, वह पानी बन जाता है, शेष भाग ज्यों का त्यों स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है। इस प्रकार अशनाया के प्रभाव से क्षोभ द्वारा सर्वप्रथम पानी उत्पन्न होता है। एक ही प्रजापति प्राण–आप भेद से दो भागों में विभक्त हो जाता है। प्राणभाग वृषा है, पुरुष है, पति है। अप्भाग योषा है, स्त्री है, पत्नी है। इसी दम्पती

के मिथुनभाव से प्रजा उत्पन्न होती है। प्रजापति की इस इच्छा का— "एकाकी न रमते, तद्द्वितीयमैच्छत्—पतिश्च पत्नी च" इत्यादि रूप से अभिनय किया जाता है। इसी सृष्टि-विज्ञान को लक्ष्य में रखकर भगवान् मनु कहते हैं—

> यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
> तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥१॥ (मनुः १।११।)
> तदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मभिः।
> मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः सर्वभूतकृदव्ययम् ॥२॥ (मनुः १।१८।)
> तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम्।
> सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः संभवत्यव्ययाद्व्ययम् ॥३॥ (मनुः १।१९।)
> सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
> वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥४॥ (मनु १।२१।)
> सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
> अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥५॥ (मनुः १।८।)
> द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
> अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः ॥ ६ ॥ (मनुः १।३२।)

उक्त मानव विज्ञान के अनुसार योषावृषा के मिथुन से सर्वप्रथम विराट् पुरुष उत्पन्न होता है, दूसरे शब्दों में यह स्वयं ही इस मिथुनभाव से विराड्रूप बन जाता है। इस विराट् का स्वरूप आगे जाकर स्पष्ट होगा, पहिले अवान्तर का विचार करिए।

मूलवेद के ऋक्-साम-यजु यह तीन विवर्त बतलाए हैं। इन तीनों को क्रमशः महदुक्थ-महाव्रत-पुरुष इन नामों से व्यवहृत किया जाता है। उदाहरण के लिए, सूर्यपिण्ड (मूर्ति-रेखा) महदुक्थ है, सौरप्रकाशमण्डल (रश्मिमण्डल) महाव्रत है, सूर्यकेन्द्र में रहने वाला हिरण्मयगर्भित प्राणाग्नि पुरुष है। इसी को 'हिरण्यगर्भप्रजापति' 'हिरण्मयपुरुष' 'चाक्षुष-

पुरुष' 'आदित्यस्य परं भाः' इत्यादि नामों से व्यवहृत किया जाता है, यही मौलिकतत्त्व है। ऋक् साम इस यजुपुरुष की प्रतिष्ठा है। इसी त्रयीविद्या का निरूपण करती हुई वाजिश्रुति कहती है—

> यदेतन्मण्डलं तपति–तन्महदुक्थम्, ता ऋचः, स ऋचां लोकः।
> अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते, तन्महाव्रतम्। तानि सामानि, स साम्नां लोकः।
> अथ य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः, सोऽग्निः, तानि यजूंषि। स यजुषां लोकः।
> सैषा त्रय्येव विद्या तपति" (शत. १०।५।२।१–२)।

ऋक्साम वयोनाध है, यजु वय है। वस्तुपिण्ड का विष्कम्भ (व्यास) ऋक् है। वस्तु के चारों ओर का घेरा (परिणाह) साम है। व्यास को त्रिगुणित करदेने से वस्तु का घेरा बन जाता है। दूसरे शब्दों में वस्तुपिण्ड का घेरा वस्तुपिण्ड के व्यास से तिगुना होता है, इसी आधार पर साम का 'त्रिचं साम' (तीन ऋक् का एक साम—तीन व्यासों का एक परिणाह) यह लक्षण किया जाता है। इस व्यास और परिणाह से वेष्टित वस्तुतत्त्व यजु है। जिस प्रकार उदर में अन्न प्रतिष्ठित रहता है, एवमेव यजु (वस्तुतत्त्व) ऋक्साम् रूप व्यास और परिणाह में अन्तर्भुक्त रहता है। इस भुक्तिभाव को लक्ष्य में रखकर ही यजु को वय (अन्न) नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है। वय शब्द अन्न शब्द का ही पर्याय नहीं है, जैसा कि प्राचीनों ने वय का अर्थ अन्न किया है। अन्नधर्म की समता के कारण ही यजु को वय कहा जाता है। अपि च जिस प्रकार पञ्जर (पींजरा) में रहने वाला पक्षी पञ्जर से निकल कर आकाश में इधर उधर संचरण करता रहता है, एवमेव ऋक्सामरूप पञ्जर में प्रतिष्ठित रहने वाला गतिमूर्त्ति यजु वितानभाव से समष्टिमामण्डल में विचरण किया करता है, इस पक्षिरूप साधर्म्य से भी इसे वय (पक्षी) कहागया है। इस वय को बंधन में रखने वाले, सीमित रखने वाले आयतनरूप ऋक् साम हैं, अतएव इन्हें 'वयोनाध' (वय का बंधन करने वाला) कहा जाता है। वयोनाध और वय की समष्टि 'वयुन' नाम से व्यवहृत होती है। प्रत्येक वस्तु वयुन

है। वयुन में वय–वयोनाध दो विभाग हैं, वय यजु है, वयोनाध ऋक्साम है, ऋक्साम यजु में ओतप्रोत रहते हैं। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है–

"ते यदा स्तुवते. यदानुशंसति, अथाग्निमत्रैत वषट्कृते जुहोति। तदेनमेष रसोऽप्येति। न वै महाव्रतमिदं स्तुतं शेते, इति पश्यन्ति। नो महदुक्थमिति। अग्निमेव पश्यन्ति। आत्मा ह्यग्निः। तदेनमेतेऽउभे रसो भूत्वापीत ऋक्च साम च। तदुभे ऋक्सामे यजुरपीतः" (शत० १०।१।१।६।) इति।

इस से यह सिद्ध होजाता है कि केवल आयतनरूप ऋक्साम सृष्टि करने में असमर्थ हैं। ऋक्सामरूप व्यास परिणाह से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। व्यास मध्यरेखा है, परिणाह चारों ओर की रेखा है। यही रेखात्मक किंवा लेखात्मक एक पुर (सीमाभाव) है। इस पुर में प्रतिष्ठित यजुरग्नि 'पुरि शेते' के अनुसार पुरुष है, यही सृष्टिकर्ता है। नपुंसक ऋक् साम सहकारी मात्र हैं। ऋक्सामरूप छन्द से छन्दित यजुपुरुष 'द्विब्रह्म' है। यत्–और जू दो ब्रह्मों की समष्टि यजु है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा। यत् भाग वायु (प्राण) है, जू भाग वाक् (आकाश) है। इस यत्रूप प्राणवायु के व्यापार से जूरूप मर्त्यवाक् भाग ही क्षुब्ध हो कर अब्रूप में परिणत होता है, जैसा कि 'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेव साऽसृज्यत' (शत. ६।१।१।७।) इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट है। वागग्नि क्षुब्ध होकर पानी बन जाता है, इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि यदि क्रोध से अथवा वेगान्तर से शारीरप्राणाग्नि क्षुब्ध हो जाता है तो उसी समय पसीनें निकल पड़ते हैं।

शरीर में अबुत्पत्ति तीन प्रकार से होती है। परिश्रम करनें से पानी उत्पन्न होजाता है। शोक से पानी उत्पन्न होता है, एवं प्रेम से पानी उत्पन्न होता है। परिश्रमजनित पानी 'स्वेद' कहलाता है, शेष दोनों शोकाश्रु प्रेमाश्रु नाम से प्रसिद्ध हैं। इन तीनों पानियों के अतिरिक्त एक चौथा स्वाभाविक पानी निरन्तर रोमकूपों से निकला करता है। मूत्र–मुखलाला–कफ–क्लि

आदि में जो अर्द्रता है वह यहां स्वाभाविक पानी है। इस प्रकार अध्यात्मसंस्था में अबुत्पत्ति की चार धाराएं हैं। 'अग्नेराप' इस सिद्धान्त के अनुसार यह चारों पानी अग्नि से ही उत्पन्न होते हैं। परन्तु इन चारों के स्वरूप में बड़ा अन्तर है। कार्यरूप अप् के अन्तर से मानना पड़ता है कि इन के कारणाग्नि में भी अवश्य ही अन्तर होगा। प्रसंगोपात्त वह अन्तर जान लेना भी अनुचित न होगा।

अग्नितत्त्व सत्य और यज्ञ भेद से दो मार्गों में विभक्त है। सत्याग्नि मौलिक अग्नि है, यज्ञाग्नि यौगिक अग्नि है। विशुद्धावस्था सत्याग्नि है, मिश्रावस्था यज्ञाग्नि है। सत्याग्नि अमृतप्रधान है, यज्ञाग्नि मृत्युप्रधान है। याज्ञिक परिभाषा के अनुसार सत्याग्नि चितेनिधेयाग्नि है, यज्ञाग्नि चित्याग्नि है। 'अर्द्धं ह वै आत्मनो मर्त्यमासीदर्धममृतम्' यह प्रसिद्ध है। मौलिक अग्नि ब्रह्म (Physics) है, मिश्राग्नि यज्ञ (Chemistry) है। ब्रह्म ही यज्ञ की प्रतिष्ठा है—'ब्रह्म ह वै सर्वस्य प्रतिष्ठा'। सुप्रसिद्ध यजुरग्नि (वेदाग्नि) ही सत्याग्नि है। 'यज्ञं कृत्वा सत्यं तनवामहै' के अनुसार इस वेदाग्नि के आधार पर ही यज्ञाग्नि का वितान होता है। इस वेदाग्नि की आगे जाकर तीन अवस्थाएं हो जाती हैं। स्वयम्भू इस की प्रथम विकासभूमि है, सूर्य दूसरी विकासभूमि है, भूपिण्ड तीसरी विकासभूमि है। एक ही सत्याग्नि तीन स्थानों में प्रतिष्ठित होकर भिन्न भिन्न नाम रूपों में परिणत हो रहा है। इन्हीं तीन विवर्तों के कारण सत्यमात्र 'त्रिसत्य' कहलाता है। स्वयम्भू में प्रतिष्ठित वेदाग्नि ब्रह्माक्षर के सम्बन्ध से 'ब्रह्माग्नि' कहलाता है, सूर्य में प्रतिष्ठित यही सत्याग्नि सौर प्राणरूप देवताओं के सम्बन्ध से 'देवाग्नि' नाम से, एवं भूपिण्ड में प्रतिष्ठित वही सत्याग्नि भूत सम्बन्ध से 'भूताग्नि' कहलाता है। प्रकृत्यपेक्षया स्वयम्भू प्राणमय है, अतएव ब्रह्माग्नि को 'प्राणाग्नि' कहा जाता है। यही मूल प्रकृति है, अतएव इसे 'प्राकृताग्नि' भी कहा जाता है। सूर्य वाङ्मय है, अतएव देवाग्नि को 'वागग्नि' कहा जाता है। वैधयज्ञ की प्रवृत्ति इसी से होती है, अतएव इसे याज्ञिक परिभाषानुसार 'वैधाग्नि' भी कहा जाता है। भूपिण्ड अन्नादमय है, अतएव भूताग्नि को 'अन्नादाग्नि' कहा जाता है। भूपिण्ड में ही पञ्चपशुप्राणों का विकास होता है, अतएव तत्सम्बन्ध से इसे

'पार्थिवाग्नि' भी कहा जाता है। स्वायम्भुव अग्नि ब्रह्मनिश्वसित वेद है, सौर अग्नि गायत्रीमात्रिक वेद है, पार्थिव अग्नि सत्यवेद किंवा यज्ञमात्रिकवेद है। इस प्रकार एक ही वेदाग्नि किंवा सत्याग्नि तीन भागों में विभक्त हो रहा है। दूसरा है यज्ञाग्नि। इस का विकास अन्नादाग्नि नाम के पार्थिव सत्याग्नि से होता है। पार्थिव सत्याग्नि तरवितत होकर अग्नि-वायु-आदित्य इन तीन अवस्थाओं में परिणत हो जाता है। अन्नादाग्नि अपान प्रधान है, अन्नादवायु व्यान-प्रधान है, अन्नाद आदित्य प्राणप्रधान है। मध्यस्थ व्यानाग्नि के आधार पर अपान-प्राणाग्नि का घर्षण होता है। यह घर्षण तीनों का यजन है यही यज्ञ है। इस से वैश्वानर नाम के यज्ञाग्नि का प्रादुर्भाव होता है। अन्नादाग्नि को हमने पार्थिव बतलाया है। इस की मूल और तूल भेद से दो अवस्थाएं हैं। मूल अन्नादाग्नि भूपिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित होता हुआ प्रजापति नाम से प्रसिद्ध है। इस अङ्गिरस का ऊर्ध्व गमन होता है। यही अङ्गिरस किंवा सत्याग्नि पृथिवी के २१ स्तोम तक व्याप्त होकर घन-तरल-विरल इन तीन अवस्थाओं में परिणत होता हुआ अग्नि-वायु-आदित्य कहलाने लगता है। स्व पृथिवी में लोक-त्रैलोक्य किंवा तीन विश्व हैं। इन तीनों के नर (नायक) यही अग्नि-वायु-आदित्य हैं। उक्त यज्ञाग्नि इन तीनों विश्वनरों के घर्षण से उत्पन्न होता है, अतः इसे 'वैश्वानर' कहना न्यायप्राप्त है। इस प्रकार एक ही अग्नि की अमृत-मृत्यु भेद से दो अवस्थाएं, अमृताग्नि की तीन अवस्थाओं की अपेक्षा से चार अवस्थाएं हो जाती हैं, जैसा कि—"चतुर्धा विहितो ह वा अग्रेऽग्निरास" (शत० ६।१।१।११) इत्यादि से स्पष्ट है।

१—सत्याग्निः (अमृताग्निः)—आत्मा
२—यज्ञाग्निः (मर्त्याग्निः)—विश्वम्
} आत्मन्वी—प्रजापतिः

१—ब्रह्माग्निः—प्राणाग्निः—आपोमयाग्निः ←→ स्वायम्भुवः—ब्रह्मनिश्वसितवेदः
२—देवाग्निः—वाय्वग्निः—रौद्राग्निः ←→ सौरः—गायत्रीमात्रिकवेदः
३—भूताग्निः—अन्नादाग्निः पार्थिवाग्निः ←→ पार्थिवः—यज्ञमात्रिकवेदः
} सत्याग्निः

४—वैश्वानराग्निः—यज्ञाग्निः—रूपाग्निः—विराडग्निः—विज्ञानवेदः } यज्ञाग्निः

इन चारो अग्नियों के कार्य सर्वथा नियत हैं। विधरण और प्रतिष्ठा यह दो काम स्वायम्भुव महाग्नि के हैं। अणुपरमाणुओं को एक स्थान पर बद्ध रखना विधरण है, पदार्थ को संघटित रखना विधरण है। यह काम प्राणरूप महाग्नि का है, अतएव प्राण को विधर्त्ता कहा जाता है। प्रत्येक वस्तु में एक प्रकार का ठहराव होता है। पाषाणादि में यह ठहराव अधिक है। तूलादि (रूई–हवा आदि) में ठहराव कम है। विद्युत् में और भी कम है। पदार्थों में तारतम्य से रहने वाला यह ठहराव ही प्रतिष्ठातत्त्व है। 'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा' के अनुसार प्रतिष्ठाधर्म ब्रह्माग्नि का ही है। प्रतिष्ठा और विधरण ब्रह्माग्नि के साक्षात् दर्शन हैं। दूसरा है देवाग्नि। रूप और विकास यह दो धर्म सौर देवाग्नि के हैं। पुष्पकलिका आगे जाकर विकसित होती है, खिल जाती है, स्वस्थ मनुष्य का चेहरा खिला रहता है। वस्तुमात्र का यह प्रसादभाव ही विकास है, इसका प्रवर्त्तक इन्द्रप्रधान सौर अग्नि ही है। सारी प्रजा सूर्योदय से विकसित होजाती हैं। रात्रि के तम से संकुचित पदार्थ सौर प्रकाश से खिल पड़ते हैं। सौरइन्द्रमय अग्नि ही 'रूपं रूपं मघवा बोभवीति' के अनुसार सप्तरूप किं वा अनन्त रूपों (रंगों) का अधिष्ठाता है। अतएव सूर्य को 'पूषिण' कहा जाता है। रूप और विकास देवाग्नि के साक्षात् धर्म हैं। तीसरा है पार्थिव भूताग्नि। पाक और विलयन इसके स्वाभाविक धर्म हैं। दस प्रकार के सोमों में एक सोम 'वृत्र' नाम से प्रसिद्ध है। इस वृत्र सोम की घन–तरल–विरल–गुण भेद से चार अवस्थाएं हैं। यही चारों अवस्थाएं विज्ञानभाषा में क्रमशः ध्रुव–धर्त्र–धरुण–धर्म इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इनमें ध्रुवसोम अश्मासोम कहलाता है। पाषाणादि घन पदार्थों की स्वरूपनिष्पत्ति इसी अश्मासोम से होती है। तरलसोम तरलता का प्रवर्तक है। पानी–घृत–आदि में इसी की प्रधानता है। वायु–प्राण आदि में विरल सोम की प्रधानता है। आत्मा में गुणसोम प्रतिष्ठित रहता है। अश्मासोमप्रधान अन्नादाग्नि पदार्थों का परिपाक करता है, तरलसोममय वही अग्नि पदार्थों को पिघला देता है। कर्पूर अग्नि की पाकावस्था है, पिघला हुआ कर्पूर अग्नि की विलयनावस्था है। अग्नि ही संघात करता है, अग्नि ही विलयन करता है, जैसा कि 'अपां संघातो विलयनं च तेजः–संयोगात' (वै० द०) से स्पष्ट

है। यह दोनों धर्म अन्नादाग्नि के हैं। चौथा है मिश्र,वत्पापन्न यज्ञाग्नि नाम का वैश्वानराग्नि। ताप और दाह यह दो इसके स्वाभाविक धर्म हैं। गरमी मालुम होना–वस्तु को जला डालना दोनों काम वैश्वानर के हैं। हम शरीर को जहां से छूते हैं गरम पाते हैं। यह वैश्वानर के साक्षात् दर्शन हैं। पूर्वोक्त तीन सत्याग्नियों में न ताप है, न दाह है। मौलिक अग्नि में ताप–दाह का नितान्त अभाव है। ताप और दाह घर्षणाधीन है। संघर्ष से ही ताप उत्पन्न होता है, संघर्ष से ही दाह होता है। सत्याग्नि निराकार है। उसमें संघर्ष कथमपि संभव नहीं हैं। संघर्ष होता है पार्थिव दलाग्नियों में। इसी से ताप दाहलक्षण वैश्वानर उत्पन्न होता है। इस प्रकार इन धर्मों से युक्त चारों अग्नि विश्व का स्वरूप संपादन कर रहे हैं।

अग्निः–प्रजापतिः

१–	१–विधरणम् २–प्रतिष्ठा	ब्रह्माग्निः स्वायम्भुवः	सत्याग्निः (अमृताग्निः)	अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्
२–	१-विकासः २–रूपम्	देवाग्निः–सौरः		
३–	१–पाकः २–मिलयनम्	भूताग्निः–पार्थिवः		
४–	१–तापः २–दाहः	यज्ञाग्निः–वैश्वानरः	यज्ञाग्निः (मर्त्याग्निः)	

इन चारो अग्नियों से चार प्रकार का भिन्न भिन्न पानी उत्पन्न होता है। कारण पानी उत्पन्न करना अग्नि का स्वाभाविकधर्म है। स्वायम्भुव ब्रह्माग्नि से पारमेष्ठ्य अम्भ नाम का पानी उत्पन्न होता है। यही पवित्रतम पानी भागीरथी का स्वरूपसमर्पक बनता है। सौर देवाग्नि से मरीचि नाम का पानी (दिव्य पानी) उत्पन्न होता है। यही दिव्यपानी यमुना जल का स्वरूप समर्पक बनता है। पार्थिव भूताग्नि से मर नाम का पानी उत्पन्न होता है, एवं आन्तरिक्ष्य चान्द्र प्राणमय वैश्वानर से श्रद्धा नाम का पानी उत्पन्न होता है। इन्हीं चारों का स्वरूप बतलाते हुए महर्षि ऐतरेय कहते हैं—

> "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चन मिषत्। स ईक्षत-लोकान्नु सृजा इति स इमाँल्लोकानसृजत- अम्भो मरीचिर्मरमापः अदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठा। अन्तरिक्षं मरीचयः। पृथिवी मरः। या अधस्तात्ता आपः (श्रद्धा वा आपः)" (ऐ० उ० १ खं० १-२-) इति।

यह है आधिदैविक जगत् की स्थिति। "यदेवेह तदमुत्र-यदमुत्र तदन्विह" के अनुसार उक्त चारों अग्नियें हमारे शरीर में भी प्रतिष्ठित हैं। एवं यहां भी इन चारों से चारों पानी उत्पन्न होते हैं। किसी कार्य सिद्धि के लिए मनुष्य जब परिश्रम करनें लगता है तो इस से स्वायम्भुव प्राणाग्नि क्षुब्ध हो पड़ता है। प्रतिष्ठाभाव शिथिल होनें लगता है। अतएव परिश्रम के अनन्तर थकान मालुम होनें लगती है। प्राणाग्नि के विधरणशक्ति, और प्रतिष्ठाशक्ति के ह्रास ही का नाम थकान है। इस परिश्रम से सबसे पहिले ललाट पर पसीनें आते हैं, जैसा कि अनुपद में ही स्वेदवेदोत्पत्ति में बतलाया जानें वाला है। अत्यधिक परिश्रम से सारे शरीर में पसीनें चूनें लगते हैं। प्राणाग्नि के तप से पसीनें निकलते हैं, यही कार्यसिद्धि की प्रथमभूमिका है। इसी आधार पर लोक में "अमुकनें अमुक कार्य के लिए पसीना बहाया है"-अजी! पसीनें की कमाई है' ऐसी किंवदन्तियें प्रचलित हैं। शिरोगुहा स्वायम्भुवी है। अतएव तत्प्रतिष्ठ ब्रह्माग्नि के क्षोभ से सर्वप्रथम ललाट में ही पसीनें आते हैं।

यदि मनुष्य प्रेमविभोर होजाता है तो आंसू निकल पड़ते हैं। इन्ही को 'प्रेमाश्रु' कहा जाता है। प्रेमाश्रु से आत्मा में एक प्रकार का शान्ति का उदय होता है। यह सोमाग्नि की कृपा है। सोमाग्नि बुद्धि का अनुमाहक है। बुद्धि और मन साथ रहते हैं। बौद्धसौर आग्नेय घर्षण से मन पर आघात होता है। मन पिघल पड़ता है। वही मनोवेग अश्रुरूप में परिणत होकर आंखों से बाहर निकल पड़ता है। प्रेम कैसा-दिव्य, पवित्र, सात्विक। मनप्रधान प्रेम जहां दुःख का कारण है, वहां बुद्धिप्रधान प्रेम आनन्द का कारण है। लौकिक विषयप्रेम दुःख का प्रवर्तक बनता हुआ शोक में ही अन्तर्मग्न है। तीसरा है पार्थिव भूताग्नि, किंवा पाशुपताग्नि। यही पशुपति रुद्र है। यह अर्थशक्ति के अधिष्ठाता हैं, भूतपति हैं। रुलाना इनका स्वाभाविक कर्म है, अतएव-'सोऽरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' के अनुसार रोदनकर्म के अधिष्ठाता यह पार्थिव भूताग्नि रुद्र नाम से प्रसिद्ध हैं। अर्थजात में (सांसारिक विषयों में) अत्यधिक आसक्ति रखने से मोह का उदय होता है। यह मोह विज्ञानशक्ति (सोमाग्नि) को निर्बल बनाता हुआ मन को सबल बनाता हुआ सजातीय सम्बन्ध से अर्थशक्ति प्रवर्तक पार्थिव भूताग्नि का अनुमाहक बनता हुआ पार्थिवाग्नि को क्षुब्ध कर डालता है। इस क्षोभ से जो रौद्र पानी उत्पन्न होता है, वही शोकाश्रु नाम से प्रसिद्ध है। यदि यह पानी शरीर में ही रहजाता है तो वैचित्य (पागलपन) राजयक्ष्मा आदि रोग उत्पन्न होजाते हैं। दुःख के आकस्मिक वेग से यही रुद्र संहार के कारण बनजाते हैं। जिसे रोना आता हो, उसे जीभर के रोलेना चाहिये। खूब अश्रुपात करलेने दिए। इससे शरीर हलका होजाता है। जो मनुष्य इन आंसुओं को पी जाते हैं—वे अवश्य रोगी बन जाते हैं। चौथा वैश्वानराग्नि है। मूत्रादि की उत्पत्ति इसी अग्नि से होती है।

उक्त अग्निचर्चा से पाठकों को यह विदित होगया होगा कि पानी अग्नि से उत्पन्न होता है। ग्रीष्म के अनन्तर वर्षा का आगमन प्रकृतिसिद्ध है। अग्नि में ताप है, पानी में ताप नहीं-वह ठंढा है। वस्तुतः अग्नि ही तो पानी बना है, अतएव पानी को ठंढा अग्नि (ठंढी आग) कहा जाता है। प्रकारान्तर से विचार करिए। परिश्रम-प्रेम-शोक भेद से अध्यात्मसंस्था में तीन ही प्रकार के पानी प्रधानरूप से उत्पन्न होते हैं। ललाटस्वेद परिश्रमजन्य है। इसका

प्रभव स्वायम्भुव अग्नि है । शरीर में मूलद्वार से नाभि पर्यन्त पृथिवीलोक है, यही वस्तिगुहा है। हृदय पर्यन्त अन्तरिक्षलोक है, यही उदरगुहा है । हृदय से कण्ठ पर्यन्त द्युलोक है, यही उरोगुहा है, यही सूर्यलोक है । मस्तक चौथा पारमेष्ठ्यलोक है, यही शिरोगुहा है, यही स्वयम्भू भगवान् प्रतिष्ठित हैं । इसी ब्रह्मप्रजापति की सत्ता से येशान्तस्थान ' ब्रह्मरन्ध्र ' नाम से प्रसिद्ध है । परिश्रम से इनके वाक् भाग पर आघात होता है, पानी उत्पन्न होजाता है । इसी का नाम पसीना है । इसी को हमनें ' अम्भः ' कहा है ।

सूर्य देवाग्निमय बतलाया गया है । इसी को शुक्राग्नि भी कहते हैं । ग्रहप्रकरण में चन्द्रमा ' मन्थी ' ग्रह नाम से, सूर्य शुक्रग्रह नाम से प्रसिद्ध है । प्रेमानन्द में एवं शोक में दोनों में अग्नि क्षुब्ध होता है । इस से मन पिघल जाता है । यद्यपि मनोरस सभी इन्द्रियों से निकलता है, परन्तु इसका प्रधान विनिर्गम स्थान चक्षु ही है । अतएव चक्षुस्थ बिन्दुको मानस (लोकभाषा में 'माराण्या' नाम से प्रसिद्ध) कहा जाता है । अतएव दोनों पानी मन के द्वारा चक्षु से ही बाहर निकलते हैं । मन चान्द्र है । चन्द्रमा सोम रसमय है, अब्मूर्त्ति है । यदि पवित्र सौर अग्नि का इस पर आघात होता है तो चान्द्रमन द्रुत होता है । इस द्रुति में प्रेमका उद्रेक है । अतएव इसे ' प्रेमरस ' कहा जाता है । इस रसका प्रसरण कुल पांच भागों में विभक्त है । वे पांचों रसनावस्थाएं श्रद्धा–वात्सल्य–स्नेह–काम–रति इन नामों से प्रसिद्ध हैं । हमारा मनोरस यदि गुरु-पिता–माता–ज्येष्ठभ्राता विद्वान्–तपस्वी–आदि पूज्यों की ओर जाता है तो इस परानुयोगिक-अवरप्रतियोगिक प्रेम को 'श्रद्धा' कहा जाता है । यदि हमारा मन पुत्र–सेवक–आदि छोटों की ओर जाता है तो वह अवरानुयोगिक परप्रतियोगिक प्रेम वात्सल्य कहलाता है । इन दोनों में एक का आसन ऊंचा है, एक का नीचा है । श्रद्धा में प्रेम करनें वाला अवरकक्षा में है, जिन के साथ प्रेम किया जाता है, वे उच्चकक्षा में हैं । वात्सल्य में प्रेम करनें वाला उच्चकक्षा में है, जिन के के साथ प्रेम किया जाता है, वे अवरकक्षा में हैं । दो अभिन्नमित्रों का पारस्परिक प्रेम ' स्नेह ' नाम से प्रसिद्ध है । यह प्रेम ' समानप्रतियोगिक समानानुयोगिक ' है । यहां दोनों समान हैं । श्रद्धा—वात्सल्य—स्नेह तीनों प्रेमों में प्रेम करनें वाले भी चेतन हैं, एवं

जिन के साथ प्रेम किया जाता है वे भी चेतन हैं। परन्तु पुस्तक–मकान–वित्तादि अन्य स्थावर संपत्ति के साथ जो हमारा प्रेम है, उसमें केवल 'काम' का विकास है। जड़वस्तु के साथ प्रेम करना ही काम है। उक्त चारों प्रेमों का यदि एक ही स्थान में समावेश होजाता है तो–'रति' नाम के अपूर्वभाव का उदय होता है। रतिप्रेम के अधिकारी विश्व में केवल दो ही हैं। स्त्री और ईश्वर इन दो के साथ ही रतिप्रेम घटित होता है। स्त्री को हम घर की अधिष्ठात्री समझते हैं। गृहलक्ष्मी को हम श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं साथ ही में पुत्रादिवत् स्त्रीपर हमारा वात्सल्यभाव भी रहता है। स्त्री एक सम्मित्र की भांति उचित परामर्श देने वाली जीवनसङ्गिनी है। सर्वथा जड़ स्त्री के केशपाश, नासिका, भौंह, कपोल वेशभूषा–नूपुरध्वनि आदि के साथ मनुष्य का जो प्रेमाकर्षण है, वह कामरूप है। यही रति है। जब तक यह रति स्त्री के साथ है, तब तक संसार है, बंधन है। यही रति यदि ईश्वर के साथ होजाती है, जोकि रति भक्तसंप्रदाय में 'प्रेमाभक्ति' नाम से प्रसिद्ध है तो मुक्ति है। बंधन मुक्ति का यही रहस्य है। बलादरुद्राग्नि के आघात से जो पानी निकलता है, वही शोकाश्रु है। प्रवृतिमण्डल में इसी रुद्राग्निजन्य पानी से रजत (चांदी) का निर्माण होता है। चादी रुद्र के आसुओं से बनी है। इसी लिए–'बर्हिषि रजत न देयम्' यह आदेश है। बर्हि में यदि यजमान रजत दक्षिणा दे देगा तो, एक वर्ष के भीतर भीतर वह महाप्रयाण कर जायगा। इसी लिए रजतदक्षिणा का निषेध किया गया है। इस प्रकार अनेक दृष्टियों से पानियों की उत्पत्ति का विचार किया जासकता है।

यह तो हुई प्रासङ्गिक चर्चा। अब चलिए प्रकृत विषय की ओर। अभी केवल वेदमूर्ति स्वायम्भुव प्राणमय यजुरग्नि का साम्राज्य है। अग्नि ऋजुःपन्था है। इसका प्रदेश नियत है। इस यजु के वाक् भाग से जो तत्व उत्पन्न हुआ वह ऋजु न रहा, अपितु व्याप्त होगया। पानी की बूंद आप जहां भी डालेंगे, वह नियत प्रदेश में न रहकर चारों ओर फैल जायगी। इसी व्याप्ति, किंवा व्याप्तिधर्म से यह उत्पन्न तत्व 'आप' नाम से व्यवहृत हुआ है। वेदत्रयी के वाक्भाग से उत्पन्न इस 'आप' किंवा 'अप्' तत्व में जाया–धारा–आप–जीवन–अमृत भेद से पांच प्रकार के बल उत्पन्न होते हैं। इन सबकी आधारभूमि महामाया नाम का बलकोश

है, जैसा कि पूर्व की परात्परनिरुक्ति में बतला या जाचुका है । इन पांचों बलों की उत्पत्ति में प्रजापतीच्छा ही प्रधान कारण है । 'उसे ऐसी इच्छा ही क्यों हुई, ?' यह अनतिप्रश्न है । हम भोजन क्यों करते हैं ? इसका उत्तर है—हमें भोजन की इच्छा होती है इसलिए । परन्तु–भोजन की इच्छा क्यों हुई ? इस प्रश्न का उत्तर देने में हम असमर्थ हैं । अधिक से अधिक 'ईश्वरेच्छा' कहकर पीछा छुड़ालिया जाता है । जब हम हमारी इच्छा का ही उत्तर नहीं दे सकते तो ईश्वरेच्छा के सम्बन्ध में क्या कहा जासकता है । ईश्वरतत्त्व अनुमान सिद्ध है । क्रिया से (बहिर्व्यापार से) प्राण का अनुमान होता है, क्योंकि बिना प्राण (अन्तर्व्यापार–प्रकृति) के बाह्यव्यापार नहीं होसकता । प्राणव्यापार बिना इच्छा के संभव नहीं है । सम्पूर्ण विश्व क्रियामय है । इसका संचालन प्राण से होरहा है । प्राण का उद्गम स्थान इच्छा है । साथ ही में यह सब निर्माण हमारी इच्छा से कोई सम्बन्ध नहीं रखता । अतएव मानना पड़ता है कि सृष्टिनिर्माण में जो कुछ वैचित्र्य उत्पन्न होता है, वह सब प्रजापति की इच्छा पर निर्भर है । वह जैसा जैसा चाहता है, वैसा वैसा ही बना डालता है । तभी तो 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' इस वाक्य को यथावत् चरितार्थ होने का अवसर मिलता है । पूर्वोक्त आपादि पांचों बलों का आधारभूत आप उसी की इच्छा से उत्पन्न हुआ । वेद प्रजापति, किंवा वेदावच्छिन्न षोडशी प्रजापति कामना द्वारा अपने वेद के वाक् भाग से सर्व प्रथम पानी उत्पन्न करता है । पानी उत्पन्न कर 'त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्'(शत० ६।१।१।१०) के अनुसार उत्पन्न आपोमण्डल के गर्भ में प्रविष्ट होजाता है । इससे मण्डल (ब्रह्माण्ड) का उदय होजाता है–'तत् आण्डं समवर्तत' । इस प्रकार अप्प्रविष्ट प्रजापति आगे की सृष्टि कामना से प्रेरित होकर सृष्ट्युपयोगिनी 'मैं इन पानियों से संसार को अपने ऊपर धारण करूं' यह कामना करता है । उसी क्षण सत्यकाम सत्यसंकल्प प्रजापति की उक्त इच्छा से उस पानी में एक प्रकार का धृतिबल (प्रतिष्ठा बल) उत्पन्न होजाता है । यही प्रतिष्ठाबल गोपथादि श्रुतियों में 'धाराबल' नाम से व्यवहृत हुआ है । वास्तव में सातो लोकों को पानीने ही धारण कर रक्खा है । लोक सबकी प्रतिष्ठा है, लोक की प्रतिष्ठा आप् है । आप् पुरंजन ही तो लोकसृष्टि का अधिष्ठाता है—'सर्वमप्सु प्रतिष्ठितम्' ।

धाराबल को उत्पन्न करने के अनन्तर-'मैं इन पानियों से सब कुछ उत्पन्न करूं' इस इच्छा का उदय होता है। इस इच्छा से पानी में प्रजनन शक्ति आजाती है। सचमुच संसार एवं संसार में रहने वाले पदार्थमात्र की उत्पत्ति पानी से ही होती है। शुक्रतत्त्व उत्पत्ति का कारण है। शुक्र पानी का ही रूपान्तर है। फेन-मृत्-सिकता-शर्करा-अश्म-हिरण्य सब पानी से बने हैं। पानी ओषधि बना है, ओषधि शुक्र बना है। इस प्रकार प्रजासृष्टि का मूलोपादान भी पानी ही है, जैसा कि—छान्दोग्य की 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इत्यादि पञ्चाग्निविद्या में स्पष्ट है। यह दूसरा बल ही विश्व एवं विश्वप्रजा की उत्पत्ति का कारण है, अतएव 'जायते अस्यां' इस निर्वचन से इस बल को 'जायाबल' कहा जाता है। विशुद्ध जायाबल तबतक सृष्टि करने में असमर्थ है, जब तक कि वह अग्निरूप पुरुषबल को अपने में प्रतिष्ठित न करले। जायारूप शुक्रमय पानी मातरिश्वा की प्रेरणा से उस अग्निवेद को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित कर लेता है। ऐसा अग्निगर्भित जाया पानी ही प्रजननधर्मा है। स्त्री स्वयं जाया है, सौम्या है। सोममय जायाबल ही स्त्री का उपादान कारण है। अग्नि पुरुष है। वही इस जायाभाव से वेष्टित गर्भगत शोणित है। स्त्री का (गर्भाशयगत) शोणित साक्षात् अग्नि है। यह जायाभाव से नित्य वेष्टित है। अब पुरुष के शुक्र को लीजिये। शुक्र सोमरूप जाया है। शुक्र में रहने वाली गर्मी पुरुष है। स्त्रीवत् पुरुष भी जाया है। औपपातिक आत्मा सर्वप्रथम पुरुषशरीरस्थ शुक्रावच्छिन्न इसी जाया में गर्भधारण करता है। यही प्राणी का प्रथमजन्म कहलाता है। पुरुष के सर्वाङ्ग शरीर का शुक्र पुरुषाकार को अपना आयतन बनाकर ही शोणित में आहुत होता है। शरीर के जिस प्रदेश का शुक्र आहुत नहीं होता, उत्पन्न प्रजा में उसी अङ्ग की कमी रह जाती है। शुक्र द्वारा माता के गर्भाशय में प्राणी का प्रतिष्ठित होना इस का दूसरा जन्म है। १० मास के अनन्तर प्रसवमरुत् के अस्याघात से गर्भ का भूमिष्ठ हो जाना इस का तीसरा जन्म है। श्रौतस्मार्त संस्कारों से निर्धूतपाप्मा बन जाना चौथा जन्म है। 'चतुष्पद् वा इदं सर्वम्' के अनुसार इस चतुर्थ जन्म में प्राणी सर्वस्व भाव को प्राप्त होता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर महर्षि महीदास कहते हैं —

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति यद्रेतः। तदेतत् सर्वेभ्यो—ऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति" (ऐ. आ. २। ५। १।)

जायाबलोत्पत्ति के अनन्तर 'मैं इन पानियों से उत्पन्न विश्व में एवं प्रजा में अन्नरूप से व्याप्त होजाऊं' यह इच्छा होती है। इच्छा के अव्यवहितोत्तरकाल में ही पानी में आविर्भाव उत्पन्न होजाता है। पानी की अप्–वायु–सोम यह तीन अवस्थाएं हैं। फैलना इस अप्त्रयी का स्वाभाविक धर्म है। संसार के इतर पदार्थों को आप जिस नियत प्रदेश में रख देंगे, वे उस स्थान से आगे नहीं बढ़सकेंगे। परन्तु पानी–हवा–सोम में यह बात नहीं है। एक बिन्दुमात्र पानी भी जहां गिरेगा वहां से आगे फैल जायगा प्रजापति किस रूप से विश्व में व्याप्त हो रहे हैं? इसका उत्तर यही पानी है। अन्नरूप से प्रजापति सब पर व्याप्त हैं, अप् से ही सब का संवरण कर रक्खा है। अतएव 'सर्वमाप्नोत तस्मादापः' "यदवृणोत् तस्माद् वाः" (शत० ६।१।१।७।) इत्यादि के अनुसार इस तत्त्व को– आप्–वारि इत्यादि नामों से व्यवहृत किया जाता है। अप्तत्त्व की इरा (रस) स्थिर नहीं है, बहती हुई है, अतएव व्याप्तिलक्षणा है। इरारस का प्रस्रवण ही व्याप्ति में प्रधान कारण है। अतएव पानी को 'सरित्–इरा यस्य' के अनुसार 'सरिर' कहा जाता है। सरिर् ही सलिल नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि यह ठीक है कि यही पानी लोकरूप में परिणत होकर द्रुतभाव को छोड़देता है, उस समय यह सरिर नहीं रहता। परन्तु लोकसृष्टि के पहिले तो यह सरिर ही रहता है। अप् की इसी पूर्वावस्था को लक्ष्य में रखकर–'आपो वा इदमग्रे सलिलमेवास' (शत. ११।१।६।१) यह कहा जाता है। 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' (यजुः सं० १३।४) के अनुसार वेदमूर्त्ति अव्यक्त, अतएव अनिरुक्त नाम से प्रसिद्ध प्रजापति 'क' नाम से व्यवहृत होता है। यह क (अनिरुक्त) प्रजापति पानी उत्पन्न कर सर्वत्र व्याप्त होता हुआ, दूसरे शब्दों में पानी के कारण सर्वप्रजापति किंवा निरुक्त बनता हुआ 'अलम' संपत्ति से युक्त हो जाता है। क-प्रजापति की कामना को 'अलम्' बनानें वाला यही पानी है। अतएव "कं (अनिरुक्तप्रजापतिं) अलं (सर्वभावयुक्त) करोति" इस व्युत्पत्ति से पानी को 'कमल' कहा जाता

है। उधर कमल नाम का एक पुष्प भी है। कमलपत्र ही पुष्करपर्ण है, जैसा कि त्रयीवेद-निरुक्ति में बतलाया जाचुका है। यह भी आपोमय है। यही वेदमय अनिरुक्त प्रजापति की पहिली प्रतिष्ठा है। अतः इसे भी 'कं—अलं करोति' से कमल कहना अन्वर्थ बन जाता है। लोकसृष्टि का अधिष्ठाता पानी ही है। 'लोकस्तु भुवने जने' के अनुसार लोक का ही नाम भुवन है। पानी ही लोक है, अतएव पानी को 'भुवन' नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। बतलाना यही है कि पानी में आसिलक्षण तीसरा 'आपोवत्स' उत्पन्न होता है।

आपोवत्स के अनन्तर—'मैं इन पानियों से जीवन का संचार करूं—पदार्थों में जीवनीय शक्ति डालूं' इस इच्छा से पानी में चौथा जीवनवत्स उत्पन्न होता है। वस्तु की स्वस्वरूप में जो स्थिति है, वही उस वस्तु का जीवन है। स्थितिविच्युति का नाम ही मृत्यु है। ठहरी हुई वस्तु में जो गतिप्रवाह है, वही जीवन का सूचक है। प्रतिष्ठावत्स के उच्छिन्न हो जानें से जिस समय गतिवत्स उत्क्रान्त हो जाता है, उसी क्षण मृत्यु का साम्राज्य होजाता है। इस मृत्युभाव को रोकनें वाला यही आप्यप्राणरूप वायु है। यह कल्याणकर है, आपोमय प्राण ही कल्याण (जीवन) का अधिष्ठाता बनता हुआ आपोमय होनें से 'साम्बसदाशिव' नाम से प्रसिद्ध है। यही शिव जीवनसत्ता की प्रतिष्ठा है। यही जीवनीय रस है। इसी के लिये 'यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः' (यजुः सं. ११।५१) यह कहा जाता है। हम प्राण को जीवनसत्ता का कारण समझते हैं। परन्तु वास्तव में अपूतत्व का जीवनीयरस ही जीवन का हेतु है। जब तक प्राण में यह रस रहता है, तभी तक जीवन है। मनुष्य १५ दिन तक अन्न के बिना जीवित रह सकता है, परन्तु पानी के बिना जीवन धारण करना अशक्य है। मन के मरजानें से मृत्यु नहीं होती, प्राण निकलनें से मृत्यु होती है। इस प्राण का रक्षक यही आप्यरस है। 'प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति' (प्र. उ. ४।३) के अनुसार यह अबुर्गभित प्राणाग्नि सतत जागृत रहता है। इस प्रकार प्राण में जीवनीय शक्ति डालनें वाला आपोवत्स ही 'जीवनवत्स' नाम से प्रसिद्ध है।

पांचवां ऋतबल है। इसी ऋतबल को 'परिश्रित' भी कहा जाता है। 'आपो वै परिश्रितः' (शत.१।४।३।६) के अनुसार प्रत्येक पिण्ड इस ऋतबल से आक्रान्त रहते हैं। ऋत के उदर में मूर्त्ति प्रतिष्ठित रहती है। प्रत्येक पिण्ड को स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रखना ऋतबल का मुख्य काम है। वस्तुपिण्ड सत्य है। वह ऋत से घिरा रहता है। स्वयं पिण्ड के भी प्रत्येक परमाणु ऋतरूप हैं। इस प्रकार अन्ततोगत्वा ऋत पर ही सब का पर्यवसान हो जाता है। 'ऋतं नात्येति किञ्चन' यह सिद्धान्त प्रसिद्ध है।

इस प्रकार प्रजापति की इच्छा से वाङ्मय स्वायम्भुव पानी में जाया-धारा-आप-जीवन-ऋत यह पांच बल उत्पन्न हो जाते हैं। इन पाचों बलों से ही पाङ्क्तयज्ञप्रजापति का पाङ्क्तरन्न स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है। गोपथब्राह्मण के आरम्भ में ही इन बलों का विवेचन हुआ है।

१–"अद्भिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्च" →→→ इति 'धारा'		सर्वमप्सु प्रतिष्ठितम्
२–"अद्भिर्वा इदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्च" →→→ इति 'जाया'		
३–"अद्भिर्वा इदं सर्वं–आप्स्यामि यदिदं किञ्च" →→→ इति 'आपः'		
४–"ऊर्क्–वा अपां रसः । ऊर्क् जीवनम्" →→→ इति 'जीवनम्'		
५–"ऋतं भूमिरियं श्रिता" .... →→→ इति 'ऋतम्'		

१—"सर्वमप्सु प्रतिष्ठितम्"—इति—धाराबलम्	"आपो वै सर्वे देवाः। जायमानो वै जायते एताभ्यो देवताभ्यः" इति निगमो भवति।
२—"सर्वमद्भ्यः प्रजायते"—इति—जायाबलम्	
३—"सर्वमापोमयं जगत्"—इति—आपोबलम्	
४—"आपोमयः प्राणः"—इति—जीवनबलम्	
५—"ऋतं नात्येति किञ्चन"—इति—ऋतबलम्	

सबसे पहिले क्या था? उत्तर है 'वेदमय प्राणमूर्ति असत् नाम से प्रसिद्ध सप्तपुरुषपुरुषात्मकस्वयम्भू सत्य प्रजापति'। 'एकाकी न रमते तद्द्वितीयमैच्छत् पतिश्च पत्नीच'

के अनुसार सृष्टिकामना से उसने तप और श्रम किया । इससे उसके प्राण में क्षोभ उत्पन्न हुआ । क्षोभ से दूसरे विष्णु नाम के अक्षर की सहायता से दूसरीवस्तु उत्पन्न होगई । उस दूसरी वस्तु का क्या नाम है ? उत्तर है 'सुवेद' । यदि कोई मनुष्य परिश्रम करता है तो सर्वप्रथम उसके ललाट पर स्वेद [पसीनें] उत्पन्न होते हैं । अत्यधिक परिश्रम से सारे रोमगर्तों से पसीनें चूने लगते है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जाचुका है । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है-

"स भूयोऽश्राम्यत्-भूयोऽतप्यत । भूय आत्मानं संतप्तस्य-
सर्वेभ्यो रोमगर्तेभ्यः पृथक् स्वेदधाराः प्रास्यन्दत"—(गो० ब्रा० पू० १।१)।

स्वयम्भूप्रजापति से उत्पन्न इसी सुवेद का नाम 'अथर्वेद' है । अपृतत्त्व ही अथर्व है। त्रयीवेद अग्निमय होनें से उग्र है । यह अप्वेद किंवा सोम्वेद शान्त है । अग्निवेद ही आंशिकरूप से पनी बनकर शान्त बन जाता है । यही इसका सुष्ठुभाव है, अतएव इसे 'सुवेद' (शांतवेद) नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बन जाता है । इसी सुवेद को परोक्षप्रिय देवता अपनी स्वाभाविक परोक्षभाषा में 'स्वेदवेद' नाम से व्यवहृत करते हैं । स्वेद को पसीना कहा जाता है । यदि आप सीधी भाषा में अथर्ववेद का स्वरूप पूंछना चाहते हैं तो इसका उत्तर है–आपके ललाट पर आए हुए पसीनें । ब्रह्मप्रजापति के स्वेद ही का नाम 'अथर्ववेद' है । त्रयीब्रह्म प्रथमज था, यह दूसरा है । त्रयीब्रह्म अग्निमूर्त्ति है, यह आपोमूर्त्ति किंवा सोममूर्त्ति है। त्रयीब्रह्म वृषा है, यह योषा है । वह प्राण है, यह रयि है । यह है विश्वनिर्माता–दम्पती । इसके मिथुन भाव से सर्वप्रथम विराट् पुरुष उत्पन्न होगा, विराट् से आगे की सृष्टिएं होंगी । अग्नरूप योषातत्व, वेदत्रयीरूप वृषातत्व दोनों ही सृष्टि के प्रभव हैं. एवं प्रभव को 'ब्रह्म' कहा जाता है । ऐसी अवस्था में हम उक्त दोनों तत्वोंको 'ब्रह्म' कह सकते हैं । एक वेदब्रह्म है, एक सुवेदब्रह्म है । त्रयीवेद ब्रह्म नाम का ब्रह्म है, अथर्ववेद सुब्रह्म नाम से प्रसिद्ध है । जैसा कि–'ब्रह्म च वा इदमग्रे सुब्रह्म चास्तास्' (षड्विंशब्रा. १।१।१) इत्यादि से स्पष्ट है । यह है चौथे अथर्ववेद का संक्षिप्त दिग्दर्शन । सुब्रह्म में आगे जाकर पूर्वोक्त जाया धारादि बल उत्पन्न होते हैं । यही बल याज्ञिकी एवं मैथुनीसृष्टि के अनुग्राहक है । ज्यों ज्यों नवीन नवीन पदार्थ

उत्पन्न होते जाते हैं, त्यों त्यों प्रजापति की–'एकोऽहं बहुस्याम्' यह कामना पूरी होती जाती है। यही इसका भूमाभाव है, भूमाही आनन्द है। प्रत्यक्षदृष्ट विश्वभूमा प्रजापति के आनन्द के साक्षात् दर्शन हैं। इसी सारे रहस्य को लक्ष्य में रखकर सामश्रुति कहती है–

"ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत्, स्वयं तु–एकमेव। तदैक्षत–महद्वै यक्षं–तदेकमेवास्मि, हन्ताहं मदेव मन्मात्रं द्वितीयं देवं निर्ममे–इति। तदभ्यश्राम्यत्, अभ्यतपत्, समतपत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य संतप्तस्य ललाटे स्नेहो यदार्द्र्यमजायत–तेनानन्दत्। तमब्रवीत्–महद्वै यक्षं सुवेदमविदामह इति। तद्यदब्रवीत्–महद्वै यक्षं सुवेदमविदामह इति, तस्मात् सुवेदोऽभवत्। तं वा एतं सुवेदं सन्तं स्वेद इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः। + + + + + +। स भूयोऽश्राम्यत्, भूयोऽतप्यत, भूय आत्मानं समतपत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य संतप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्तेभ्यः पृथक् स्वेदधाराः प्रास्यन्दत। ताभिरनन्दत्। तदब्रवीत्–आभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा अहमिदं सर्वं–आप्स्यामि यदिदं किञ्च, इति। तद्यदब्रवीदाभिर्वा० तस्माद् धारा अभवंस्त-द्धाराणां धारात्वं, यच्चासु ध्रियते। तद्यदब्रवीत्–आभिर्वा० तस्माज्जाया अभवंस्तज्जायानां जायात्वं, यच्चासु पुरुषो जायते, यच्च पुत्रः पुन्नामनरकमेकशततारं तस्मात् त्राति पुत्रस्तत् पुत्रस्य पुत्र-त्वम्। तद्यदब्रवीत्- आभिर्वा० तस्मादापो अभवंस्तदपामप्त्वम्। आप्नोति ह वै सर्वान् कामान् यान् कामयते" इति। (गोपथब्राह्मण पूर्वभाग १ प्र० । १–२–ब्रा०)

इति-अथर्ववेदनिरुक्तिः

मन्त्रार्थसम्बन्धी–वेदप्रकरण समाप्त।



मन्त्रार्थ प्रकरण



सृष्टिकामुक ब्रह्म के-इच्छा तप श्रम से सुब्रह्मतत्त्व में सर्वप्रथम जाया धारा, आप, जीवन, ऋत,यह पांच बल उत्पन्न होते हैं, जैसा कि पूर्वप्रकरण में बतलाया जाचुका है। अयोधन प्रजापति का पहिला कार्य सुब्रह्म था, पञ्चबलोत्पत्ति दूसरा कार्य है। इच्छा-तप-श्रम का विश्राम नहीं है। तीनों व्यापार निरन्तर होते रहते हैं। फलतः नए नए पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं। इच्छातपादि सृष्टि-अनुबन्धों से आगे जाकर भृगुतत्व उत्पन्न होता है। उत्पन्न होने वाले आपोमय ब्रह्म में क्षार और मधुर यह दो रस उत्पन्न होते हैं। मधुररस आप् का स्वरूपधर्म है, एवं क्षाररस (लवणरस) आश्रित धर्म है। पानी में दोनों कैसे हैं ! इस प्रश्नसमाधि के लिए पसीनें पर दृष्टि डालिए। पसीना सुवेद कि वा सुब्रह्म है। पसीने में उक्त दोनों रस हैं, परन्तु हमारे पसीनें में लवण रस की प्रधानता है। कारण हमारा शरीर पार्थिवभाग प्रधान है, एवं पृथिवी के मूल उपादानों में 'मृत' नाम से प्रसिद्ध क्षारभाग की प्रधानता है। अतएव पार्थिव समुद्र क्षारप्रधान ही होता है। मधुररस अत्यल्प मात्रा है, अतएव प्रायः हमारा पसीना किसी वस्तु को उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि अत्यधिक मात्रा से पसीना चूनें लगता है तो उस में मधुररस अधिकमात्रा से संघठित होजाता है। यह किसी कृपास्थान में गिर कर सृष्टि का कारण बन जाता है। योषारूप हमारे पसीनों के साथ जब वायुगत वृषाग्नि का सम्बन्ध होता है तो इस योषा वृषा के मिथुनभाव से पसीनों में सूक्ष्मजीवाणु उत्पन्न होजाते हैं, जिनका कि दूरवीक्षण यन्त्र अथवा माइक्रोसकोप (English) से प्रत्यक्ष किया जासकता है। रुद्रावतार पवनपुत्र के इन्हीं संचित पसीनों से (मत्स्यगर्भ में) सुप्रसिद्ध मकरध्वज का जन्म हुआ था। इस प्रकार जीवप्रजापति के स्वेद में दोनों रस उपलब्ध होते हैं। अतएव तत्प्रभव ईश्वरप्रजापति में भी दोनों की सत्ता माननी पड़ती है। अन्तर केवल इतना है कि यहां (ईश्वर में) मधुररस की प्रधानता है, क्षाररस अत्यल्पमात्रा में है। कारण स्पष्ट है। हमारे में पञ्चीकृत अन्नाद (पृथिवी) की प्रधानता थी, उस में पञ्चीकृत प्राण

की प्रधानता है। पञ्चीकृत प्राण में भी क्षारस्वरूपसमर्पक अन्नाद भाग (पार्थिव भाग) है, परन्तु अत्यल्पमात्रा में। इसी प्राजापत्य पानी से गांगेय पानी की स्वरूप निष्पत्ति हुई है, अतः पार्थिव पानियों की अपेक्षा गांगेय पानी अतिमधुर है, यह साक्षात् सोम है, अमृत है, जीवनीय रस है, दोष (कीटाणु) नाशक है। इसी शान्त मधुर- अमृत रसभाग से भृगुतत्त्व का विकास होता है। भर्जनशील तत्त्व ही भृगु है। इस भृगु की घन-तरल-विरल भेद से तीन अवस्थाएं होजातीं हैं। घनावस्था आप नाम से, तरलावस्था वायु नाम से, एवं विरलावस्था सोम नाम से प्रसिद्ध है। दूसरे शब्दों में घनावस्थापन्न भृगु आप, तरलावस्थापन्न भृगु वायु, विरलावस्थापन्न भृगु सोम नाम से व्यवहृत होता है। अप् तत्त्व का मधुररस ही सृष्टि का उपादान बनता है। अतएव इसे 'रेत' [उपादानद्रव्य-शुक्र] कहा जाता है। वही रेत वेदाग्नि से संतप्त बन कर भृगु रूप में परिणत होता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"ता अपः सृष्ट्वाऽन्वैक्षत, तासु स्वां छायामपश्यत्। तमस्येक्षमाणस्य स्वयं रेतोऽस्कन्दत्। तदप्सु प्रत्यतिष्ठत्। तास्तत्रैवाभ्यश्राम्यत्, अभ्यतपत्, समतपत्। ताः श्रान्तास्तप्ताः संतप्ताः सार्द्धमेव रेतसा द्वैधमभवन्। तासामन्या अन्यतरा अतिलवणा अपेया अस्वाद्व्यः। ता अशान्ता रेतः समुद्रं वृत्वाऽतिष्ठन्। अथेतराः पेयाः स्वाद्व्यः शान्तास्तत्रैवाभ्यश्राम्यत्, अभ्यतपत्, समतपत्। ताभ्यः श्रान्ताभ्यस्तप्ताभ्यः संतप्ताभ्यो यद्रेत आसीत्, तदभृज्यत। यदभृज्यत तस्माद् भृगुः समभवत्, तद् भृगोर्भृगुत्वम्। भृगुरिव वै सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद"—(गो० पू० १।३-) इति। 'वायुरापश्चन्द्रमा इत्येते भृगवः' [गो० पू० २।८]।

उक्त भृगुतत्त्व में पारमेष्ठ्य आप्य प्राण [वरुण] की प्रधानता रहती है। आपोमय रेत ही भृगुरूप में परिणत होताहै, अतएव 'तं वरुणो न्यगृह्णीत, तस्मात् स भृगुर्वारुणिः' (ऐ० ब्रा०-३।३४) इत्यादि के अनुसार इसे वारुणि (वरुणपुत्र) माना जाता है। स्वसोमशक्ति से यही अर्चि [प्रकाश] रूप में परिणत होता है। दीपशिखा अंगिरा है, दीपप्रभा भृगु [जलता हुआ

सोम] है, इसी आधार पर 'अग्निरिपिभृगुः, संबभूव, अङ्गारेष्वङ्गिराः सम्बभूव' ("'"") इत्यादि कहा जाता है सोमशक्ति से ही यह पदार्थों का संहनन[संघात–एकीकरण]करता हुआ गतिशील बनता है, अतएव 'भ्रिअन्–गच्छति' इस निर्वचन से इसे भृदगु' कहा जाताहै । भृदगु ही परोक्षभाषा में भृगु नामसे प्रसिद्ध है । संकोच इसका स्वाभाविकधर्म है । तरला-वस्थापन्न भृगु को हमनें वायु बतलाया है । इस वायु की [भार्गववायु की] प्राण–पवमान–मातरिश्वा-सविता यह चार अवस्थाएं हैं । चारों के भिन्न भिन्न कर्म हैं । श्वासप्रश्वासरूप प्राणवायु 'पवमान' है । यह पवमानवायु (Oxygen) और अम्भ नाम का प्रथम आप (Hydrogen दोनों संसृष्ट होकर स्थूल पानी के उपादान बनते हैं, दूसरे शब्दों में पवमान और अम्भके रासायनिक संयोगसे पीनेका पानी उत्पन्न होता है। यही पानी म्रियमाण–मूर्च्छित होनें से मर' [मरणधर्मा] नाम से प्रसिद्ध है । दूसरा है मातरिश्वा वायु । संकेतभाषा के अनुसार माता पिण्ड का नाम है, पिता महिमामण्डल का नाम है। पिण्ड को पृथिवीशब्द से, महिमा को द्यु शब्द से व्यवहृत किया जाता है। सभी पिण्ड पृथिवी हैं, सभी महिमाएं द्यौ हैं। सुप्रसिद्ध पृथिवी की तरह सूर्य–परमेष्ठी–स्वयम्भू आदि सभी पिण्ड पृथिवी हैं । जिस पर आप प्रतिष्ठित हैं, उसी का नाम पृथिवी नहीं है, अपितु वेदिका नाम पृथिवी है, आधारभूमि का नाम पृथिवी है । वेदमूर्त्ति प्रजापति की प्रतिष्ठा का नाम पृथिवी है । इस परिभाषा के अनुसार स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य–चन्द्रमा-पृथिवी–यह पांचों पिण्ड पृथिवी हैं, पांचों ही पृथिवी होनें से 'माता' हैं इस माता के चारों ओर व्याप्त रहनें वाला भार्गव वायु ही 'मातरिश्वा' है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा । अभी केवल यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि पिण्ड के चारों ओर व्याप्त रहने वाला पिण्डस्वरूपसमर्पक एवं रक्षक भार्गव वायु ही 'मातरिश्वा' है। जो भार्गव वायु सांसारिक पदार्थों को कार्यकलाप के लिए प्रेरित करता है, वह प्रेरिता वायु ही तीसरा 'सवितावायु' है । बिना सविता वायु की प्रेरणा के कोई भी प्राण, कोई भी वस्तु गुप्तपुष्टसे नहीं बन सकती । इसी आधार पर–'सविता वै देवानां प्रसविता' यह कहा जाता है । एवं जिस वायु से विश्व के पदार्थ गतिशील बने हुए हैं, अध्यात्मसंस्था में जो

वायु प्राण–अपान–व्यान–समान–उदान भेद से पञ्चधा विभक्त होकर रक्तादि संचार का कारण बनता है, यही चौथा प्राणवायु है। साधारण मनुष्य जिसे वायु कहते हैं, जिसका त्वगिन्द्रिय से हम प्रत्यक्ष करते हैं, जिसके आघात का अनुभव होता है,जिससे मेघ-जल-वृक्षादि विधूयमान होते हैं वह वायु उक्त चारों भार्गव वायुओं से सर्वथा पृथक् तत्त्व है। इस सर्वानुभूत वायु को 'वात'(वात आवात भेषजम्) नाम से व्यवहृत किया जाता है। भार्गववायुचतुष्टयी प्राणरूपा है, यह वातवायु भौतिक है। भार्गववायु के साथ साथ ही एक अंगिरावायु का विकास और होता है। अंगिरा से रुद्र वायु का विकास होता है। रुद्र से ४९ प्रकार के मरुद्वायु का विकास होता है–[मरुतो रुद्रपुत्रासः], मरुत् वायु का विकार मारुत् है, यही वातवायु है। इसी को 'समीरण' कहा जाता है। इसी का हम प्रत्यक्ष कर रहे हैं। वात वायु से सर्वथा विभक्त मौलिक भार्गव वायुओं में से प्राणवायु प्रजापति के पूर्वभाग में (पूर्वादिक् में) उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता है। यहां प्राणवायु का खज़ाना है। यहां से निकल कर प्राणवायु सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त होता है। अतएव पूर्वदिक्स्थ सूर्य के लिए 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः' [प्र० उ० १।८।] यह कहा जाता है। मातरिश्वा वायु दक्षिणदिशा में उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता है। यहां से निकलकर यह सर्वत्र व्याप्त हुआ पिण्डसृष्टि का स्वरूप संपादक बनता है। पश्चिमदिशा में पवमान वायु उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता है। इसी पवमान के लिए—'पवमानो हरित आविवेश' (शत० २।२।५।१।) यह कहा जाता है। एवं चौथा सविता उत्तरदिशा में उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता है।

उक्त चारों वायुओं में से पवमान नामका वायु सौरब्रह्माण्ड में आकर रुद्रसंसर्गसे पवमान-पावक-शुचि यह तीन रूप धारण कर लेता है। घोरमूर्त्ति रुद्र के सम्बन्ध से यह तीनों वायु घोररूप में परिणत होते हुए घोराग्नि नामसे प्रसिद्ध होजाते हैं। एकादशमूर्त्ति पशुपति (महादेव) की सोम आदि आठ मूर्त्तिएं शिव हैं, पवमानादि तीनों रुद्रमूर्त्ति है, घोरतनू है। पवमान भूपिण्ड से संक्रान्त रहता है, पावक अन्तरिक्ष में व्याप्त रहता है, एवं शुक नामसे प्रसिद्ध सूर्यमण्डलरूप द्युलोकस्थ शुचि है। प्राणवायु हमें पूर्व से मिलता है, मातरिश्वा दक्षिण से,

पवमान पश्चिम से, एवं संवित्ता उत्तर से मिलता है। चारों वायु भार्गव हैं। चारों का उत्पत्ति-स्थान [सूर्य से ऊपर) आपोमय परमेष्ठिमण्डल है। यहा से सौरमण्डल में आकर उक्त दिशाओं में क्रमशः उक्त रूप से प्रतिष्ठित होकर उक्त वायु रोदसी त्रैलोक्य के स्वरूपसंपादक बनते हैं।

प्राण-पवमानादि चारों वायु, सोम, आप तीनों भृगु हैं। इस भृगु से आगे जाकर अथर्वा प्राण का विकास होता है। पानी का जो भाग भृगुरूप में परिणत होनेंसे शेष रह जाता है, वही 'अथ-अर्वाक्-परिशिष्यते' के अनुसार 'अथर्वा' कहलाता है। यही परिशिष्ट अथर्वा-भाग आगे जाकर अंगिरा रूप में परिणत होता है। तात्पर्य यह है कि पानी में हमनें मधुर और क्षार भेद से दो रस बतलाए हैं। इन में मधुररस भृगुरूप में परिणत होता है, शेष क्षारभाग अथर्वा कहलाता है। आप पानी को जमीन पर डाल दीजिये। उसका सोमप्रधान मधुर रस तो सूर्यरश्मिगत मधुप्रिय (सोमप्रिय) इन्द्रप्राण द्वारा आकर्षित होकर द्युलोक में चला जायगा, इसी को पानी का सूखना कहते हैं। पानी के बाष्परूप में परिणत होकर उड़जानें से जमीन पर एक सुफेद सा धब्बा रह जाता है, यह साक्षात् क्षार है। मूत्र में क्षार विशेष मात्रा में रहता है, अतएव इसमें क्षारभाग अधिक मात्रा से शेष रहता है। मधुररस मधुरूप द्युलोक के सजातीय आकर्षण से द्युलोक में चला जाता है, क्षारभाग क्षारप्रधान पृथिवी के आकर्षण से यहीं रह जाता है। इसी परिशिष्ट क्षार का नाम '**अथर्वा**' है, यही अथर्वा अंगिरा का जनक है। दूसरे शब्दों में वारुण पानी का मधुभाग भृगु का जनक है, क्षारभाग अथर्वा की प्रतिष्ठा है। मधुररस एवं क्षाररस भृगु-और अथर्वा नहीं है, अपि तु इन रसोंमें रहनेंवाला प्राण भृगु और अथर्वा है। प्रत्येक प्राणी के स्वेद में दोनों रस हैं। इन में मधुररसावच्छिन्न भार्गव प्राण तो द्युलोक में जाता रहता है, एवं क्षाररसावच्छिन्न अथर्वाप्राण यहीं इसी के साथ रहजाता है। मनुष्य के वस्त्रों में, रहनें के मकान में, जहां जहां यह मनुष्य जाता है उन उन स्थानों में अथर्वाप्राण अनुशयरूप से व्याप्त रहता है। इसी अथर्वासूत्र के आधार पर तान्त्रिक लोग कृत्याप्रयोग करनें में समर्थ होते हैं। प्राणियों में श्वानप्राणी (कुत्ता) इस अथर्वा-

प्राण का परिज्ञाता है। जिस रास्ते से चोर भागता है, उस रास्ते में उसका अथर्वाप्राण अनुशयरूप से प्रतिष्ठित होता जाता है। कुत्ता अपनी घ्राणेन्द्रिय से अथर्वाप्राण को पहिचानता हुआ चोर का पता लगा लेता है। अथर्वाप्राण का अंगिरा से सम्बन्ध है। आग्नेय अंगिरा रुधिर में व्याप्त रहता है। इस रक्त सम्बन्ध से एक ही अथर्वासूत्र सतानधारा में प्रतिष्ठित होता हुआ जनन-मरणाशौच का संक्रामक बनता है। अथर्वासूत्र द्वारा एक की अपवित्रता सारे वंशधरों में व्याप्त होजाती है। यह निराकारसूत्र यद्यपि चर्मचक्षुओं से नहीं दिखलाई पड़ता, परन्तु इसके कार्यों से इसकी सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। आपका कोई सम्बन्धी आपसे पाँसौ कोस पर रहता है। यदि उस पर कोई विपत्ति आती है तो तत्काल आपका हृदय व्याकुल हो पड़ता है। यह उसी अथर्वासूत्रसम्बन्ध की महिमा है। विदेशस्थ बन्धु यदि आपको याद करता है तो आपके हिक्का (हिचकी) चलने लगती है। उसके नाम लेते ही हिचकी बंद हो जाती है, यह अनुभूत विषय है। छोटे बच्चों का मन अथर्वा सूत्र सोम की प्रधानता से कोमल रहता है। एवमेव सौम्या स्त्री का भी अथर्वाप्राण निर्बल रहता रहता है, अतएव बच्चों एवं स्त्रियों पर कृत्याप्रयोग अधिक एवं शीघ्र सफल होजाता है। (देखिए शत० १४।६।७।१।)। अथर्वा अंगिरा की विकासभूमि है, अतएव अंगिरा को 'अथर्वाङ्गिरा' नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। एक ओर भृगु है दूसरी ओर अंगिरा है, मध्य में अथर्वा है। मध्यपतित अथर्वा का प्रधानरूप से अङ्गिरा के साथ, गौणरूप से भृगु के साथ सम्बन्ध है। अतएव तन्मध्यपतित-न्याय से दोनों को अथर्वा मानलिया जाता है। भृगु-अङ्गिरात्मक यह अथर्वा सुत्रह्म है। यह उस वेदमूर्ति ब्रह्म की सबसे पहिली सन्तान है, ज्येष्ठ पुत्र है। त्रयीवेद की प्रतिष्ठा न भृगु है न अंगिरा है, अपि तु समष्टिरूप अथर्वा है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह (मुण्डक० १।१।१)।

+ इस विषय का विशद विवेचन श्राद्धविज्ञानान्तर्गत आशौचविज्ञान में देखना चाहिए।

अथर्वा रूद्र है, क्षार है। इससे अंगिरा का विकास होता है, अंगिरासे अग्नि का विकास होता है। उधर भृगु स्नेह तत्त्व है, मधुररस है। अथर्वा की प्रतिष्ठा यही भृगुवेद है। अत एव भृगु को हम सोमवेद की प्रतिष्ठा कह सकते हैं। परन्तु आग्नेयी अथर्वात्रयी त्रयीवेद की प्रतिष्ठा बनती है। दूसरे शब्दों में त्रयीवेद अवस्थात्रययुक्त अग्नि, वायु, आदित्य भेदभिन्न अङ्गिरा पर ही प्रतिष्ठित है। अग्निवेद की प्रतिष्ठा अग्निरूप अङ्गिरा ही बन सकता है।

ऊपर बतलाया गया है कि मध्यपतित अथर्वा दोनों में अन्तर्भूत है। अतएव परमार्थतः भृगु अङ्गिरा यह दो तत्त्व बच जाते हैं। एक मधुप्रधान है तो दूसरा क्षार प्रधान है। सीधी भाषा में एक (भृगु) मीठा पानी है तो दूसरा (अङ्गिरा) खारापानी है। जिस भूप्रदेश में भृगु की प्रधानता रहती है, वहां कूपादि का पानी मीठा होता है, एवं जहां अङ्गिरा की प्रधानता रहती है, वहां खारापानी मिलता है। दोनों ही आपोमूर्त्ति होनेसे 'ऋत' हैं, भृगु भी ऋत है, अङ्गिरा भी ऋत है। आपोमय (भृग्वङ्गिरोमय) परमेष्ठी ऋत है – "ऋतमेव परमेष्ठी"। यद्यपि पारमेष्ठ्य मण्डल में भृगु और अङ्गिरा दोनों आपोमय होते हुए ऋत ही हैं, परन्तु आगे जाकर [सौरब्रह्माण्ड में जाकर] अङ्गिरा सत्यरूप में परिणत होजाता है। भृगु [आप–वायु–सोम] सदा ऋत प्रधान ही रहता है। ऋत अङ्गिरा सत्य का प्रभव बनता हुआ सत्यमूर्त्ति है भृगु ऋत है। स्वयम्भू प्रजापति के तप से उत्पन्न होनें वाले यही ऋत सत्य (भृगु–अङ्गिरा) अहोरात्र के परिप्लवरूप संवत्सरात्मक सूर्य के जनक हैं। यही दोनों 'अर्णव' नाम से प्रसिद्ध रोदसी समुद्र के, एवं द्यावापृथिवीरूप रोदसीत्रैलोक्य के जनक हैं। इसी ऋतसत्यविज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है–

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥ १॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥ २॥

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ ३ ॥

[ऋक् सं० १० मं० । १९० सूक्त । इति ।

अथर्वा को हमनें ब्रह्मा का ज्येष्ठ पुत्र कहा है । यही अथर्वा अग्नि-यम-आदित्य रूप में परिणत होकर भूः-भुवः-स्वः इन तीन लोकों का प्रवर्त्तक बनता है । यही 'रोदसीधाम' है । यह 'अप–अर्वाक्' रूप अथर्वा से उत्पन्न हुआ है, अतएव रोदसी को 'अवमधाम' 'अपराध्यं' आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है । अथर्वा से उत्पन्न होनें वाला अग्नि-यम-आदित्यरूप त्रयीवेद दूसरा वेद है । यही वेद सौरसंस्था का स्वरूपसमर्पक बनता हुआ 'गायत्रीमात्रिक'-नाम से प्रसिद्ध होता है । त्रयीविद्या को साथ लेकर आपोमय समुद्र में प्रविष्ट होनें वाला पुरुष प्रजापति सर्वप्रथम इस अग्नित्रयीवेद को उत्पन्न करता है । विश्व की अपेक्षा स्वायम्भुवब्रह्मनिश्वसित वेद प्रथमज, एवं हमारी सौरत्रिलोकी की अपेक्षा यह वेद सर्वप्रथमज है । ब्रह्मनिश्वसित वेद पुरुषाविनाभूत पुरुषस्वरूपसमर्पक बनता हुआ अपौरुषेय था, परन्तु यह गाय० वेद इस वेदमूर्त्ति पुरुष प्रजापति से उत्पन्न होनें के कारण पौरुषेय है । हिरण्मयमण्डलस्थ त्रयीघन जिस सूर्य को आप देख रहे हैं, हमारे ब्रह्माण्ड में सब से पहिले इन्हीं हिरण्यगर्भभगवान् का आदुर्भाव होता है । इसी सौरवेदत्रयी की उत्पत्ति का क्रम बतलाती हुई वाजिश्रुति कहती है—

"तस्यां (अपौरुषेयवेद) प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत । सोऽपोऽसृजत वाच एव (वेदवाच एव) लोकात्, वागेव साऽसृज्यत । सोऽकामयत-आभ्योऽद्भ्योऽधिप्रजायेयेति, सोऽनया (अपुरुषविधया) त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्, तत आण्डं समवर्त्तत । तदभ्यमृशत्–अस्त्विति । अस्तु–भूयोऽस्तु–इत्येव तदब्रवीत । ततो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत त्रय्येव विद्या–[गायत्रिमात्रिको वेदः]"

[शत० ६ । १ । १ । १०] ।

त्रयीविद्या ही प्रजापति का पहिला ब्रह्माण्ड है। अनन्तर क्रमशः पोषाण्ड, यशोण्ड, रेतोऽण्ड भेद से तीन अण्ड और उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार एक ब्रह्म चार अण्डों में परिणत होकर 'सर्वम्' बनजाता है। चारों अण्डों की समष्टि ही एक रोदसी ब्रह्माण्ड है इसी का नाम सौरमण्डल किंवा सौरत्रिलोकी-(सौरजगत) है।

स्वायम्भुव वैश्वरूप्य [महिमामण्डल] व्योम (परमाकाश) नाम से, पारमेष्ठ्य वैश्वरूप्य समुद्र नाम से व्यवहृत होता है, एवं सौर वैश्वरूप्य ब्रह्माण्ड नामसे प्रसिद्ध है। यह ब्रह्माण्ड उस आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र के गर्भ में बुद्बुदरूप से प्रतिष्ठित है। एवं पारमेष्ठ्य समुद्र स्वयम्भु के वैश्वरूप्य में (परमाकाश में) बुद्बुदरूप से प्रतिष्ठित है। जैसे व्योम का अधिष्ठाता ब्रह्मनिश्वसितवेदावच्छिन्न स्वयम्भू है, समुद्र का अधिष्ठाता सुब्रह्मावच्छिन्न परमेष्ठी है, एवमेव इस ब्रह्माण्ड के अधिष्ठाता गायत्रीमात्रिकवेदावच्छिन्न भगवान् सूर्यनारायण हैं। यह ब्रह्माण्ड के प्रथम अधिष्ठाता हैं। इन्हीं का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है।

हिरण्यगर्भः समवर्चताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
(यजुः० सं० १३।४)

"सर्वप्रथम वेदमयस्वयम्भू ब्रह्म का आविर्भाव होता है. अनन्तर उसके वाक्भाग से आपोमय सुब्रह्म का आविर्भाव होता है। सुब्रह्म भृगु एवं अंगिरामय है। आप-वायु-सोम भृगु हैं, अग्नियमादित्य अंगिरा हैं। छओं की समष्टि आप है। इनमें से आपोमय अंगिरा से गायत्रीमात्रिक वेद उत्पन्न होता है। अंगिरा से उत्पन्न यह वेदतत्त्व सूर्यरूप में परिणत होकर उसी भृग्वङ्गिरोमय अपसमुद्र में प्रतिष्ठित होरहा है। वेदमय सत्य स्वयम्भू का पहिला अवतार पानी है। इस आप का पहिला अवतार गायत्रीमात्रिक नाम

* इस विषय का विशद विवेचन हिरण्यगर्भविद्यामूलक मुण्डकोपनिषत् विज्ञानभाष्य में देखना चाहिये।

का सत्यवेद है" यह पूर्व के सन्दर्भ से भलीभांति सिद्ध होजाता है । साथ ही में यह भी सिद्ध होजाता है कि "आपोमय परमेष्ठी ऋत है । ऋत में ही सारा सत्यविश्व प्रतिष्ठित है ऋत परमेष्ठी का कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता" । इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर निम्न लिखित श्रुतिवचन हमारे सामनें आते हैं—

१—"तद्यत् तत् सत्यमाप एव तत् । आपो हि वै सत्यम् । अप एव तस्य [ब्रह्मनिश्वसितवेदसत्यस्य] अग्रमकुर्वन् । तस्माद्यदवापो यन्ति-अथेदं सर्वं जायते यदिदं किंच" (शत. ७ का. । ४ । १ । ६ । कं.) ।

२—"ऋतमेव परमेष्ठि ऋतं नात्येति किंचन ।
ऋते समुद्र आहित ऋते भूमिरिय श्रिता ॥"

३—"आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम् ।
अन्तरैते त्रयोवेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः ॥"

४—आप एवेदमग्र आसुः । ता आपः सत्य [गायत्रीमात्रिकब्रह्मसत्यं] असृज्यत । सत्य ब्रह्म, ब्रह्म प्रजापतिं, प्रजापतिर्देवान्, ते देवा सत्यमित्युपासते । तदेतत् त्र्यक्षरं सत्यमिति । स इत्येकमक्षरं, तीत्येकमक्षरं, यमित्येकमक्षरम् । प्रथमोत्तमेऽक्षरे सत्यं मध्यतोऽनृतम् । तदेतदनृतं सत्येन परिगृहीतं सत्यभूयमेव भवति । तद्यत् तत् सत्यमसौ स आदित्यः" ।
[शत० १४ का० । ८ । ६ १—२]

ब्रह्म–वेद–त्रयी–अग्नि–सब अभिन्नार्थक हैं । सुब्रह्म–भृग्वेद–अथर्व–सोम यह सब अभिन्नार्थक हैं । मन्त्रोपात्त एजत्–अनेजत् तत्व वही ब्रह्मनिश्वसित वेद है । पूर्वप्रतिपादित चतुर्विध मार्गव वायुओं में से अन्यतम मातरिश्वा ही मन्त्रगत मातरिश्वा है । इसी मातरिश्वा से आप की उस अनेजदेजद्रूप ब्रह्म में आहुति होती है । इसी से सारे विश्व का स्वरूप सम्पन्न होता है । 'आप' तत्व का स्वरूप निर्वचन होचुका । सम्भव है आप 'आप' के स्वरूप विस्तार

से घबड़ा गये होंगे। अतः इस प्रकरण को थोड़ी देर के लिये यहीं छोड़ दीजिये, एवं ब्रह्म पर दृष्टि डालिये।

पूर्व प्रतिपादित मन्त्रार्थ सम्बन्धी वेदप्रकरण से विज्ञ पाठकों को यह भलीभांति विदित होगया होगा कि ब्रह्मनिश्वसित स्वायम्भुव त्रयीवेद का यजु भाग ही सृष्टि का मौलिक तत्त्व है। ऋक्साम सहकारी मात्र हैं। यजु पुरुष है, ऋक्साम नपुंसक हैं, केवल छन्दोरूप हैं। ऋक्सामावच्छिन्न यजुर्वेदविद्या–कर्ममय अव्ययपुरुष की विकासभूमि है, अतएव इसे 'पुरुष' शब्द से व्यवहृत किया जाता है। यह यजुपुरुष द्विब्रह्म की समष्टि है। वस्तुतः इस का नाम 'यज्जू' वेद है। 'जूराकाशे सरस्वत्यां पिशाच्यां यवने स्त्रियाम्' इस कोश के अनुसार 'जू' शब्द आकाश का वाचक है, एवं यत् शब्द वायु का वाचक है। यह वायु चतुर्द्धा विभक्त पवमान-मातरिश्वा आदि भार्गववायु, एवं वातवायु आदि से सर्वथा भिन्न वस्तु है। यहां का वायु शब्द ऋषि नाम से प्रसिद्ध अमृत प्राण का वाचक है। यह यत्रूप प्राणवायु विशुद्ध गतिरूप है, यही अव्यय के कर्मभाग का विकास है, जूरूप आकाश विशुद्ध स्थितितत्त्व है, यही अव्यय के विद्याभाग का विकास है। 'यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्' (गी.……) के अनुसार स्थितिरूप आकाश, एवं गतिरूप वायु नित्य अविनाभूत हैं। विद्या, स्थिति, आकाश, वाक्, जू, यह सब शब्द अभिन्नार्थक हैं। कर्म, गति, वायु, प्राण, यत्, यह सब शब्द अभिन्नार्थक हैं। यत्-और जू-इन दोनों ब्रह्मों की समष्टि यज्जू वेद है। यही यज्जू' शब्द परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में 'यजुर्वेद' नाम से प्रसिद्ध है। इसी यजुर्वेद का निर्वचन करती हुई वाजिश्रुति कहती है—

> "अयं वाव यजुर्योऽयं पवते। एष हि यन्नेवेदं सर्वं जनयति। एतं यन्तमिदमनु प्रजायते तस्माद् वायुरेव यजुः। अयमेवाकाशो जूः, यदिदमन्तरिक्षम्। एतं ह्याकाशमनु जवते। तदेतद्यजुर्वायुश्च, अन्तरिक्षंच, यच्च, जूश्च। तस्माद्यजुः। +××। तदेतद्यजुर्ऋक्सामयोः प्रतिष्ठितम्, ऋक्सामे वहतः।" (शत. १० कां.। ३। ५। १-२।) इति।

यत् और जू दोनों ही अमृत-मृत्यु भेद से दो दो भागों में विभक्त हैं। अमृत जू अमृताकाश है, अमृत यत् अमृत प्राण है। मर्त्य जू मर्त्याकाश है, मर्त्य यत् मर्त्यप्राण है। मर्त्य की प्रतिष्ठा अमृत है। अमृताकाश इन्द्र नाम से प्रसिद्ध है, अमृतप्राण प्राण नाम से प्रसिद्ध है। मर्त्याकाश वाक् नाम से, मर्त्यप्राण वायु नाम से प्रसिद्ध है. दोनों अविनाभूत हैं। अमृताकाशरूप इन्द्र, और प्राण से देवसृष्टि होती है, मर्त्याकाशरूप वाक् (जिसे इन्द्रपत्नी भी कहा जाता है), एवं मर्त्यवायु से भूतसृष्टि होती है। देव और भूत दोनों सृष्टियों के उपादान अभिन्न हैं, अतः देव-भूत का अविनाभाव सिद्ध होजाता है। गौण-प्रधानता की अपेक्षा से 'इयं देवता' 'इदं भूतम' यह भेद व्यवहार प्रचलित है। वस्तुतः न देवता भूत के विना रहता. एवं न भूत देवता के विना प्रतिष्ठित रहता। इस प्रकार अपनी मर्त्यकला से भूतसृष्टि का, अमृतकला से देवसृष्टि का अधिष्ठाता बनता हुआ ऋक्सामावच्छिन्न यजुपुरुष ही सब कुछ बन रहा है—**'पुरुष एवेदं सर्वम्'**।

उपनिषदर्थ का समन्वय करनें वाले व्याख्याताओंनें मन्त्रगत **'मातरिश्वा'** वायु को 'सूत्रवायु' समझा है। कहना नहीं होगा कि वैज्ञानिक पदार्थों के पृथक्करण को न समझनें के कारण कैसी कैसी भयङ्कर भूलें होजातीं हैं। सूत्रवायु तो हमारा यत् नाम का **'प्राणवायु'** है। इसी को सूत्रात्मा कहा जाता है। **'वायु वै गौतम तत् सूत्रम्'** शत० १४ कां. ६।७।५।) से स्वायम्भुव वेदमूर्त्ति सूत्रवायु ही अभिप्रेत है। सूत्रात्मा स्वयम्भू का मनोता है, (देखिए ई० वि० भा०१९६ पृ०)। ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्ररूप हृदयाक्षरों की समष्टि अन्तर्यामी है, अग्निसोम की समष्टि, किं वा सोमगर्भित अग्नि सूत्रात्मा है। अग्नि सत्यवेद है। यही सूत्रसत्य है। उधर मातरिश्वा भार्गववायुरूप बनता हुआ परमेष्ठी का मनोता है।

यजुर्वेद विश्व का उपादान होनें से ब्रह्म है। इसमें दो कलाएं हैं, अतएव यह 'द्विब्रह्म' का सहकारी, इसी से उत्पन्न होनें वाला सुवेद सुब्रह्म है। भृगु अङ्गिरा के अवस्था भेदों से यह सुब्रह्म आप, वायु, सोम, अग्नि, यम, आदित्य इन ६ भागों में विभक्त है। अतएव इस

'आपब्रह्म' को हम 'षड्ब्रह्म' नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। द्विब्रह्म के समन्वय से सब कुछ उत्पन्न हुआ है। द्विब्रह्म का (मर्त्य) वाग्भाग (इन्द्रपत्नी) इसी प्राणरूप यत् के व्यापार से पानी बना है। यही पानी अम्भ है, वाय्वात्मक है। अतएव पाञ्चभौतिक सृष्टिक्रम में इसे 'वायु' कहा जाता है। 'अग्नेरापः' यह सिद्धान्त सर्वविदित है। एवं-"तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्" (शत॰ १० कां.।५।१।१।) के अनुसार मर्याकाशरूप वाक् (इन्द्रपत्नी) मात्रात् ब्रह्माग्नि है। वही तो प्राणव्यापार से क्षुब्ध होकर अम्भरूप वाय्वात्मक पानी के रूप में परिणत हुआ है जैसा कि-'वागेव सासृज्यत' इत्यादि रूप से पूर्व में स्पष्ट कर दिया गया है। इस वायुमय पारमेष्ठ्य समुद्र के गर्भ में इसी के अङ्गिराभाग से देवाग्नि नाम से प्रसिद्ध गायत्रीमात्रिक अग्नि उत्पन्न होता है। यही पौरुषेय वेदाग्नि है, यही सूर्य्य है, 'त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः' । सौर रश्मिएं 'मरीचि' नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके घर्षणसे मर पानी उत्पन्न होताहै । मूर्च्छित मरीचि अग्नि ही मर पानी है। सौराग्नि से उत्पन्न यही पानी आगे जाकर क्रमश आप-फेन-मृत-सिकता-शर्करा-अश्मा-अय-हिरण्य रूप में परिणत होता हुआ भूपिण्ड का स्वरूपसम-र्पक बनता है। इसप्रकार वह एक ही ज-[मर्याकाश-मर्यावाक्] वाक् (आकाश) वायु, अग्नि, पानी, मिट्टी, इन पाच रूपों में परिणत होजाता है। पाचों भूत वाङ्मय है। तभी तो-'अथो वागेवेदं सर्वम्' (ऐ॰आ. ३।१।६) 'वाचीमा विश्वाभुवनान्यर्पिता' (तै॰ ब्रा.२।८।८।५) यह कहना चरितार्थ होता है। प्रजापति (षोडशी) उक्त वेद का आत्मा है। शब्दतन्मात्रारूप अतएव शब्दनाम से व्यवहृत वेदवाक् उस आत्मप्रजापतिरूप ब्रह्मा के निश्वास हैं, यही वेद-वाक् आकाश है, यही विश्व का मूल है। इसी वेदमूला, अतएव वेदमयी सृष्टि का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं-

'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः,
वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी' [तै. उ. २।१]।

षाट्कौशिकमिदंसर्वम्

१-१ब्रह्माक्षरः प्राणमयः षोडशीप्रजापतिः ←→ 'आत्मा'

प्रजापतिरात्मन्वी:

२-१-यत-गर्भितो जूः-स्वयम्भूः ——→ आकाशः (आकाश)

३-२-आपोमयं सुब्रह्म-परमेष्ठी ——→ वायुः (वायु)

४-३-त्रयीघनः————सूर्यः ——→ अग्निः [तेज]

५-४-मूर्च्छिता आपः-चन्द्रमा ——→ आपः [जल]

६-५-मृण्मयी————पृथिवी ——→ पृथिवी [पृथिवी]

(२ से ६ तक) → शरीरम्

'अनेजदेकम्', इत्यादि मन्त्र यजुर्ब्रह्म का निरूपण करता हुआ इसी आत्मन्वी प्रजापति का विश्लेषण करता है। यजुर्ब्रह्म का अनेजत् भाग सोपाधिक विद्याभाग है, एजत् भाग सोपाधिक कर्मभाग है। चलाचलरूप विद्याकर्ममय अव्यय ही यजु है। इस यजुर्ब्रह्म की व्याप्ति कहां तक है? उत्तर है 'मायाबल'। जहां तक मायी महेश्वर व्याप्त है, वहां तक वेदतत्व व्याप्त है। तभी तो उसे 'वेदमूर्ति' शब्दसे व्यवहृत किया जाता है। जहां तक मायी अव्यय व्याप्त है, वहां तक तत्प्रकृतिभूत अक्षरात्मक्षर व्याप्त हैं। सुतरां आत्मक्षर के प्राणरूप विकारक्षर से संपन्न पञ्चीकृत प्राणपञ्चजन के विवर्तभूत वेदपुरुषन की सत्ता वहां तक सिद्ध होजाती है। इस मायाचक्र को सामने रखिए, मन्त्र का अर्थ कीजिए, स्थितिगतिरूपा सारी वस्तुस्थिति स्पष्ट होजायगी।

संसार में गतितत्व अवयवगति, अवयवीगति, उभयगति भेद से तीन मार्गों में विभक्त है। रथचक्र की गति उभयगति है। रथ का पहिया (अवयवी) भी चलरहा है, एवं पहिये के अवयव भी चलरहे हैं। कुम्हार के चक्र [चाक] की गति अवयवगति है। चक्र जरा भी नहीं चलता, अवयव जरा भी नहीं ठहरते। पूर्वदेश परित्यागपूर्वक उत्तरदेश का संयोग करना ही

गति है। चक्र अपने नियत कीलक से अणुमात्र भी नहीं चलरहा। वह एक स्थान पर ही रहता हुआ घूम रहा है। वह क्या घूम रहा है, उस के अवयव घूम रहे हैं। एवं भारतकथित चक्र की गति अवयवीगति है। हम ट्रेन में बैठे हुवें चल रहे हैं। हमारे अवयव नही चल रहे, अपि तु हम (अवयवी) चलरहे हैं। इन तीनों गतियोंमें से प्रकृतमन्त्र केवल अवयवगति का निरूपण करता है। मायावाच्छिन्न वेदघन ईश्वर सर्वथा स्थिर है। वृक्षवत् स्तब्ध है। एव ईश्वरशरीर में प्रतिष्ठित यच्चयावत् पदार्थ, पदार्थों के परमाणु परमाणु गतिशील हैं। व्यापकदृष्टि से संसार सर्वथा स्थिर है, अचलरूप से खड़ा है। व्यष्टिदृष्टि से सब अस्थिर हैं। यदि व्यक्तिभाव को छोड़कर आप विश्व को अपनी दृष्टि में लावेंगे तो वह आपको सर्वथा स्थिर दिखलाई देगा, व्यक्तिभाव को सामने रखने से वही गतिशील मिलेगा। अवयवी स्थिर है, अवयव चल हैं, यही तात्पर्य है।

आप्त महर्षियों की दूरदर्शिता का जब हम विचार करनें लगते हैं तो हमें आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। निगूढतम जिस अध्यात्मविद्या के स्वरूप को यथावत् पहिचानना बड़ी कठिन समस्या है, ऋषियोंनें व्यावहारिक (लौकिक) दृष्टान्तों द्वारा उसे इतना सरल बना रक्खा है कि उसे समझने में एक बालबुद्धि भी सहज मे ही समर्थ होजाय। कुम्भकार (कुम्हार) लोकभाषा में 'प्रजापति' नाम से प्रसिद्ध है। घट-उदशरावादिमृण्मय पात्रों का निर्माण करनें वाले, वर्ण से शूद्र मनुष्य का ऋषियोंनें 'प्रजापति' नाम रक्खा, जो कि प्रजापति शब्द त्रिभुवन-विधाता धाता (ईश्वर) का वाचक है। साधारण दृष्टि से विचार करनें पर कुम्भकार की इस प्रजापति संज्ञा में कोई विशेष महत्व नहीं मालुम होता। परन्तु जब इस संज्ञा का सूक्ष्मेक्षण किया जाता है तो प्रतीत हो जाता है कि कुम्भकार वास्तव में प्रजापति का अवतार है। जैसी स्थिति सृष्टिनिर्माता ईश्वर प्रजापति की है, ठीक वैसी ही स्थिति इस प्रजापति (शब्द) की है। घटनिर्माणप्रक्रिया में कुम्भकार, मिट्टी, दण्ड, चक्र, सूत्र, भूपिण्ड, पानी, यह सात उपकरण अपेक्षित हैं। इस कारणसमष्टि से घटकार्य उत्पन्न होता है। इन में भूपिण्ड कुम्भकार एवं चक्र (चाक) का आधार है। कुम्भकार भी जमीन पर बैठता है, एव चक्र भी कील के आधार पर भूपिण्डपर रहता है। कुम्भकार निमित्तकारण है, घट बनानेवाला है। सूत्र-दण्ड

असमवायिकारण है, मिट्टी उपादान कारण है, पानी सहकारीकारण है। कुम्हार मिट्टी में पानी डालकर उसको पिन्दमान बनाकर पिण्ड बना लेता है। अनन्तर चक्र के समीप नियत स्थान पर बैठकर चक्रपर मृत्पिण्ड रख देता है। अनन्तर कीलक से बद्ध चक्र को दण्ड से बड़े वेग से घुमाता है। घूमते हुए चक्र पर रक्खे हुए मृत्पिण्ड में हस्तकौशल से अपने बौद्धघट [खयालीघट] का आकार देता जाता है। थोड़ी देर में घट उत्पन्न होजाता है। निर्माण होने के अनन्तर सूत्र [डोरी--अथवा चीवर--चिथड़ा] से घट को चक्र से पृथक कर भूपृष्ठपर सूखने के लिए रख देता है। सूख जाने पर अग्नि द्वारा उसे पकाता है। अग्नि सम्बन्ध से घट का विनाश हो जाता है। अग्नि सब से पहिले घट के मृत्परमाणुओं को विशकलित कर डालता है। इस अग्निविशकलन से परमाणुओं की सन्धि में प्रतिष्ठित पानी धूम्र बनकर उत्क्रान्त हो जाता है। इसी विशकलन प्रक्रिया का नाम न्यायदर्शनानुसार 'घटध्वंस' है। पानीको निकाल कर सन्धिस्थानों में स्वयं अग्नि अन्तर्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित होजाता है। इस अग्निसंधान से रक्तपरमाणु दर्शन के शब्दों में ध्वस्तघट पुनः संहित होता हुआ परिपक्व बन जाता है। इस प्रकार इस पिठरपाक के अनन्तर घट सर्वात्मना संपन्न हो जाता है। घट का स्वरूप [आकार] सभी को विदित है। ऊपर की ओर गोलाकार मुख होता है, मध्य में विपुलोदर होता है, पैंदा उठा हुआ होता है, यह तो हुई इस [कुम्भकार] प्रजापति की सृष्टि। अब चलिए उस [ईश्वर] प्रजापति की ओर।

अक्षरतत्त्व कुम्भकार [निमित्त कारण] है। पञ्चकोशात्मक अव्ययमन भूपृष्ठ [आलम्बन] है। पूर्वोक्त सूत्रवायु ही सूत्र है। यजुर्वेद चक्र है। इसी वेद का घर मर्त्यभाग मिट्टी [उपादान] है। प्रजापति की धुरनीति दण्ड है, इसी को 'ब्रह्मदण्ड' कहाजाता है। सुप्रसिद्ध आपोमय पानी [सहकारी कारण] है। विश्वनाभि में [केन्द्र में] यह यजुश्चक्र बद्ध है। इस की स्थिति ठीक कुम्हार के चक्र जैसी है। चक्र खूब ही घूम रहा है, परन्तु समुदाय [अवयव] सर्वथा स्थिर है। इस चक्र पर प्रजापति ऋग्वेदरूप मृत्पिण्ड रखता है। यह ऋग्वेद वही हमारा

सुप्रसिद्ध गायत्रीमात्रिकवेद है । यही वेद आगे जाकर घटरूप में परिणत होता है । भूः-भुवः-स्वः तीनों लोकों की समष्टि एक घट है । यही विश्वमूर्त्ति घट चयन यज्ञ में 'उखा' नाम से प्रसिद्ध है । भूलोक इस का बुध्न (पेंदा)है, भुवर्लोक उदर है, द्युलोकोपलक्षित सूर्य मुख है । एक संवत्सर पर्यन्त इस घट में अग्नि रक्खा रहता है । अनन्तर उस का चयन होता है । त्रैलोक्यस्वरूप उखा (घट) के परमाणु परमाणु में अग्निचिति हो जाती है । यही चिति संधिस्थानों से पांच भागों में विभक्त हो जाती है । चिति से घट सर्वात्मना संरक्ष हो जाता है । इसी प्राजापत्य घट का दिग्दर्शन कराती हुई अग्निरहस्यश्रुति कहती है—

१—'इमे वै लोका उखा' [श० ७।५।२।१७]

२—'प्राजापत्यमेतत् कर्म यदुखा' [श० ६।०।१।०३।]

[शत० ६।७।१।२३॥ ७।५।२।२॥ ६।२।२।२४।]

प्रजापति से निर्मित सारी पार्थिव प्रजा घटस्वरूप में परिणत होकर ही प्रतिष्ठित हो रही है । इस प्रकार कुम्भकारसृष्टि एवं प्राजापत्यसृष्टि दोनों समानधर्मा हैं । इसी सृष्टिरहस्य के विज्ञान के लिए ऋषियोंने कुम्भकार की 'प्रजापति' संज्ञा रक्खी है । स्वयं मार्कण्डेयने कुम्भकार के चक्र से प्रकृतिचक्र का स्वरूप पहिचानते हुए कुम्भकार को अपना गुरु माना था । सचमुच जो स्वरूप इस प्रजापति के चक्र का है, वही स्वरूप इस प्रजापतिचक्र का है । वह गोल है तो 'सर्वतः पाणिपादं तत्' के अनुसार यह भी वर्तुलरूप है । वह घूमता हुआ समुदाय रूपसे स्थिर है तो यह भी अवयवरूपेण एजत् बनता हुआ समुदायरूपेण अनेजत् है । मानो हमारा यह (कुम्भकार) प्रजापति उस (ईश्वर) प्रजापति के साथ स्पर्द्धा कर रहा है । इसी आधार पर कवि की "घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः" यह सूक्ति प्रचलित है ।

जैसे न चलने वाला चाक, और चलने वाले अवयव एक ही स्थान पर हैं, इसी प्रकार न चलने वाला नु और चलने वाला यत् दोनों का एक ही बिन्दु पर समन्वय है । स्थिति गति दो विरुद्धभावों का अधिष्ठाता चक्र जैसे एक है, एवमेव यत् और नु के दो होने पर भी यजु-

मेव एक है। वह एक ही तत्त्व जू की अपेक्षा से सर्वथा अनेजत् है, यत् की अपेक्षा से वही एजत् है। वही एजत् है, वही अनेजत् है। वह मन से भी जवीय [तेज दौड़ने वाला] है। आधिभौतिक जगत् में तेज चलने वाला वायु है। आध्यात्मिक जगत् में वायु से भी शीघ्रगामी मन है। इन दोनों में वही गति आई हुई है। जिस यत्प्राण के आगमन से वायु और मन जब शीघ्र गामी बनजाते हैं तो उस यत् के गतिवेग का क्या कहना है। वह तो स्वयं गतिरूप ही है। इस स्वयंगति की गतिमान् वायु और गतिमत् मन कैसे समता कर सकते हैं। मन में इन्द्र-नियुत् है, निशुदिन्द्र गतिशील है। मन में प्रतिष्ठा ब्रह्म [स्थिति भाग] की अल्पता ही मन की द्रुत-गति में मुख्य कारण है। उधर वह शुद्ध गतिरूप होता हुआ सचमुच 'मनसो जवीयः' है बात यथार्थ में यह है कि अनेजदेजत् की समष्टि से आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक प्रपञ्च का निर्माण होता है। फलतः आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक पदार्थों में [प्रत्येक में] स्थिति–गति दोनों भावों की सत्ता सिद्ध होजाती है। आप जितने भी गतिमान् पदार्थ देख रहे हैं, विश्वास कीजिए (गतितारतम्य से) उनमें थोड़ी बहुत स्थिति अवश्य है, जितने भी स्थितिमत् पदार्थ हैं उन सबमें (स्थिति के तारतम्य से) गति अवश्य है। विशुद्धगति–और विशुद्धस्थिति-रूप पदार्थ न आधिभौतिक जगत् में है, न आध्यात्मिक जगत् में। कारण इनका उपादान स्थितिगति की समष्टि है। कहीं स्थिति तत्त्व प्रधान है तो कहीं गतितत्त्व। परन्तु हैं प्रत्येक में दोनों। यदि स्थिति में से गति को सर्वथा निकाल दिया जाता है तो वह स्थिति गतिरूप में परिणत होजाती है। एवमेव यदि गति में से स्थिति सर्वथा निकल जाती है तो वह गति स्थिति-रूप में परिणत होजाती है। उदाहरण के लिए ५ मनुष्य अपने घर से ठीक नियत समय पर एक साथ बगीचे के लिए रवाना होते हैं। इनमें कुछ आदमी तो जल्दी पहुंच जाते हैं, कुछ देर मे पहुंचते हैं। इसका क्या कारण ? उत्तर यही होगा कि जो शीघ्र चला वह शीघ्र पहुंच गया, जो मन्दगति से चला वह देर से पहुंचा। इसका अर्थ यह हुआ कि जिसने जल्दी जल्दी पैर उठाए वह जल्दी पहुंचा, एवं जिसने धीरे धीरे पैर उठाए वह देर से पहुंचा। निष्कर्ष यह हुआ कि जिसने अपने पैरों में स्थिति कम रक्खी एवं गति अधिक रक्खी वह जल्दी पहुंचा,

जिसनें गति कम रक्खी एवं स्थिति अधिक रक्खी वह देरसे पहुंचा। इस स्थिति-गति के तारतम्य से गति में अन्तर होगया। मान लीजिए एक व्यक्ति जहां घंटेभर में पहुंचा वहां दूसरा आध घंटे में, तीसरा १५ मिनिट में, तीसरा पांच ही मिनिट में पहुंच गया। लीजिये चौथा आदमी दो मिनिट में ही पहुंच गया। आश्चर्य-पांचवां तो एक ही मिनिट में जा पहुंचा। एक मिनिट में पहुंचनें वाला ऐसे वेग से चला कि उसनें कब पैर रक्खा, कब उठाया यह अनुमान लगाना ही कठिन होगया। वह ठहरता सा न दिखलाई देकर चलतासा ही दिखलाई दिया। फलतः यह सिद्ध होगया कि अपनें घर से एक मिनिट में पहुंचनें वाले व्यक्तिकी गति (चाल) में स्थिति (ठहराव) बहुत कम थी, तभी तो वह एक मिनिट में पहुंच गया। कल्पना कर लीजिये, जिस अल्पस्थिति में नियत स्थान पर पहुंचनें में एक मिनिट जायगा, यदि वह अल्पस्थिति भी उसकी गति में से निकाल दी जाय तो क्या होगा। ऐसी स्थिति में उसे एक मिनिट भी न लगेगा, अपि तु एक क्षण में ही वह वहां पहुंच जायगा। एक क्षण में नहीं पहुंचेगा, अपि तु जिस क्षण में वह घर रहेगा उसी क्षण में बगीचे में मिलेगा। इस प्रकार स्थिति के सर्वथा निकल जानें से उसकी गति स्थितिरूप में परिणत होजायगी। क्या ऐसा होना संभव है ! नहीं। स्थितिगति दोनों की समष्टि से उत्पन्न होनेंवाले मनुष्य में (मनुष्योपलक्षित पदार्थमात्र में) शुद्धगति नहीं रह सकती। उस में अवश्य ही स्थिति रहती है। ऐसा तत्व तो केवल वह प्रजापति ही हो सकता है। मन में थोड़ी बहुत स्थिति है, परन्तु उस विशुद्धगति में स्थिति के आत्यन्तिक अभाव से जरा भी ठहराव नहीं है, तभी वह एक ही क्षण में यहां-वहां-ऊपर-नीचे-सर्वत्र उपलब्ध हो जाता है। प्रजापति के स्थितिरूप, अतएव व्यापक इसी गतिरहस्य को लक्ष्य में रखकर-'मनसो जवीयः' कहा गया है।

एक पुस्तक मेज पर रक्खी हुई है। पुस्तक स्थिति (ठहराव)-भाव से आक्रान्त है। परन्तु विज्ञान कहता है कि आप इसे चलती हुई समझिए। स्थिरत्वरूप से प्रतीयमान पुस्तक एक ही क्षण में चारों ओर जारही है। वह गतिसमष्टि ही एक दूसरी गति से अवरुद्ध होती हुई स्थितिभाव में परिणत होरही है। आप पूर्व में बैठे हैं। पुस्तक आपसे पश्चिम रक्खी हुई है।

यदि आप पुस्तक को अपनी ओर लावेंगे तो पुस्तक की पश्चिमागति निकल जायगी । दूसरे शब्दों में जबतक पश्चिमदिग्गति को आप पुस्तक में से निकाल न देंगे, तब तक पुस्तक पूर्व की ओर न आसकेगी । इस प्रकार स्थित पुस्तकमें से गति के निकाल देने से पुस्तक की स्थिति गतिरूप में परिणत होजायगी । निदर्शन मात्र है । संसार में जितने भी स्थिर पदार्थ हैं, वे निरन्तर चारो ओर चल रहे हैं यदि चारो ओर की गति निकाल दी जायगी तो पदार्थ की स्थिरता सर्वथा उत्क्रान्त होजायगी । वह पदार्थ गतिगर्भ में विलीन हो जायगा । इस निदर्शन से बतलाना यह कि विशुद्धस्थिति एवं विशुद्धगति उस मूलब्रह्म का ही स्वरूप है । यद्यपि सत्ता-दृष्टि से उसे भी विशुद्धगति, स्थितिरूप नहीं माना जासकता । कारण दोनो तत्त्व अविना-भूत हैं । तथापि विश्व और उस के पार्थक्य समझने के लिए बौद्धजगत् में उस की विशुद्धता की भावना की जासकती है । इसी बौद्धप्रत्यय को लक्ष्य बना कर ऋषिने—'**मनसो जवीयः**' यह कहा है । इस से बतलाना केवल यही है कि सम्पूर्ण विश्व में उसके जैसा तो वही है ।

पूर्वकथनानुसार वही ज्योतिर्मयी देवसृष्टि का प्रवर्तक है । देवता प्राणघन है । प्राण स्वयं गतिरूप अवश्य है, परन्तु इस का विकास सूर्य में होता है । देवता भी इतर पदार्थों की तरह एक पदार्थ है । अतः गतिरूप प्राण की प्रधानता रहने पर भी इन में स्थिति का आत्यन्तिक अभाव नहीं माना जासकता । जब प्रजापति के पश्चात् उत्पन्न होनें से प्राणघन देवताओं में आंशिकरूप से स्थिति विद्यमान है तो प्राण की प्रधानता से दौड़ते हुए भी देवता उस पूर्वप्रतिष्ठ (पूर्वमर्षत्) प्रजापति को कैसे प्राप्त कर सकते हैं । अध्यात्मपक्ष में इन्द्रिएं देवता हैं । मुख्य-प्राण का विकास ही इन्द्रिएं हैं । आत्मा हृदय में प्रतिष्ठित है । हृदय आत्मप्रकाश इन्द्रियदेव-ताओं में आता है । इन्द्रियों के द्वार बाहर्मुख हैं । ऐसी अवस्था में प्राणेन्द्रमूर्त्ति प्रज्ञानमन से संचालित इतस्ततः सांसारिक विषयों की ओर अनुधावन करनें वाले इन्द्रियदेवता उस पूर्वमर्षत् आत्मतत्त्व को प्राप्त करने में कैसे समर्थ हो सकते हैं । वह पूर्व है, यह पर है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर उपनिषत् कहती है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

(कठ० उ० २।१।१)

इसी अभिप्राय से—'नैनदेवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्' यह कहा गया है। वह इन्द्रियातीत है, इन्द्रियागम्य है, यही तात्पर्य है।

आत्मा हृदय में है, देवता उससे पर है। तो क्या देवता [इन्द्रियों] और देवताओं के विषय में (भौतिकपदार्थों में) आत्मा नहीं है ? इसी प्रश्न के समाधान को लक्ष्य में रखती हुई श्रुति आगे जाकर कहती है—'तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्'। देवता उसे पकड़ कैसे सकते हैं, जब कि वह स्वस्थान में बैठा बैठा ही दौड़ लगाने वाले देवताओं के आगे से आगे प्रतिष्ठित रहता है। अनेजत् दृष्टया वह तिष्ठत् है, एजत् दृष्टया देवताओं का अतिक्रमण करने वाला है, जैसा कि पूर्व में स्थिति-गति का तारतम्य बतलाते हुए कहा जाचुका है। वह सर्वथा व्यापक है। उस के आश्रय में सब कुछ प्रतिष्ठित है, परन्तु वह किसी में प्रतिष्ठित नहीं है। 'न स्वह तेपुते मयि'। इस का तात्पर्य यह है कि आधेय आधार के बिना नहीं रह सकता, किन्तु आधार स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहसकता है। उसे आधेय की अपेक्षा नहीं होती।

अवतक के सारे प्रपञ्च का निष्कर्ष यही हुआ कि "महामायावच्छिन्न ईश्वरस्वरूप यजुर्ब्रह्म भी ईश्वरवत् महामायावच्छिन्न होता हुआ व्यापक है।" यह मूलवेद महेश्वर का निश्वसित है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य [महेश्वरस्य] निश्वसितमेतदृग्वेदो
यजुर्वेदः सामवेदः+++ अथर्वाङ्गिरसः सर्वाणि निश्वसितानि"

[श० १४।५।४।१०] इति।

परोवरीयान यही मायी महेश्वर है। तन्मूर्ति वेद से कोई स्थान रिक्त नहीं है। वह एक निष्प्रकम्पवत् खड़ा हुआ महावृक्ष [अश्वत्थवृक्ष] है। उस का एक भाग सर्वथा स्थिर है एक

आत्यन्तिक चर है। यही यजुर्ब्रह्म नाम का द्विब्रह्मप्रजापति है। इसी का निरूपण करते हुए मन्त्र के तीन पाद हमारे सामनें आते हैं। विश्वनिर्माण आप् की आहुति से होगा। वह इस प्रजापति का चौथा पाद है। तीन पाद विश्वके आधार किन्तु विश्वातीत हैं। इस नित्य सिद्ध-त्रिपाद्विभूति विज्ञान को लक्ष्य में रखकर मन्त्रकृत ऋषि ने तीन पादों से तो विशुद्ध ब्रह्म का निरूपण किया है, एवं एक [चौथे] पाद से विश्व का निरूपण किया है। यही तो मन्त्र का मन्त्रत्त्व है. यही वेदवाणी का उत्कर्ष है।

"अनेजदेकं मनसो जवीयो, नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्........................॥"

उक्त त्रिपान्मन्त्र सृष्टि के मूलाधार का निरूपण करता है। सृष्टि संसृष्टिभावपर निर्भर है। संसृष्टि ही यज्ञ है, एक में दूसरे का आहुत होना ही यज्ञ है, अग्नि में सोम का आधान करना ही यज्ञ है। इसी त्रियात्मक यज्ञपाद का निरूपण करता हुआ निम्न लिखित चतुर्थपाद हमारे सामनें आता है——

"तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति"

द्विब्रह्म नामक यजुर्ब्रह्म के जूभाग से तप-श्रम-द्वारा पद्ब्रह्म नाम का अव्रह्म [शुक्र] उत्पन्न हुआ, यह कहा जाचुका है। प्रकरणसंगति के लिए केवल यही समझलेना पर्याप्त होगा कि पदार्थ की उत्पत्ति में [चाहे वह चेतन हो, या अचेतन] योनि, रेत, रेतोधा इन तीनों भावों की अपेक्षा रहती है। रेत उत्पत्ति का कारण है, उपादान कारण है। परन्तु विशुद्ध रेत सृष्टि करने में असमर्थ है। अन्य प्रतिष्ठा मे प्रतिष्ठित होकर ही यह प्रजनपिता बनता है। बीज ही वृक्ष बनता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु भूगर्भ में प्रतिष्ठित हुए बिना वह प्रजनन कर्म में असमर्थ है। इस प्रकार जो द्रव्य वस्तु का उपादान बनता है—वह तो रेत है, एवं

* "त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः" (यजु.सं०)

जिस प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होकर वह अपनी प्रजननशक्ति को विकसित करने में समर्थ होता है, वह प्रतिष्ठाभूमि योनि है बीजरूप रेत भी है, योनिरूप भूगर्भ भी है। परन्तु फिर भी काम नहीं चलता। बीज को भूगर्भ मे डालनेवाला तीसरा पदार्थ [वप्ता–बीजवपनकरने वाला] और होना चाहिए। यही तीसरा तत्त्व रेत का योनि में आधान करता हुआ–'रेतोधा' नाम से प्रसिद्ध है। वैधयज्ञ में अग्नि योनि है, सोम रेत है, आहुति देने वाला अध्वर्यु रेतोधा है। रेत का आधाता योनि में रेत का आधान करता है, तदनन्तर ही प्रजासृष्टि, किंवा पदार्थोत्पत्ति होती है। सृष्टिकामुक द्विब्रह्म प्रजापति सृष्टिनिर्माण करना चाहता है। सृष्टिप्रक्रिया में रेत–रेतोधा–योनि तीन भाव अपेक्षित हैं। इधर प्रजापति के पास सिवाय अपने आप के (ब्रह्माग्निरूप यजुर्ब्रह्म के) दूसरी वस्तु का अभाव है।.इस अभाव की पूर्ति के लिए (कामना की कृपा से) उसे अपने आपको ब्रह्म-सुब्रह्म इन दो रूपों में परिणत होना पड़ता है। एक भाग से वह ब्रह्म बनता है, एक भाग से सुब्रह्म बनता है। ब्रह्म यजु है, सुब्रह्म आप है। यजु अग्नि है, यही योनि है। आप सोम है, यही रेत है। सुप्रसिद्ध भार्गव मातरिश्वा नामक वायु रेतोधा है। आहुतिरूप आपोमह में आप–वायु–सोम–अग्नि–यम आदित्य यह ६ भाग बतलाए गए हैं। इन में अंगिरा नाम का यम वायु– 'यमो वै अवसानस्येष्टे' (शत. ७।१।१।३) के अनुसार [रुद्रमूर्त्तियम] सृष्टि का प्रवर्त्तक नहीं, अपि तु निवर्त्तक है, विच्छेदक है। सृष्टि शिववायु से होती है। शिववायु वही भार्गववायु है। इसकी प्राण–पवमान-मातरिश्वा–सविता इन चारों अवस्थाओं का पूर्व में निरूपण किया जाचुका है। इन चारों में पिण्डस्वरूपसमर्पक मातरिश्वा वायु ही आपरूप रेत का आधान करता है। पूर्व प्रतिज्ञानुसार मातरिश्वा के सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक होगया है।

माता पृथिवी का नाम है, पृथिवी शब्द पिण्डमात्र का उपलक्षण है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जाचुका है। प्रत्येक पिण्ड अग्निमय है। यह अग्नि चित्य चितेनिधेय भेद से दो भागों में विभक्त है। चित्यअग्नि से वस्तुपिण्ड बनता है, चितेनिधेय से बहिर्मण्डल का स्वरूप सम्पन्न होता है। इन दोनों में चित्यपिण्ड को संकेतभाषानुसार 'पृथिवी' कहा जाता है, एवं चितेनिधेयमण्डल को दिव्यप्राण के समावेश से 'द्युलोक' कहा जाता है। इस प्रकार प्रत्येक

वस्तु में पिण्डपृथिवी, महिमाची इन दो भावों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। सविता, प्राण, पवमान इन तीनों भार्गववायुतत्वों का महिमामण्डल से सम्बन्ध है। महिमामण्डल में तीनों प्राणवायु व्याप्त होकर पिण्ड पर अनुग्रह करते हैं। इधर महिमा का विकास चित्पिण्ड के अधीन है। बिना पिण्ड के महिमा नहीं, एवं बिना मातरिश्वा के पिण्ड नहीं। माता [पृथिवीरूप पिण्ड] के चारों ओर व्याप्त रहने वाला स्थिर वायु ही मातरिश्वा है। पिण्ड निर्माण करना, निर्मित पिण्ड को स्वस्वरूप में सुरक्षित रखना यह दोनों कार्य मातरिश्वा के हैं। आपोमय समुद्र में आग्नेय वायु के प्रवेश से पानी का भाग घन हो जाता है। घनावस्थापन्न यही पानी 'अपांशर' [पानी की थर–मलाई] नाम से प्रसिद्ध है। यह घन परमाणु भूपिण्ड के उपादान बनते हुए पार्थिवपरमाणु' नाम से व्यवहृत होते हैं। इन्हीं के लिए—'अद्भ्यः पृथिवी' यह कहा जाता है। यह अप्परमाणु, किंवा पार्थिव परमाणु उस आपोमय समुद्र में ऋतरूप से इतस्ततः व्याप्त रहते हैं। उस परिस्थिति में वही मातरिश्वावायु (जो कि ईश्वर प्रजापति का अवयव रूप होने से साक्षात् प्रजापति है) चलता है वह समुद्र में फैले हुए उन पार्थिव परमाणुओं का संकलन कर–उन पर व्याप्त होता हुआ उन्हें पिण्डरूप में परिणत कर देता है। एककालावच्छेदेन विशकलित सब परमाणुओं को संकलित करना इसका पहिला काम है, सङ्कलित कर पिण्डावस्थापन्न उस पदार्थ के चारों ओर वेष्टित होजाना इसका दूसरा काम है। यदि मातरिश्वा वायु एक ही समय में चारों ओर से परमाणुओं का संकलन न करे तो, दूसरी ओर से परमाणु इतस्ततः निकल जांय। ऐसी अवस्था में पिण्डस्वरूपनिर्माण असंभव होजाय। चूंकि यह मातरिश्वा वायु एक ही काल में मृत्परमाणुओं का चारों ओर से संवरण कर उस संकलित मात्रापन्न पिण्ड के चारों ओर स्थिररूप से व्याप्त होजाता है, अतएव इसे 'वराह' कहा जाता है। "वृणुते–(संवृणुते) इति वरः, अह्नोति–इति–अहः, वरश्चासौ अहश्चेति वराहः" वराह शब्द का यही निर्वचन है। इस महाविश्व में स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी यह पांच महापिण्ड माने जाते हैं। परिभाषा के अनुसार ज्ञानज्योतिर्मय सब पिण्ड स्वयम्भू नाम से, अज्ज्योतिर्मय सब पिण्ड परमेष्ठी नाम से, स्वर्ज्योतिर्मय सब पिण्ड सूर्य नाम से, परज्योतिर्मय सब पिण्ड

चन्द्रमा नाम से, एवं रूपज्योतिर्मय सब पिण्ड पृथिवी नाम से प्रसिद्ध हैं। सप्तलोकात्मक विश्व में असंख्य पिण्ड हैं। नक्षत्रपिण्ड ही असंख्य हैं। इन सब पिण्डों की जातिएं उक्त प्रकार से पांच ही हैं। अतः यच्चयावत् पिण्डों का स्वयम्भू परमेष्ठी आदि पांच महापिण्डों में अन्तर्भाव समझलेना चाहिये। पांचों पिण्डों का स्वरूप इसी मातरिश्वा नाम के वराहवायु से संपन्न हुआ है। यदि प्रजापति वराहरूप धारण न करते तो आपोमय समुद्र में परमाणुरूप से व्याप्त पांचो ही भूपिण्ड सदा के लिए पानी में डूबे रहते। इसी वराह की कृपा से भूपिण्ड का उद्धार होता है। अतएव पृथिवी को वराह की पत्नी माना जाता है। स्वयम्भू आदि पांचों भूपिण्डों का स्वरूप भिन्न भिन्न है, अतएव तत्स्वरूप समर्पक, तत्संश्लिष्ट वराह भी पञ्चधा विभक्त होता हुआ पांच स्वरूप धारण करलेता है। वे पांचों वराह क्रमशः आदिवराह[1], यज्ञवराह[2], श्वेतवराह[3], ब्रह्मवराह[4], एमूषवराह[5] इन नामों से प्रसिद्ध हैं। विश्व का आदिपर्व स्वयम्भू है, अतएव तत्सम्बन्धी वराह 'आदिवराह' नाम से प्रसिद्ध है। 'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति' इस मन्त्र-भाग का मातरिश्वा पारमेष्ठ्य 'यज्ञवराह' है। यज्ञ का प्रवर्त्तक विष्णु अक्षर है। इस की विकासभूमि यही परमेष्ठी है। अतः विष्णुमय परमेष्ठी को हम अवश्य ही यज्ञमूर्त्ति कहने के लिए तय्यार हैं। अपि च—अग्नि में सोमाहुति होना ही यज्ञ है। अग्नि अङ्गिरा है, सोम भृगु है। दोनों परमेष्ठी के मनोता हैं। स्वयम्भू का ब्रह्माग्निरूप त्रयीवेद ही वाक्भाग से आपोमय (भृग्वङ्गिरोमय) यज्ञ बनता है, जैसा कि 'सैषा त्रयीविद्या यज्ञः' इत्यादि से स्पष्ट है। इन्हीं सब कारणों से हम परमेष्ठी को यज्ञमण्डल मानने के लिए तय्यार हैं।

प्रजाकामुक प्रजापति सर्वप्रथम आपोमय पारमेष्ठ्ययज्ञ को ही उत्पन्न करता है। यज्ञद्वारा प्रजा का निर्माण करता है। इस आपोमय यज्ञतत्त्व को पिण्डरूप में परिणत करनेवाला मातरिश्वा 'यज्ञवराह' नाम से प्रसिद्ध है। परमेष्ठी के अनन्तर स्वस्वरूप से घोरकृष्ण, परन्तु सोमाहुति से ज्योतिर्मय बना हुआ विश्व का केन्द्रभूत श्वेत सूर्य है। इस का अवच्छेदक वायु 'श्वेतवराह' नाम से प्रसिद्ध है। प्रकृतियज्ञ में अग्नि होता है, वायु अध्वर्यु है, आदित्य उद्गाता

है, एवं चन्द्रमा ब्रह्मा है। इसी ब्रह्मात्मक चन्द्रमा का स्वरूपसमर्पक मातरिश्वा 'ब्रह्मवराह' है। भूपिण्ड का स्वरूपसमर्पक वराह 'एमूषवराह' नाम से व्यवहृत होता है। 'एमूष' शब्दमें 'आ-ईम-वस्' यह तीन विभाग है। ईम-भूपिण्ड की ओर इशारा है, आ-आसमन्तात् भावका द्योतक है, वस् व्याप्ति का सूचक है। 'वह इस के चारों ओर बस रहा है' एमूष का यही अर्थ है। इसी पार्थिव वराह का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है—

१ "तां (प्रादेशमात्रीं (पृथिवीं) एमूष इति वराह उज्जघान।
सोऽस्याः पतिः प्रजापतिः। (शत.१४।१।२।११।)"

२ "स वै वराहो रूपं कृत्वा उपन्यमज्जत (तै. १।१।३।६।)"

मातरिश्वा पांचों का सामान्य नाम है, आदिवराह, यज्ञवराहादि विशेषनाम हैं। वराह वायु रूप है। वायु अन्तरिक्ष की वस्तु है। जैसे पृथिवी में दधिरस (घनरस) का साम्राज्य है, द्युलोक में मधुरस का साम्राज्य है, परमेष्ठी में अमृत (सोम) का साम्राज्य है, एवमेव अन्तरिक्षगत वायु में घृतरस (तरल रस) की प्रधानता है—'घृतमन्तरिक्षस्य' (शत.''''''''''''''''')। यद्यपि वायुप्राणप्रधान घृत सभी प्राणियों में रहता है, परन्तु इस की अतिमात्रा 'शूकर' नाम के पशु में ही रहती है। शूकर पशु उस वायुरूप आधिदैविक वराह की साक्षात् प्रतिमा है। जिस प्रकार कश्यप प्रजापति का अवतार कूर्म (कछुआ) है, एवमेव वराहप्रजापति का अवतार शूकर पशु है। अतएव इतर पशुओं की अपेक्षा शूकर में चर्बी (घृत) अतिमात्रा में उपलब्ध होती है। सब से अधिक घृत इसमें रहता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

"अग्नौ (पार्थिवाग्नौ) ह वै देवा घृतकुम्भं प्रवेशयाञ्चक्रुः, ततो—
वराहः सम्बभूव। तस्माद् वराहो मेदुरः, घृताद्धि सम्भूतः"

[श० ५।४।३।१८]

पार्थिव अग्नि रुद्र है। यह क्रोध [मन्यु] मूर्त्ति है, इसी में घृताहुति होने से शूकरपशु उत्पन्न होता है। राजसूययज्ञ में दीक्षित राजा वाराहीउपानत् [शूकरचर्म के जूते] पहिनता

पूर्व में हमनें यजुरूप ब्रह्माग्नि को पुरुष कहा था एवं सुब्रह्मरूप आप को स्त्री कहा था। आज इससे ठीक विपरीत कहते हैं। अग्निरूप ब्रह्म स्त्री है, आपोमय सुब्रह्म पुरुष है। वह अग्निपुरुष स्त्री बन रहा है, यह सुब्रह्मस्त्री पुरुष बन रही है। इस वैपरीत्य का प्रत्यक्ष अनुभव मनुष्य समाज में किया जासकता है। आप जिन्हें मनुष्य कहते हैं, वे सब स्त्रिएं हैं, एवं जिन्हें स्त्री कहते हैं, वे सब पुरुष हैं। इसी रहस्य का प्रतिपादन करते हुए महर्षि दीर्घतमा कहते हैं—

> स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः ।
> कविर्यः पुत्रः स ईमाचिकेत यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत् ॥
> ऋक् सं० १ मण्डल, अस्यवामीयसूक्त १६४, १५ मं० ।

सर्वश्री सायणाचार्यनें उक्त मन्त्र के आध्यात्मिक और आधिदैविक पक्ष भेद से दो अर्थ किए हैं। अधिदैवतपक्ष में सौररश्मियों की प्रधानता मानी है रश्मियों पर ही अर्थ घटाया है। एवं अध्यात्मपक्ष में निरस्तसमस्तोपाधिक विशुद्ध आत्मा के साथ अर्थ का समन्वय किया है। इधर वेद के प्रसिद्ध व्याख्याता यास्कमुनिनें मन्त्र को आत्मगति परक लगाया है। इस मन्त्र से हम जिस अर्थ का दिग्दर्शन करानें वाले हैं, उसका किसी भाष्य से सम्बन्ध नहीं हैं, वह अर्थ स्वतन्त्र अर्थ है। सायणाचार्य नें जो अर्थ किए हैं, उनके सम्बन्ध में भी हमारी यह विप्रतिपत्ति है कि वहां पदार्थों का विज्ञानदृष्टि से विश्लेषण नहीं हुआ है। केवल शब्दाडम्बर पर विश्राम हुआ है। इस कथन से हम अपनें वेदप्रेमी पाठकों को यह सूचित करना चाहते हैं कि उपलब्ध वेदभाष्य कर्मकाण्ड की दृष्टि से भले ही उपयोगी हों, परन्तु विज्ञानदृष्टि से भाष्यार्थ अनुपयुक्त एवं अमर्यादित से प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए अन्नशब्द को लीजिए। अन्नशब्द का ब्राह्मण ग्रन्थों में 'अन्नमिति द्व्यक्षरम्' यह निर्वचन हुआ है। भाष्यकारनें 'अत-इत्येकमक्षर, नमित्येकमक्षरम्' यह निर्वचन किया है। विचार कीजिए क्या यह निर्वचन ठीक है। अत्–और नम्–अक्षर हैं, इस सर्वविदित विषय के लिए गम्भीराशया श्रुतिनें–'अन्नमिति-

द्वयक्षरम्' कहा हो–यह बात नहीं जचती । अवश्य ही श्रुति किसी गूढ अर्थ को सूचित करती है। हमारी दृष्टि से यहां दो अक्षरों से अग्नि एवं सोम अभिप्रेत हैं। पञ्चाक्षरों में ब्रह्मा विष्णु–इन्द्र–यह तीन अक्षर सहचारी हैं, अग्नी सोम यह दो अक्षर सहचारी हैं। अग्नि की विकासभूमि सूर्य है, सोम की विकासभूमि चन्द्रमा है। सूर्यचन्द्ररस के समन्वय से अन्न का निर्माण होता है। यह अन्न ओषधि–वनस्पति भेद से दोभागों में विभक्त है। ओषधियों में सौर अग्नि गौण रहता है, चान्द्रसोम प्रधान रहता है, अतएव यह मनोबल वर्द्धक हैं, अतएव चन्द्रमा को ओषधियों का पति कहा जाता है, चन्द्रमा ही मन का अधिष्ठाता है। एवमेव वनस्पतियों में चान्द्रसोम गौण, सौर अग्नि प्रधान रहता है। अतएव वनस्पतिएं बुद्धिवर्धक मानी जाती हैं, सूर्य ही बुद्धि का प्रवर्त्तक है। इसप्रकार ओषधि–वनस्पतिरूप उभयविध अन्न में तारतम्य से अग्नि–सोम दोनों अक्षरों की सत्ता सिद्ध होजाती है। श्रुति का लक्ष्य इन्हीं दो अक्षरों की ओर है, न कि आबालवृद्ध विदित अव्–और नम् अक्षरों की ओर। यही दशा उपर्युक्त मन्त्रार्थ की है। यद्यपि विषय अप्राकृत है, तथापि शैली के परिचय के लिए रेतोधा प्रकरण के सम्बन्ध से उक्त मन्त्र का वैज्ञानिक अर्थ पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है।

उक्त मन्त्रार्थ के सम्बन्ध में आत्मविपर्य्यिणीभावना, रश्मिविपर्य्यिणीभावना, शुक्रविपर्य्यिणीभावना इन तीन भावनाओं की प्रधानता है। प्रकृत में शुक्रविपर्य्यिणी भावना का ही सम्बन्ध है, अतः सूचीकटाह न्याय से पहिले संक्षेप से आत्म० रश्मि० भावना का ही दिग्दर्शन कराया जाता है।

१–आत्मविपर्य्यिणीभावना

आत्मविपर्य्यिणीभावना के सम्बन्ध में आपको महात्मा, देवात्मा, भूतात्मा इन तीन आत्मविवर्तों को सामने रखना पड़ेगा। स्वायम्भुवआत्मा को महात्मा कहा जाता है, सौर

१–इस विषय का विशद विवेचन शतपथ विज्ञानभाष्य के प्रथम वर्ष में उपलब्ध ब्राह्मणभाष्य में देखना चाहिये।

आत्मा दैवात्मा है एवं पार्थिवआत्मा भूतात्मा है। उपनिषदों में स्वायम्भुव आत्मा की प्रधानता है, निगमशास्त्र [ऋक्-यजुः साम नाम से प्रसिद्ध वेदत्रयी] में सौरआत्मा की प्रधानता है, एवं आगमशास्त्र में पार्थिव भूतात्मा का निरूपण है। मौलिक सौरपदार्थों का निरूपण करने वाला ऋग्वेद है, यौगिक सौरपदार्थों का निरूपण यजुर्वेद है, एवं सौरप्राणों का पार्थिवप्राणों के साथ सम्बन्ध रहस्य बतलाने वाला वेदविभाग सामवेद है। यह त्रयीविद्या निगमशास्त्र है, इस की प्रतिष्ठा दैवात्मा है। केनोपनिषत् में इन तीनों का विस्तार से निरूपण होने वाला है। अतः प्रकृत में इनके नाममात्रों का उल्लेख कर दिया है। वहां (केनोपनिषत् में) 'ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये' 'भूतेषु भूतेषु निचित्य धीराः' यह कहा गया है। इनमें ब्रह्म' ब्रह्मात्मा है, 'देवेभ्यः' दैवात्मा का सूचक है, एवं 'भूतेषु भूतेषु' भूतात्मा का सूचक है।

अव्ययपुरुषालम्बनक्षरपुरुषसाधक अक्षरपुरुष ब्रह्मात्मा है, यही औपनिषदपुरुष किं वां औपनिषदात्मा है। वाङ्मयप्राणरूप अंगीप्राण के समवाय से जिस अङ्गीप्राण का उदय होता है, वह इतर प्राणों का (इन्द्रियप्राणों का आत्मा है, इसी का नाम दैवात्मा है। यही नैगमिक आत्मा है। जो जिसका उक्थ-ब्रह्म-साम होता है, वही उसका आत्मा कहलाता है। यही आत्मा भूतात्मा है। इसी को आगमिकआत्मा कहाजाता है। इन तीनों में से प्रकृतमन्त्र औपनिषदात्मा (ब्रह्मात्मा) का ही निरूपण करता है।

उक्त तीनों आत्मविवर्त्त एकमात्र अव्यय पुरुष की विभूति हैं। यही ब्रह्मात्मा है, यही दैवात्मा है, यही भूतात्मा है-'मत्तः परतरं नान्यत्' । अव्ययपुरुष की आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक् यह पांच कलाएं बतलाई गई हैं। इन पांचों के आनन्दविज्ञान मनं, प्राणवाक् यह तीन विभाग हैं। प्रथम विभाग ज्ञानप्रधान ज्ञानात्मा है, दूसरा विभाग काम (इच्छा) प्रधान कामात्मा है, तीसराविभाग कर्मप्रधान 'कर्मात्मा' है। ज्ञानात्मा ज्ञानशक्तिप्रधान है, कामात्मा क्रियाशक्तिप्रधान है, कर्मात्मा अर्थशक्तिप्रधान है, इसी को अन्नात्मा भी कहा जाता है। याञ्चाभाव का नाम अर्थ है। अन्न की ही याञ्चा होती है। यह विभाग मौलिक विभाग हैं।

इसी अव्ययपुरुष से आगे जाकर अक्षर और आत्मक्षर का विकास होता है। महामाया के सम्बन्ध से हृदयबलरूप अक्षराक्षर का विकास होता है, जैसा कि पुरुषनिरुक्ति में विस्तार से बतलाया जाचुका है। अव्ययात्मा का कलाभूत कर्मात्मा प्राणवाङ्मय बतलाया गया है। इस पर कामात्मारूप मन का भी अनुग्रह रहता है। अतएव अव्ययकर्मात्मा मन-प्राण-वाक् भेद से त्रिकल बनजाता है। कर्मात्मा का मनोभाग ज्ञानशक्तिघन होता हुआ ज्ञानात्मा है, प्राणभाग क्रियाशक्तिघन होता हुआ कामात्मा है, एवं वाग्भाग् अर्थशक्तिघन होता हुआ कर्मात्मा है। इस प्रकार अव्यय के केवल कर्मात्मा में भी मन-प्राण-वाक् भेद से उक्त तीन आत्माओं का भोग सिद्ध होजाता है। दूसरा विभाग ज्ञानात्मा का है। आनन्द विज्ञान को ज्ञानात्मा कहा है। जिस प्रकार मध्यपतित कामरूपमन का कर्मात्मरूप प्राणवाक् पर अनुग्रह होता है, एवमेव आनन्द-विज्ञानरूप ज्ञानात्मा के साथ भी मन का सम्बन्ध होता है ऐसी स्थिति में अव्यय का ज्ञानात्माभाग आनन्द-विज्ञान-मन भेद से त्रिकल बन जाता है। आनन्द शुद्ध ज्ञानमूर्त्ति बनता हुआ ज्ञानात्मा है, विज्ञान क्रियामय होता हुआ कर्मात्मा है, मन अर्थों की आधारभूमि बनता हुआ कर्मात्मा है। इस प्रकार अव्यय के केवल ज्ञानात्मा में भी आनन्द-विज्ञान–मन भेदसे उक्त तीनों आत्माओं का भोग सिद्ध होजा है। तीसरा है मध्यपतित काममय मन नाम का कामात्मा। जिस प्रकार अव्यय के आनन्द विज्ञानरूप ज्ञान भाग के साथ, एवं प्राणवाक्रूपकर्म भाग के साथ मध्यस्थ मन का सम्बन्ध रहता है, एवमेव मध्यस्थ मन पर भी ज्ञान-कर्मात्मा दोनों का अनुग्रह होता है। ज्ञानात्मा के सम्बन्ध से (आनन्द विज्ञान के सम्बन्ध से) मन में काम (कामना इच्छा) का उदय होता है। 'ज्ञानजन्या भवेदिच्छा' यह सिद्धान्त सर्वसम्मत है। कर्मात्मा के (प्राणवाक् के) सम्बन्ध से मन में आवरण का उदय होता है। मध्यस्थ मन काम आवरण के सम्बन्ध से क्षुब्ध हो पड़ता है, यह क्षोभ ही विक्षेप है। इस प्रकार केवल मनमें ही काम-विक्षेप-आवरण इन तीन वृत्तियों का उदय हो जाता है। ज्ञानानुगृहीत काममयमन ज्ञानात्मा है, कर्मानुगृहीत आवरणमय मन कर्मात्मा है, विक्षेपरूपा वही मन कामात्मा है। इस प्रकार काम विक्षेप-आवरण के सम्बन्ध से केवल मध्यस्थ कामात्मरूप मन में भी उक्त तीनों आत्माओं का भोग सिद्ध

ब्रह्मात्मविवर्त्त → दैवात्मविवर्त्त → भूतात्मविवर्त्त

अव्ययविभूतिः	१–आनन्दविज्ञाने	१–मनः	१–प्राणवाचौ	अव्ययविवर्त्तम्
	२–आनन्दः	२–विज्ञानम्	२–मनः	
	३–कामः	३–विक्षेपः	३–आवरणम्	
	४–मनः	४–प्राणः	४–वाक्	
	५–अव्ययः	५–अक्षरः	५ आत्मक्षरः	
अक्षरविभूतिः	६–ब्रह्मा	६–इन्द्राविष्णू	६ अग्नीषोमौ	अक्षरविवर्त्तम्
क्षरविभूतिः	७–प्राणः	७–अन्नवाचौ	७ अन्नादौ	क्षरविवर्त्तम्

ब्रह्मात्मा	कामात्मा	कर्मात्मा
उपनि पद्	आर ण्यक	आ ह्मण
औपनिषद् आत्मा (ज्ञानकाण्डम्)	नैगमिकआत्मा (उपासनाकाण्डम्)	आगमिकआत्मा (कर्मकाण्डम्)



अव्यय, अक्षर, क्षरभेद से पुरुषत्रयरूप वह पुरुष विश्व में चेतन, अर्द्धचेतन, अचेतन भेद से तीन विभागों में विभक्त होरहा है। चेतनसृष्टि उसका पहिला विवर्त है, इसका प्रधान अधिष्ठाता क्षरयक्षरविशिष्ट अव्ययपुरुष [ज्ञानात्मा] है। अर्द्धचेतनसृष्टि इसका दूसरा विवर्त है, इसका अधिष्ठाता अव्ययक्षरविशिष्ट अक्षरपुरुष [कामात्मा] है। एवं अचेतनसृष्टि तीसरा विवर्त है। इसका अधिष्ठाता अव्ययक्षरविशिष्ट क्षरपुरुष [कर्मात्मा] है। चेतनसृष्टि में अक्षरब्रह्मा, एवं क्षरप्राण का सहयोग है, अर्द्धचेतनसृष्टि में इन्द्राविष्णू अक्षर, एवं आप्–वाक्क्षर का सहयोग है। एवं अचेतन सृष्टि में अग्नीसोमयक्षर, एवं अन्नानादक्षर का सहयोग है। चेतनसृष्टि ब्रह्मसृष्टि, किंवा आत्मसृष्टि है। अर्द्धचेतनसृष्टि देवसृष्टि, किंवा प्राणसृष्टि है। एवं अचेतनसृष्टि भूतसृष्टि, किंवा वाक्सृष्टि है। जैसा कि निम्नलिखित तालिकाओं से स्पष्ट होजाता है।

१	१–ज्ञानात्मा–अव्यय –ज्ञानेन–चेतनसृष्टि —☞ ब्रह्मात्मसृष्टि	षोडशीपुरुषस्त्रिधा
	२–कामात्मा–अक्षर –कामेनार्द्धचेतनसृष्टि —☞ देवात्मसृष्टि	
	३–कर्मात्मा–क्षर —कर्मणा–अचेतनसृष्टि —☞ भूतात्मसृष्टि	



२	१–ज्ञानात्मा–अव्यय –ज्ञानेन चेतनसृष्टि —☞ ब्रह्मात्मसृष्टि	अव्ययपुरुषस्त्रिधा
	२–कामात्मा–अव्यय –कामेन अर्द्धचेतनसृष्टि –☞ देवात्मसृष्टि	
	३–कर्मात्मा–अव्यय –कर्मणा अचेतनसृष्टि —☞ भूतात्मसृष्टि	



३	१–ज्ञानात्मा —ब्रह्मा —— ज्ञानेन चेतनसृष्टि —☞ ब्रह्मात्मसृष्टि	अक्षरपुरुषस्त्रिधा
	२–कामात्मानौ–इन्द्राविष्णू–कामेनार्द्धचेतनसृष्टि –☞ देवात्मसृष्टि	
	३–कर्मात्मानौ–अग्नीषोमौ —कर्मणा अचेतनसृष्टि ☞ भूतात्मसृष्टि	



१–ज्ञानात्मा — प्राणः— ज्ञानेन चेतनसृष्टिः — ब्रह्मात्मसृष्टिः
४ २–कामात्मानौ–अब्राचौ–कामेनार्द्धचेतनसृष्टिः– दैवात्मसृष्टिः } नरपुरुषस्त्रिपाद
३–कर्मात्मानौ–अन्नान्नादौ–कर्मणा–अचेतनसृष्टिः– भूतात्मसृष्टिः

—•—

इन तीन सृष्टियों का आगे जाकर सृष्टरूप में स्वयम्भू–सूर्य–पृथिवी इन तीन पिण्डों में विकास होता है। स्वयम्भू चेतनसृष्टि का आलम्बन है, अतएव प्रकरणारम्भ में हमनें ब्रह्मात्मा को स्वायम्भुव आत्मा कहा है। सूर्य अर्द्धचेतनसृष्टि का आलम्बन है, अतएव दैवात्मा को सौरआत्मा कहा है। पृथिवी अचेतनसृष्टि का आलम्बन है, अतएव भूतात्मा को पार्थिवआत्मा कहा है। स्वयम्भू ब्रह्म है, सूर्य देव है, पृथिवी भूत है। यह उक्त आत्मविवर्त्तों की चरम अवसानभूमि है।

१–ब्रह्म–स्वयम्भूः–ज्ञानमयो–मनोमयः —ज्ञानात्मा — ब्रह्मात्मा
२–देवः–सूर्यः —क्रियामयः–प्राणमयः—कामात्मा — दैवात्मा } त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः
३–भूतम्–पृथवी — अर्थमयी –वाङ्मयी—कर्मात्मा — भूतात्मा

—•—

१–पञ्चकलाव्यय—द्विकलाव्यय—ब्रह्म———प्राणमयः—स्वायम्भुव आत्मा — ब्रह्मात्मा
२–पञ्चकलाक्षर——एककलाव्यय–इन्द्राविष्णु—आपोमयः——सौर आत्मा —— दैवात्मा
३–पञ्चकलाक्षर——द्विकलाव्यय—अग्नीषोम—अन्नान्नादमयः–पार्थिव आत्मा — भूतात्मा

—०—

१—चेतनाप्रधानः——पुरुषः——चेतनपुरुषः
२—अर्द्धचेतनाप्रधानः–पुरुषः——अर्द्धचेतनपुरुषः } 'पुरुष एवेदं सर्वम्'
३—अचेतनप्रधानः——पुरुषः——अचेतनपुरुषः

—०—

अव्यय, अक्षर, क्षरभेद से पुरुषत्रयस्वरूप वह पुरुष विश्व में चेतन, अर्द्धचेतन, अचेतन भेद से तीन विभागों में विभक्त होरहा है। चेतनसृष्टि उसका पहिला विवर्त है, इसका प्रधान अधिष्ठाता क्षराक्षरविशिष्ट अव्ययपुरुष [ज्ञानात्मा] है। अर्द्धचेतनसृष्टि इसका दूसरा विवर्त है, इसका अधिष्ठाता अव्ययक्षरविशिष्ट अक्षरपुरुष [कामात्मा] है। एवं अचेतनसृष्टि तीसरा विवर्त है। इसका अधिष्ठाता अव्ययाक्षरविशिष्ट क्षरपुरुष [कर्मात्मा] है। चेतनसृष्टि में अक्षरब्रह्मा, एवं क्षरप्राण का सहयोग है, अर्द्धचेतनसृष्टि में इन्द्राविष्णू अक्षर, एवं आप्–वाक्क्षर का सहयोग है। एवं अचेतन सृष्टि में अग्नीषोमाक्षर, एवं अन्नान्नादक्षर का सहयोग है। चेतनसृष्टि महत्सृष्टि, किंवा आत्मसृष्टि है। अर्द्धचेतनसृष्टि देवसृष्टि, किंवा प्राणसृष्टि है। एवं अचेतनसृष्टि भूतसृष्टि, किंवा वाक्सृष्टि है। जैसा कि निम्नलिखित तालिकाओं से स्पष्ट होजाता है।

१
१–ज्ञानात्मा–अव्यय–ज्ञानेन–चेतनसृष्टि → महात्मसृष्टि
२–कामात्मा–अक्षर–कामेनार्द्धचेतनसृष्टि → दैवात्मसृष्टि
३–कर्मात्मा–क्षर–कर्मणा–अचेतनसृष्टि → भूतात्मसृष्टि
} षोडशीपुरुषत्रिपात



२
१–ज्ञानात्मा–अव्यय–ज्ञानेन चेतनसृष्टि → महात्मसृष्टि
२–कामात्मा–अव्यय–कामेन अर्द्धचेतनसृष्टि → दैवात्मसृष्टि
३–कर्मात्मा–अव्यय–कर्मणा अचेतनसृष्टि → भूतात्मसृष्टि.
} अव्ययपुरुषत्रिपात



३
१–ज्ञानात्मा–महान्–ज्ञानेन चेतनसृष्टि → महात्मसृष्टि
२–कामात्मा–इन्द्राविष्णू–कामेनार्द्धचेतनसृष्टि → दैवात्मसृष्टि
३–कर्मात्मा–अग्नीषोमौ–कर्मणा अचेतनसृष्टि → भूतात्मसृष्टि
} अक्षरपुरुषत्रिपात

———

४ १–ज्ञानात्मा — प्राणः — ज्ञानेन चेतनसृष्टिः — ब्रह्मात्मसृष्टिः
२–कामात्मानौ–अबूनाचौ–कामेनार्द्धचेतनसृष्टिः– दैवात्मसृष्टिः
३–कर्मात्मानौ–अन्नान्नादौ–कर्मणा–अचेतनसृष्टिः– भूतात्मसृष्टिः
} – क्षरपुरुषस्त्रिपाद्

—————

इन तीन सृष्टियों का आगे जाकर मूर्तरूप में स्वयम्भू–सूर्य–पृथिवी इन तीन पिण्डों में विकास होता है। स्वयम्भू चेतनसृष्टि का आलम्बन है, अतएव प्रकरणारम्भ में हमनें ब्रह्मात्मा को स्वायम्भुव आत्मा कहा है। सूर्य अर्द्धचेतनसृष्टि का आलम्बन है, अतएव दैवात्मा को सौरआत्मा कहा है। पृथिवी अचेतनसृष्टि का आलम्बन है, अतएव भूतात्मा को पार्थिवआत्मा कहा है। स्वयम्भू ब्रह्म है, सूर्य देव है, पृथिवी भूत है। यह उक्त आत्मविवर्त्तों की चरम अवसानभूमि है।

१–ब्रह्म–स्वयम्भूः–ज्ञानमयो–मनोमयः —ज्ञानात्मा — ब्रह्मात्मा
२–देवः–सूर्यः —क्रियामयः–प्राणमयः—कामात्मा — दैवात्मा
३–भूतम्–पृथ्वी — अर्थमयी –वाङ्मयी—कर्मात्मा — भूतात्मा
} – त्रिसाहस्र्ये उदेवपुरुषः

—————

१–पञ्चकलाव्यय—द्विकलाव्यय—ब्रह्म ——प्राणमय.— स्वायम्भुव आत्मा — ब्रह्मात्मा
२–पञ्चकलाक्षर——एककलाव्यय–इन्द्राविष्णु—आपोमयः—–सौर आत्मा —— दैवात्मा
३–पञ्चकलाक्षर——द्विकलाव्यय—–अग्नीषोम—अन्नान्नादमयः–पार्थिव आत्मा — भूतात्मा

—————

१—चेतनाप्रधानः—–पुरुषः—–चेतनपुरुषः
२—अर्द्धचेतनाप्रधानः–पुरुषः—–अर्द्धचेतनपुरुषः
३—अचेतनप्रधानः—–पुरुषः—–अचेतनपुरुष.
} – 'पुरुष एवेदं सर्वम्'

—————

उक्त तीन आत्मविवर्तों के कारण त्रेधा विभक्त आत्मपुरुष की उपासना भी तीन ही तरह से होसकती है। समस्त उपनिषदों में उपासना के तीन ही द्वार हैं। वह आत्मपुरुष चेतनदृष्टि से भी उपास्य है, अर्द्धचेतनदृष्टि से भी उपास्य है, अचेतनदृष्टि से भी उपास्य है। अधिकारी भेद से उपासना भेद प्रतिष्ठित हैं। प्रथमाधिकारी अचेतनदृष्टि से उसकी उपासना कर सकते हैं, मध्यमाधिकारी अर्द्धचेतनदृष्टि से, एवं उत्तमाधिकारी चेतनदृष्टि से उसका ध्यान कर सकते हैं। यही तीनों उपासनाएं सर्वभूतान्तरात्मोपासना, हिरण्यगर्भोपासना, अश्वत्थोपासना, नाम से प्रसिद्ध हैं। इन तीनों उपासनातत्त्वों का उपनिषदों में पृथक् पृथक् रूप से निरूपण हुआ है। विस्तारभय से अधिक न कहकर प्रकृत में केवल तीनों उपासनाओं के तीन मन्त्र उपन्यस्त कर दिए जाते हैं—

१ अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवीह्येष सर्वभूतान्तरात्मा। — सर्वभूतान्तरात्मा
(मुण्डक० २।१।४)

२ हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ — हिरण्यगर्भः
(यजु सं० १३।४)

३ ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते॥ (कठ० ६।१।१)।
यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित्, यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥ — अश्वत्थः
(श्वेता० ३।६)

सर्वभूतान्तरात्मनोपासना स्वयम्भूमूला उपासना है। स्वयम्भू विश्वरूप है, सर्वरूप है। पृथिवीपर्यन्त सातों लोक, भूत, देवता, पशु सब कुछ इसके उदर में समारहे हैं। सप्तलोक

सम्बन्ध से ही इसे 'सत्तवितस्तिकाय' कहा जाता है। यही विश्वेश्वर है, यही महात्मा है। इस विश्वरूप की उपासना करना, निरन्तर उसके व्यापक स्वरूप का चिन्तन करते रहना आत्मविकास का मुख्य हेतु है। इससे आत्मज्ञान का उदय होता है, कारण यह आत्मा ज्ञानात्म बनता हुआ मनप्रधाना चेतनसृष्टि का अधिष्ठाता है।

हिरण्यगर्भोपासना सूर्यमूला उपासना है। सूर्य स्वयं हिरण्यगर्भ है। सौराग्निमण्डल हिरण्य है। इसके गर्भ में सूर्य प्रतिष्ठित है। हिरण्य के चारों ओर आप् और वायु का स्तर है। सतत सूर्यध्यान से अध्यात्मगत देवप्राण सबल बनता है। आत्मज्ञानोपकारिणी विद्याबुद्धि का उदय होता है। कारण यह आत्मा कामात्मा (देवात्मा) बनता हुआ प्राणप्रधाना अर्द्धचेतनसृष्टि का अधिष्ठाता है।

अश्वत्थोपासना पृथिवीमूला है। "वह एक स्तब्ध वृक्षवत् खड़ा है, वह शान्त है, अचल है" इस प्रकार से विश्व की वृक्ष (संसारवृक्ष) दृष्टि से भावना करने वाले के आत्मा में अर्थशक्ति का उदय होता है। अर्थद्वारा क्रिया पर अधिकार करता हुआ उपासक ज्ञानतत्त्व प्राप्त करने में समर्थ होजाता है।

यही तीनों उपासनाएं ओङ्कारोपासना, उद्गीथोपासना, प्रणवोपासना नाम से भी व्यवहृत हुई हैं। स्वयम्भूमूला सर्वभूतान्तरात्मोपासना ओंकारोपासना है, जैसा कि श्रुति कहती है—

'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्। तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव।
यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव' (माण्डूक्य उ० १)।
"एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः" [प्र० उ० ५]।

सूर्यमूला हिरण्यगर्भोपासना उद्गीथोपासना है, जैसा कि "य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत" (छां० उ० १।३।१) इत्यादिरूप से स्पष्ट है। एवं तीसरी पृथिवीमूला अश्वत्थोपासना प्रणवोपासना है। प्रसङ्गोपात्त यह भी ध्यान रखना चाहिये कि कृत ईशोपनिषत् स्वयम्भूमूला ओंकारोपासना (सर्वभूतान्तरात्मोपासना) का निरूपण करती है, जैसा कि 'ओं पूर्णमदः पूर्णमिदम्'

इस आरम्भ के मंगलपाठ से सिद्ध है। कठोपनिषत् पृथिवीमूला प्रणवोपासना (अश्वत्थोपासना) का निरूपण करती है, जैसा कि "ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः" (कठ० ६।१) इत्यादिरूपसे स्पष्ट है, एवं मुण्डकोपनिषत् सूर्यमूला उद्गीथोपासना (हिरण्यगर्भोपासना) का निरूपण करती है, जैसा कि "तदेतत्सत्यं [आदित्यः] मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यन्" [मु० १।२।१] "येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यम्" [मु० १।२।१३] "यत्र यत्र तत्र सूर्यः" [मु० २।१।६], "हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्" [मु० २।२।९] यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्" [मु० ३।१।३] 'बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपम्" [मु० ३।१।७] "हरं जुह्वेत एतानि अद्रयाः" [मु० ३।१।१०] इत्यादि रूप से स्पष्ट है। तीनों ही उपासनाओं का लक्ष्य अभिन्न है। स्वयम्भू को मूल मानकर पृथिवी तक आजाना ओंकारोपासना है। पृथिवी को मूल मानकर स्वयम्भू तक चले जाने प्रणवोपासना है। सूर्य को मूल मानकर इधर पृथिवी एवं उधर स्वयम्भू तक चले जाना उद्गीथोपासना है। प्रणव भी ओंकार है, उद्गीथ भी ओंकार है। जो प्रणव है वही उद्गीथ है, जो उद्गीथ है वही प्रणव है। दृष्टिकोण में भेद है, फलत तीनों आत्मदृष्टि से अभिन्न हैं। इसी अभिन्नता को लक्ष्य में रखकर छान्दोग्यश्रुति कहती है—

"अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवः, यः प्रणवः स उद्गीथ इति।
असौ वा आदित्य उद्गीथः, एषः प्रणवः—ओम्। इति ह्येष स्वरन्नेति"
(छां० उ० ३.५।१)।

ओंकारोपासना अव्ययोपासना है, उद्गीथोपासना अक्षरोपासना है, प्रणवोपासना क्षरोपासना है। कारण अव्यय का स्वायम्भुव ब्रह्मा पर, अक्षर का सौरइन्द्र पर, क्षर का पार्थिव अग्नि पर अनुग्रह है, जैसा कि पूर्व की तालिकाओं से स्पष्ट कर दिया गया है। इन तीनों उपासनाओं में प्रणवोपासना भूतात्मा से सम्बन्ध रखती हुई कर्मकाण्ड है, उद्गीथोपासना दैवात्मा से सम्बन्ध रखती हुई उपासनाकाण्ड है, ओंकारोपासना ब्रह्मात्मा से सम्बन्ध रखती हुई ज्ञानकाण्ड है। गीता इसी उपासना को प्रधान मानती है। कर्म का सम्बन्ध वाङ्मय भूतभाग के साथ है, उपासना देवता की ही होती है, ईश्वर अनुपास्य है, केवल ज्ञानगम्य है।

१–सर्वभूतान्तरात्मोपासना–(स्वयम्भूमूला–ब्रह्मात्मोपासना-ओंकारोपासना)–ज्ञानकाण्डम्

२–हिरण्यगर्भोपासना—(सूर्यमूला—दैवात्मोपासना-उद्गीथोपासना)–उपासनाकाण्डम्

३–अश्वत्थोपासना—(पृथिवीमूला–भूतात्मोपासना-प्रणवोपासना)–कर्मकाण्डम्

औपनिषत्काल में उपासना का यही क्रम था। परन्तु कालव्यतिक्रम से ज्यों ज्यों मानव समाज का बौद्धजगत् निर्बल होता गया त्यों त्यों वह प्राकृतिक तत्त्वों की उपासना में शिथिल बनता गया। अतएव पुराणयुग में उक्त तीनों उपासनाएं प्रतिमोपासना रूप में परिणत हो गईं। इस का यह अर्थ नहीं है कि प्रतिमोपासना अवैदिक है। स्वयम्भू-सूर्य पृथिवी भी तो उसी की प्रतिमा हैं। पृथिवीपर दृष्टि रक्खी जाती है, मनोयोग आत्मापर रहता है। सूर्यबिम्ब प्रतिमा है, इस पर दृष्टि रक्खी जाती है, तद्द्वारा ध्यान सर्वव्यापक आत्मा का किया जाता है। निरुक्त से अनिरुक्त पर पहुंचना ही तो प्रतिमोपासना है। स्थूल को लक्ष्य बनाकर सूक्ष्म पर पहुंचना ही प्रतिमापूजन है। "दृष्टि अन्यपर–लक्ष्य अन्य पर"* इसी का तो नाम उपासना है। विशुद्ध अमूर्त्त की उपासना तो बन ही नहीं सकती। उपासना मूर्त्तब्रह्म, किंवा मूर्त्ति की ही हो सकती है। कोई प्राकृतिक पृथिवी-सूर्यपिण्ड आदि मूर्त्तियों की उपासना करता है तो अन्य तत्सदृश साधारण अधिकारी पृथिवी के अवयवरूप पाषाणादि की प्रतिमा को ही भगवदाराधना का साधन मानते हैं। लक्ष्य एक है, प्रकार में भेद है। पुराणने किसी नवीन अवैदिक पद्धति का अनुसरण नहीं किया है, अपि तु जो उपासना वेद (उपनिषत्) में अंगीरूप से है उसे अधिकारी वर्ग की शिथिलता से अङ्ग का रूप दे डाला है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है।

१–चेतनेदृष्टिः, चेतनोपासनम्। २–अर्द्धचेतनेदृष्टि, अर्द्धचेतनोपासनम्। ३–अचेतनेदृष्टिः, अचेतनोपासनम्।

* इस विषय का विशद विवेचन गीताविज्ञानभाष्य में द्रष्टव्य है।

इस आरम्भ के मंगलपाठ से सिद्ध है। कठोपनिषत् पृथिवीमूला प्रणवोपासना (अश्वत्थोपासना) का निरूपण करती है, जैसा कि "ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः' (कठ० ६।१) इत्यादिरूपसे स्पष्ट है, एवं मुण्डकोपनिषत् सूर्यमूला उद्गीथोपासना (हिरण्यगर्भोपासना) का निरूपण करती है, जैसा कि "तदेतत्सत्यं [आदित्यः] मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यन्" [मु० १।२।१] ' येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यम्" [मु० १।२।१३] "यत्र यत्र तत्र सूर्यः" [मु० २।१।६], "हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्" [मु० २।२।६] यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्" [मु० ३।१।३] 'बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपम्" [मु० ३।१।७] "सत्यं ज्ञुह्वे एकर्षि श्रद्दधानाः' [मु० ३।२।१०] इत्यादि रूप से स्पष्ट है। तीनों ही उपासनाओं का लक्ष्य अभिन्न है। स्वयम्भू को मूल मानकर पृथिवी तक आजाना ओंकारोपासना है। पृथिवी को मूल मानकर स्वयम्भू तक चले जाने प्रणवोपासना है। सूर्य को मूल मानकर इधर पृथिवी एवं उधर स्वयम्भू तक चले जाना उद्गीथोपासना है। प्रणव भी ओंकार है, उद्गीथ भी ओंकार है। जो प्रणव है वही उद्गीथ है, जो उद्गीथ है वही प्रणव है। दृष्टिकोण में भेद है, तत्त्वत तीनों स्वरूपदृष्टि से अभिन्न हैं। इसी अभिन्नता को लक्ष्य में रखकर छान्दोग्यश्रुति कहती है—

"अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवः, यः प्रणवः स उद्गीथ इति।
असौ वा आदित्य उद्गीथः, एषः प्रणवः—ओम। इत ह्येष स्वरन्नेति"

(छा० उ० १।५।१)।

चिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ।
उपासकानां सिद्धयर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥

जो क्रम उक्त तीनों उपासनाओं का था, वही क्रम यहां रक्खा गया । श्रद्धालु उपासक यह जानते हैं कि आर्यावर्त्त में उपासना के मूलस्तम्भ दो माने जाते हैं । प्रतिमा पहिला स्तंभ है, वृक्षादि दूसरा स्तम्भ है । पीपल–वट-तुलसी-केला आदि वृक्षों की उपासना की जाती है । भगवच्चरित्र, भगवत् प्रतिमाओं की उपासना की जाती है । यह प्रतिमोपासना साकार–निराकार भेद से दो भागों में विभक्त है । शालग्रामोपासना निराकारोपासना है । हस्त-पाद-उर-चरणादि शरीर अवयवयुक्त मूर्त्तियों की आराधना साकारोपासना है । इस प्रकार शालग्रामोपासना, प्रतिमोपासना, वृक्षोपासना भेद से पौराणिक उपासना तीन भागों में विभक्त है । चेतनसृष्टि सदा अर्द्धेन्द्र होती है, वर्त्तुल नहीं होती । पुरुष [मनुष्य] चेतन है, वह अर्द्धेन्द्र है । आधे खगोल से इसका निर्माण हुआ है । इस उपासना में प्रतिमा का स्वरूप पुरुषाकार जैसा बनाया जाता है । यही सुप्रसिद्ध प्रतिमोपासना पहिली सर्वभूतान्तरात्मोपासना है । अर्द्धचेतनोपासना शालग्रामोपासना है, यही हिरण्यगर्भोपासना है । शालग्रामप्रतिमा के केन्द्र में सुवर्ण रहता है । ऊपर का कृष्णस्तर स्वयम्भू है । सुवर्ण सूर्य की प्रतिमा है । शालग्राम सचमुच हिरण्यगर्भ है । तीसरी अचेतनोपासना वृक्षोपासना है । शालग्रामोपासना का बड़ा महत्व माना गया है । इसमें तीन भाग हैं । कृष्णभाग, रश्मिभाग, सूर्य भेद से शालग्राम त्रिवृत् है, त्रिपात् पुरुष है । ऊपर का कृष्णभाग साक्षात् स्वयम्भू ब्रह्मा है, रश्मिभाग विष्णु है, केन्द्रस्थ सुवर्णभाग शिव है । त्रिमूर्त्ति की समष्टि शालग्रामप्रतिमा है ।

प्रकारान्तर से विचार करिए—

विश्व में आत्मा के तीन प्रधान विवर्त्त हैं । पहिला उदासीनभाव है, दूसरा प्रकृतिभाव है, तीसरा विकृतिभाव है । उदासीनभाव 'अमृतम्' है, प्रकृतिभाव 'ब्रह्म' है, विकृतिभाव 'शुक्र' है । 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' के अनुसार अमृतरूप उदासीनभाव कार्यकारण तीत है, प्रकृति कर्त्ता है, विकृति कार्य है । कार्य, कारण, कार्यकारणातीत भेद से एक ही पुरुष

तीन भागों में विभक्त होरहा है। इस त्रिपाद्विभूति का पूर्वके अमृतात्मसंस्थाप्रकरण में विस्तार से निरूपण किया जाचुका है। अबतक जिन तीन आत्मविवर्तों का विविध रूप से दिग्दर्शन कराया गया है, उस सारे आत्मप्रपञ्च को 'अमृतम्' समझिए। अभी ब्रह्म के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया है। षोडषीपुरुष में ही कई प्रकार से तीन आत्मविवर्तों का भोग बतलाया है। ब्रह्मात्म-दैवात्म-भूतात्मसमष्टिरूप षोडशीपुरुष अमृतभाव है, इसीको ब्रह्मात्मा समझिए। यही विश्वालम्बन उदासीनभाव है। प्राणादि पांच विकार क्षररूप पंचप्रकृति ब्रह्मभाव है, यही देवात्मा है। वाक्-आप-अग्नि की समष्टि विकृति भाव है, यही शुक्र है, यही भूतात्मा है।

१– षोडशी पुरुषः— उदासीनभावः — अमृतम् ↔ ब्रह्मात्मा — (ज्ञानात्मा)
२– पञ्चप्रकृतयः — प्रकृतिभावः — ब्रह्म ↔ दैवात्मा — (कामात्मा)
३– तिस्रो विकृतयः— विकृतिभावः — शुक्रम् ↔ भूतात्मा — (कर्मात्मा)
} "तदेव"

———•———

उपर्युक्त इन तीनों आत्माओं के निम्नलिखित लक्षण समझने चाहिएं—

१–"अव्ययपुरुषालम्बनः क्षरपुरुषसाधकोऽक्षरपुरुषः"]-ब्रह्मात्मा (औपनिषदआत्मा)

२–"वाङ्मयप्राणाङ्गीभाणसमवाये योऽयमङ्गीप्राणः स इतरेषां प्राणानामात्मा"]देवात्मा (नैगमिकआत्मा)

३–"यस्य यदुक्थं ब्रह्म च साम, तत् तस्यात्मा"—]भूतात्मा (आगमिकआत्मा)



जैसा कि प्रकरण के आरम्भ में बतलाया गया है—"स्त्रियः सतीः०" इत्यादि मन्त्र अव्यय-अक्षर-क्षररूप षोडशीपुरुष नाम के औपनिषद ब्रह्मात्मा का ही निरूपण करता है। यह ब्रह्मात्मा वस्तुतः स्त्री है, फिर भी "अव्ययपुरुष, अक्षरपुरुष, क्षरपुरुष" इत्यादि रूप से इसे पुरुषशब्द से व्यवहृत किया जारहा है, स्त्रीरूप आत्मा को पुरुष बतलाया जारहा है। इसी विपरीत व्यवहार का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

'स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः'

"शिशुर्वा-आङ्गिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीत् । स पितॄन् पुत्रका इति-आमन्त्रयत । तं पितरोऽब्रुवन्-अधर्मं (करोषि) यो नः पितॄन्-'पुत्रका' इत्यामन्त्रयसे । सोऽब्रवीत्-अहं वाव पितास्मि यो मन्त्रकृद्-इति । (ते-पितरः-पुरोचरे-अश्रद्दधानाः) देवानपृच्छन्त । ते देवा अब्रुवन्-एष वाव पिता, यो मन्त्रकृद्-इति । तद्वै सः (शिशुराङ्गिरसः)- उदजयत्" इति ।

(ताण्ड्यब्रा० १३।३।२४)।

प्रकृत मन्त्रमें विद्या के अभिप्राय से ही 'पितुष्पितासत्' यह कहा है। यह है आत्म-सम्बन्धी प्रथम अर्थ का संक्षिप्त दिग्दर्शन । अब सूर्यरश्मिसम्बन्धिनी भावना का दिग्दर्शन कराया जाता है।

इति-आत्मविषयिणीभावना ।

‡

२—रश्मिविषयिणीभावना

विश्व के द्रष्टा सूर्य हिरण्यगर्भप्रजापति हैं। प्रजापति में आत्मा, प्राण, पशु यह तीन कलाएं नित्य प्रतिष्ठित रहती हैं। आयु भाग आत्मा है, ज्योति भाग प्राण है, गौ भाग पशु है। यही तीन सूर्य के मनोता हैं—(देखिए ई० उ० वि० भा० २०१ पृ०)। आयुभाग आत्मा की विकास-भूमि है, ज्योतिर्भाग देवता की विकासभूमि है, एवं गोभाग भूत का जनक है। त्रैलोक्य में जितने स्थूलभूत हैं सब का जनक सौर गौतत्त्व है। प्रकाशरूप देवताओं का विकास सौरज्योतिर्भाग से हुआ है। इस सब प्राणियों के आत्मा का आधार आयुभाग है। इन तीनों में आयुतत्त्व

---

‡ प्रमदाता, भयत्राता ... विद्या प्रयच्छति । जनिता चोपनेता च पञ्चैते पितरः स्मृताः ॥

'मुख्यप्राण' है, ब्रह्मप्राण है । इसी को 'परोरजाप्राण' कहा जाता है । इसी को लक्ष्य बनाकर—'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम्' यह कहा जाता है । इस आत्मप्राण को—'आदित्यस्य परं भाः' इस नाम से भी व्यवहृत किया जाता है । ज्योतिर्माग प्राणरूप देवता है । यह अग्नि-सोम भेद से दो भागों में विभक्त है । आग्नेयप्राणावच्छिन्न सौरसावित्राग्नि दाहक है, सौम्यप्राणावच्छिन्न पारमेष्ठ्य भार्गवसोम दाह्य है । दोनों का समन्वितरूप ज्योति है । आप सूर्य में जो प्रकाश देख रहे हैं, वह अग्नि सोम का समन्वित रूप ही है । स्थूलभूत पशुरूप है ।

१—आत्मा— आयुः (आत्मा) →—→ परोरजाप्राणः २—प्राणः— ज्योतिः (देवाः) →—→ आग्नेय-सौम्यप्राणौ ३—पशुः — गौः (भूतानि) →—→ स्थूलभूतानि	सौरसंस्था

इन तीनों में हिरण्यगर्भ नाम से प्रसिद्ध आत्मरूप परोरजाप्राण के आधार पर ही आग्नेय-सौम्यप्राण प्रतिष्ठित हैं । इस अग्नि और सोम के सम्बन्ध से अविभक्त सौरआत्मा भी दो भागों में विभक्त [स्व] होजाता है । आग्नेयप्राणावच्छेदेन यही हिरण्यगर्भ प्रजापति पुरुष है, कारण अग्नि को पुरुष माना गया है । एवं सौम्यप्राणावच्छिन्न यही प्रजापति स्त्री है, सोम को ही स्त्री माना है । इस दम्पति के मिथुनभाव से दशप्राणमूर्ति विराट् पुत्र उत्पन्न होता है । सौररश्मिएं यद्यपि अग्निसोममयी हैं, परन्तु प्रधानता सोम की ही है । कारण सोम ही आहुत होकर ज्योतिर्मय बनता हुआ रश्मिरूप में परिणत हो रहा है । रश्मिभाव साक्षात् जलता हुआ सोम है । सोम स्त्रीरूप है । अतएव हम कहसकते हैं कि सौररश्मिमण्डल स्त्रीमण्डल है । परन्तु आश्चर्य है फिर भी किरण-–मयूखः–उस्रः-इत्यादि रूप से इन्हें पुंस्त्ववाचक शब्दों से व्यवहृत किया जाता है । कारण स्पष्ट है । इस रहस्य को इनका कविपुत्र जानता है । अर्थात्–अग्नि सोम के मिथुनभाव से उत्पन्न होनें वाले विराट् का स्वरूप देखिए–वहां आपको स्त्री–पुरुष दोनों भाव उपलब्ध होंगे । विराट् ज्योतिर्मण्डल है, ज्योति सोमजन्य है । सोम भृगु है, भृगु कवि है । भृगुसोम ही अग्नि में आहुत होकर विराट् पुत्ररूप में परिणत हुआ है, इसी भार्गवतत्त्व को लक्ष्य में रखकर ऋषिनें विराट्पुत्र को 'कवि' शब्द से व्यवहृत किया है । अग्निसोम

विराट्पुत्र के पिता माता हैं। विराड्ज्योति ही उन दोनों के व्यक्तीभाव का कारण है। यदि ज्योतिभाग उत्पन्न न होता तो–सूर्य में 'अग्नी और सोम दो तत्व हैं' इसका पता ही न लगता। यही कवि का परिज्ञान है। अपने माता पिता का अभिव्यञ्जक विराट्पुत्र अवश्य ही पिता का भी पिता [अभिव्यञ्जक] है। सूर्यविज्ञान चक्षुविज्ञान, किं वा चाक्षुषपुरुषविज्ञान है। जो चाक्षुष पुरुषविज्ञानवेत्ता [सूर्यविज्ञानवेत्ता] हैं, वेही यह समझ सकते हैं कि रश्मियों के स्त्रीरूप होने पर भी उन्हें पुरुष क्यों कहा जाता है। यही मन्त्र का दूसरा अर्थ है। अब तीसरे प्रधान अर्थ की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है।

इति-रश्मिविषयिणीभावना

२

३–अथ शुक्रविषयिणीभावना

अचेतन अग्नि में अचेतन सोम की आहुति होना याज्ञिकसृष्टि है, चेतन अग्नि में चेतन सोम की आहुति होना मैथुनीसृष्टि है। अग्नि में घृताहुति याज्ञिकसृष्टि है, शोणित में शुक्राहुति का होना मैथुनीसृष्टि है। उक्त मन्त्र प्रधान रूप से मैथुनीसृष्टि का ही रहस्योद्घाटन करता है। मन्त्रार्थ का उपक्रम करते हुए कहा गया था कि संसार में जितनें पुरुष हैं, सब वास्तव में स्त्रिएं हैं। स्त्रीरूप होनें पर भी इन्हें [पुरुषों को] पुरुष कहा जाता है। एवं जितनी भी स्त्रिएं हैं, वे वास्तव में पुरुष हैं। पुरुषरूप होनें पर भी इन्हें [स्त्रियों को] स्त्री कहा जाता है [देखिए, ई० वि० भा० पृ० १८१]। विज्ञानपरिभाषा के अनुसार अग्नितत्व को पुरुष कहा जाता है, सोमतत्व को स्त्री कहाजाता है, यह निर्विवाद विषय है। यह अग्नि और सोम आत्मा और शरीर भेद से दो भागों में विभक्त रहता है। पुरुष के भौतिक शरीर का निर्माण अग्नि से होता है, एवं स्त्री के भौतिक शरीर का निर्माण सोम से होता है। अग्नि की प्रतिष्ठा

दक्षिणादिक् है, सोम की प्रतिष्ठा उत्तरादिक् है। अतएव स्त्री को वामा कहा जाता है। पुरुष दक्षिणाङ्ग है, स्त्री पुरुष का वाम भाग है। प्रति शरीर में दक्षिणापार्श्व आग्नेय है, वामपार्श्व सौम्य है। पुरुष का शरीर अग्निप्रधान होने से कर्कश होता है, स्त्री का शरीर सोमप्रधान होने से कोमल होता है। पुरुष कर्कशाङ्ग है, स्त्री कोमलाङ्गी है। इस प्रकार इस शरीर रचना की अपेक्षा से आग्नेयशरीरप्रधानपुरुष पुरुष है, सौम्यशरीरप्रधानाकी स्त्री है। इस दृष्टि से पुरुष को पुरुष कहना, एवं स्त्री को स्त्री कहना न्यायसंगत है, यथार्थ है। परन्तु आत्मदृष्ट्या उक्त लौकिक व्यवहार असंगत है। आत्मदृष्टि से अग्नि स्त्री का आत्मा बन रहा है, सोम पुरुष का आत्मा बन रहा है। स्त्री का आत्मा (प्रतिष्ठाभाव) शोणित (रुधिर) में प्रतिष्ठित है, पुरुष का जीवनीय रस शुक्र है। शोणित अग्निप्रधान है, शुक्र सोमप्रधान है। स्त्री–पुरुष–नपुंसक तीनों सृष्टियों का शुक्र शोणित सम्बन्ध के तारतम्य से सम्बन्ध है। शुक्र शोणित दोनों परस्पर अविनाभूत हैं। शुक्र साक्षात् सोम है, शोणित साक्षात् अग्नि है। सोम शीतप्रधान है, अग्नि ऊष्माप्रधान है। एक आर्द्र है, दूसरा शुष्क है। सर्दी, आर्द्र, सोम, शुक्र, योषा, रयि सब अभिन्नार्थक हैं। गर्मी, शुष्क, अग्नि, आर्त्तव, वृषा, प्राण सब अभिन्नार्थक हैं। सम्पूर्ण भौतिक विश्व इन्हीं दोनों का (अग्निषोम का) समन्वित रूप है, जैसा कि श्रुति कहती है—

"द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति शुष्कं चैवार्द्रं च। यच्छुष्कं तदाग्नेयं,
यदार्द्रं तत् सौम्यम्" [शत० १। ६। ३। २३।]

सर्वप्रथमभूत यही अग्नीषोम प्रजासृष्टि के उपादान बनते हुए शुक्र–शोणित नामसे व्यक्त होते हैं। सौम्यशुक्र स्त्री है, आग्नेय शोणित पुरुष है। यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि अग्नि अपनी चरम सीमा पर पहुंच कर आपोमय सोमरूप में परिणत होजाता है, एवमेव सोम अपनी अन्तिम प्रतिष्ठा पर पहुंच कर अग्निरूप में परिणत होजाता है। सोम संकोचधर्मा

१–सौम्यं शुक्रम्, आर्तवमाग्नेयम्। इतरेषामप्यत्र भूतानां सान्निध्यं, अस्त्यनणुविशेषेण परस्परोपकारात्, परस्परानुग्रहात्, परस्परानुप्रवेशात्–" (सुश्रुत ३ अ०।)]

है, अग्नि विकासधर्मा है। संकोच की चरमावस्था विकास की जननी है, विकास की चरमावस्था संकोच की जननी है। अग्नि तेजतत्व है, सोम स्नेहतत्व है। सीमा से अतिक्रान्त स्नेह तेज की [रुद्रभाव की] उत्पत्ति का कारण बनजाता है, सीमा से उत्क्रान्त तेज स्नेहरूप में परिणत होजाता है। दो मित्रों का निःसीम स्नेहभाव कभी कभी रुद्रभाव (वैरभाव) का उत्पादक देखा गया है, एवं दो शत्रुओं का निःसीम रुद्रभाव [वैरभाव] कभी कभी स्नेहभाव (मित्रता) का उत्पादक देखा गया है। निःसीमता [अति] स्वरूप का घात करनेवाली है। प्रत्येक वस्तु ससीमा में प्रतिष्ठित रहती हुई ही अपनी स्वरूपरक्षा करने में समर्थ होती है। हां तो प्रकृत में अग्नि सोम का विचार प्रक्रान्त है। अग्नि केन्द्र से निकलकर बाहर प्रधि की ओर जाया करता है, इधर सोम प्रधि से केन्द्र की ओर आया करता है। अग्नि पराग्गति है, सोम अर्वाग्गति है। एक जाता है, एक आता है। एक प्रेति [गच्छति] है, दूसरा आगच्छति है।

जाते हुए अग्नि में आता हुआ सोम आहुत हो रहा है। इसी एति-प्रेतिरूप अग्नीसोमात्मक यज्ञ से सारे पदार्थ स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित होरहे हैं। गमन विसर्ग है, आगमन आदान है। आदान विसर्ग ही अग्नीषोमात्मक यज्ञ है। अग्नितत्व का वस्तुपिण्ड से सम्बन्ध है, कारण अग्नि सत्य है, एवं सत्य सदा सहृदय सशरीरी ही होता है। सोम का पिण्ड की महिमारूप अन्तरिक्ष से सम्बन्ध है। कारण सोम ऋत है, उधर अन्तरिक्ष भी ऋतरूप परमेष्ठी है। ऋत सोम से पिण्डावच्छिन्न, किंवा पिण्डरूप अग्नि सतत आक्रान्त रहता है, इसी आधार पर-'ऋते भूमिरियं श्रिता' यह कहा जाता है। विशकलनधर्मा अग्नि को पिण्डरूप में परिणत करने वाला, संकोचधर्मा यही सोम है। जबतक सोमात्र अग्नि में आहुत होता रहता है, तभीतक अग्नि प्रज्वलित रहता है। प्रज्वलित अग्नि को याज्ञिक परिभाषा में 'समिद्धाग्नि' कहते हैं। एति-प्रेतिरूप सामिधेनियों से आदानविसर्गरूप संघर्ष द्वारा अग्नि समिद्ध रहता है। अतएव यज्ञकर्म में-'एति प्रेतिवानाह' [शत० १ कां० ३। ३। ४१] के अनुसार सामिधेनी मन्त्रों से अग्नि को

१-इसका वैज्ञानिक विवेचन शतपथ विज्ञानभाष्य के सामिधेनी ब्राह्मण में देखना चाहिए।

समिद्ध करने का विधान है। बात यथार्थ में यह है कि अग्नि अङ्गिरामूर्त्ति है, सोम भृगुमूर्त्ति है। अङ्गिरा की अग्नि-वायु-आदित्य यह तीन अवस्थाएं हैं। अव्याप्यत्रयुक्त अग्नि हृदय से फैलता हुआ आगे जाता है। अग्नि की तीनों अवस्थाएं विकसित होते होते जब चरम दशा पर पहुंच जाती हैं तो तीनों अग्नियों की गति विपरीत होजाती है। आत्यन्तिक विशकलन से ऊष्माभाव प्रवर्तक ग्रन्थिबन्धन टूट जाता है, अग्नि शान्त होजाता है। अग्नि की यह शान्तावस्था ही विपरीत गति का आश्रय लेती हुई सोम नाम से व्यवहृत होने लगती है। सोम आप-वायु-सोम इन तीन भागों में विभक्त है। तीनों क्रमशः केन्द्र की ओर आते रहते हैं। जबतक केन्द्रबिन्दु पर तीनों नहीं आजाते, तबतक तो तीनों को प्रतिष्ठित रहने के लिए पर्याप्त धरातल मिलजाता है। परन्तु हृदयबिन्दु पर आने से तीनों को एक बिन्दु पर ठहरना पड़ता है। इससे तीनों में घर्षण होजाता है। घर्षण होते ही शान्तावस्था नष्ट होजाती है, उग्रावस्था उत्पन्न होजाती है, इसी का नाम अग्नि है, इसकी गति बदल जाती है। प्रकृत में इस अग्नीसोमगाथा से हमें केवल यही बतलाना है कि अग्नि का पिण्ड से सम्बन्ध है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि एक हौज में आप खौलता हुआ पानी भरवा दीजिये। उस पानी के [ऊर्ध्व की ओर] निकलने के लिए सूक्ष्मतम छिद्रोंवाला एक फव्वारा लगा दीजिए। उस में से निकलता हुआ पानी खण्ड खण्ड रूप में परिणत हो जायगा। इन जलकणों को आप शीतल पावेंगे। कारण जब तक पिण्ड था, तबतक अग्नि पानी में प्रतिष्ठित था। पिण्डभाव के नष्ट होते ही अग्नि विशकलन की पराकाष्ठा पर पहुंच कर सत्यभाव (पिण्डभाव) से च्युत होता हुआ ऋतरूप में परिणत हो जाता है। पूर्वप्रतिपादित मातरिश्वा के निरूपणानुसार पिण्ड का नाम पृथिवी है, महिमा द्युलोक है। पिण्डरूप पृथिवी से निकलकर अङ्गिरामयी युक्त महिमा मण्डल की ओर जाया करती है। अग्नि की इसी स्वाभाविक गति को लक्ष्य में रखकर महर्षि कहते हैं—

इत एत उदारुहन् दिवः पृष्ठान्यारुहन्।
प्रभूर्जयो यथापथि द्यामङ्गिरसो ययुः॥

आङ्गिरा तेजतत्त्व है तो भृगु स्नेहतत्त्व है। यही गर्मी-सर्दी है। सर्दी पराकाष्ठा पर पहुँचकर अग्नि बनती हुई वृक्षादि को जला डालती है। इधर पराकाष्ठा पर पहुँची हुई गर्मी वर्षा (पानी) बन जाती है। सातपनाग्नि [रुद्राग्नि] शोकाश्रु का जनक है, यह पूर्व की अथर्ववेद निरुक्ति में विस्तार से बतलाया ही जा चुका है।

उक्त कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि अग्नि की चरमावस्था सोम है, एवं सोम की चरमावस्था अग्नि है। स्त्री के आत्मरूप शोणित में प्रवृद्धसोम (अग्नि) है, इसलिए स्त्री आत्मदृष्ट्या पुरुष है। पुरुष के आत्मरूप शुक्र में प्रवृद्धाग्नि [सोम] है, अतएव पुरुष आत्मदृष्ट्या स्त्री है। प्रकारान्तर से यों समझिए—शुक्र अन्नरस से बनता है। अन्न चान्द्रसोम से बनता है, अतः शुक्र साक्षात् सोम है, सोम साक्षात् स्त्री है। यह शुक्ररूप से पुरुष की प्रतिमा बना हुआ है। इस प्रतिमादृष्टि से शुक्रमय पुरुष सोममय बनता हुआ वास्तव में स्त्री है। एक बात और—सोमरूप, अतएव स्त्रीरूप शुक्र पुरुष में प्रतिष्ठित है, अतएव पुरुष स्त्री की कामना किया करता है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होनेवाला है। अग्नि से शोणित का निर्माण होता है, अतः शोणित साक्षात् अग्नि है। अग्नि साक्षात् पुरुष है। यह शोणितरूप से स्त्री की प्रतिमा बना हुआ है। इस प्रतिमादृष्टि से शोणितमयी स्त्री अग्निमयी बनती हुई वास्तव में पुरुष है। अग्निरूप, अतएव पुरुषरूप शोणित स्त्री में प्रतिष्ठित है, अतएव स्त्री पुरुष की कामना किया करती है।

स्त्री की प्रजननशक्ति आर्त्तव में प्रतिष्ठित है। यह आर्त्तव मंगल नाम से प्रसिद्ध आग्नेय पुंग्रह के आग्नेय प्राण से युक्त है। आकाशचर मंगलग्रह रक्त (लाल) है। रुधिर में जो लाली एवं गर्मी है, वह मंगलप्राण की ही महिमा है। मंगलग्रह मकरराशि में आता हुआ उच्च कहलाता है। अतएव मासिक आर्त्तव में प्रतिष्ठित आग्नेयकाम 'मकरध्वज' नाम से प्रसिद्ध है। मकरध्वज आग्नेय काम है। दूसरे शब्दों में स्त्री के काम में अग्निमूर्त्ति पुरुष बैठा है, अतएव स्त्री को पुरुषकामना होती है। पुरुष की प्रजननशक्ति शुक्र में प्रतिष्ठित है। शुक्र [वीर्य

१. इस विषय का विशद विवेचन शतपथविज्ञानभाष्य के प्रथमवर्ष में द्रष्टव्य है।

श्वेत] शुक्र नाम से प्रसिद्ध सौम्य स्त्रीग्रह के सौम्यप्राण से युक्त है। शुक्रग्रह श्वेत है, अतएव तन्मय शुक्र भी श्वेत है। शुक्रग्रह मीनराशि का भोग करता हुआ उच्च का कहलाता है। अतएव शुक्ररूप शुक्र में प्रतिष्ठित सौम्यकाम 'मीनध्वज' नाम से प्रसिद्ध है। मीनध्वज सोममय काम है। दूसरे शब्दों में पुरुष के काम में सोममूर्त्ति स्त्री बैठी हुई है, अतएव पुरुष को स्त्री कामना होती है।

सोम शक्तितत्व है, सोम सम्बन्धी अग्नि शिवतत्त्व है। शिवतत्त्व शक्तिकाममय है, शक्तितत्त्व शिवकाममय है। शिव शक्ति पर प्रतिष्ठित है, शक्ति शिव की अनुगामिनी है। सम्पूर्ण विश्व शिव-शक्तिमय है। कहने को दो तत्त्व हैं, जो शिव (अग्नि) है वही शक्ति (सोम) है, जो शक्ति है वही शिव है। निष्कर्ष यही हुआ कि शुक्र-शोणित दृष्टि से संसार की स्त्रिएं पुरुष हैं, पुरुष स्त्रिएं हैं। यह स्त्री-पुरुष का दूसरा युग्म है।

यह एक नियत सिद्धान्त है कि जिस वस्तु का बाहर का धरातल गरम होता है, उसका अन्तःपृष्ठ ठंढा होता है, एवं जो बाहर से ठंढा होता है, उसका अन्तःपृष्ठ गरम होता है। प्रकृति का निरीक्षण कीजिये। शीतर्तु में प्रकृतिमण्डलरूप बहिर्धरातल में सर्दी रहती है, एवं अन्तःपृष्ठरूप प्राणियों के शरीर में गरमी का साम्राज्य रहता है। शीतकाल में हमारा जठराग्नि प्रदीप्त रहता है। मुख में से धूम निकलता रहता है। इसी प्रवृद्ध अग्निबल से हम शरीर पर कम्बलादि को आसानी से उठाने में समर्थ होजाते हैं। इसी प्रवृद्ध अग्नि की कृपा से अन्न अधिक खाया जाता है। इस प्रकार बाहर जहां ठंढ है, भीतर गर्मी है। ग्रीष्मऋतु में ठीक इससे उलटा होजाता है। प्रकृति में गर्मी का साम्राज्य है, परन्तु प्रकृतिगर्भस्थ अध्यात्म में सर्दी की प्रधानता है। वही शीतभाग पसीना बनकर बाहर निकला करता है। अग्निबल क्षीण रहता है, अतएव हम निर्बल रहते हैं। शीतकाल में जिस अग्निदेव की कृपा से जहां हम दो दो तीन तीन कम्बलों को ओढ़ने में समर्थ बन जाते थे, वहां ग्रीष्मकाल में अग्नि की कृपा से एक मामुली चदर का भी भार सहन नहीं करसकते। इस प्राकृतिक स्थिति से प्रकृत में हमें यह

जा उत्पन्न होती है। यदि केवल शुक्र शोणित का समन्वय होता है, (यदि तद्गत भ्रूणों का जो …रू स्त्री–पुंभ्रूण विज्ञानभाषा में योषा–वृषा नाम से प्रसिद्ध हैं मिथुन नहीं होता) तो ऐसा मिथुनभाव व्यर्थ जाता है। आयुर्वेद का उक्त सिद्धान्त तभी ठीक होसकता है, जब कि सौम्य शुक्र में आग्नेय भ्रूण, एवं आग्नेय आर्तव में सौम्यभ्रूण की सत्ता मानली जाती है। कारण अग्नि से ही पुरुष का विकास संभव है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर प्राणाचार्य कहते हैं—

आधिक्ये रेतसः पुंसः कन्यास्यादार्तवाधिके।
नपुंसकं तयोः साम्ये यथेच्छा परमेश्वरी"—(भावप्रकाश)।

अग्नि भी देवता हैं, सोम भी देवता हैं। देवता त्रिसत्य होते हैं। देवताओं* का प्रत्येक कार्य त्रिभावयुक्त होता है। तीन व्यापारों से देवता स्वकार्यसिद्धि में समर्थ होते हैं। पूर्व कथनानुसार प्रजोत्पत्तिकर्म में तीन व्यापारों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। तीन मिथुनों से मिथुन कर्म संपन्न होता है। ध्यान दीजिये—प्रजोत्पत्ति के लिए पहिले पुरुष स्त्रीगमन करता है। अभी दोनों के शरीरों का संयोग है। पुरुष शरीरापेक्षया आग्नेय बनता हुआ पुरुष है, स्त्री शरीरापेक्षया सौम्या बनती हुई स्त्री है। इस प्रथमाक्रमण में सचमुच पुरुष (पुरुष का आग्नेय शरीर) स्त्री (स्त्री के सौम्य शरीर) की ओर जारहा है। इस प्रथम मिथुनकर्म से संघर्ष द्वारा तात्कालिक वैश्वानर अग्नि उत्पन्न होता है। इस अग्निपरिताप से पुरुष के सर्वाङ्ग शरीर में व्याप्त शुक्र अंग प्रत्यंग से निकलकर पुञ्जीभूत बनकर अधोमार्ग द्वारा स्त्री के गर्भाशय में प्रतिष्ठित आग्नेय आर्तव में आहुत होता है। यह शुक्रशोणित का मिथुनकर्म दूसरा कर्म है। इस में शुक्र सोम है, शोणित अग्नि है। शोणित में शुक्र की आहुति क्या होरही है, अग्नि में सोम की आहुति होरही है। यही आध्यात्मिक यज्ञ है। इस द्वितीय कर्म में स्त्री पुरुष पर आक्रमण कर रही है। कारण स्पष्ट है। शुक्र ही तो शोणित पर आक्रमण कर रहा है। शुक्र सौम्य होने से सचमुच स्त्रीरूप है, एवं शोणित आग्नेय होने से वास्तव में पुरुष है। और आगे बढ़िए।

* इस विषय का विशद विवेचन शतपथ विज्ञानभाष्य के द्वितीय वर्ष में निकल चुका है।

शोणित में रहनें वाले सौम्य भ्रूणपर (स्त्रीभ्रूण पर) शुक्र में रहनें वाला आग्नेय भ्रूण (पुंभ्रूण) आक्रमण करता है। यह अन्तिम मिथुन है। इस में जिस की प्रधानता रहती है, उसी भ्रूण का विजय होता है। इस अन्तिमभ्रूण में पुरुष ही (पुंभ्रूण ही) स्त्री पर (स्त्रीभ्रूण पर) आक्रमण करता है। प्रथमाक्रमण में पुरुष प्रधान, मध्यमाक्रमण में स्त्री प्रधान, चरमाक्रमण में पुरुषप्रधान, इस प्रकार दोनों ओर से पुरुषप्रतिष्ठा की भित्ति से मध्यस्था स्त्री की स्वतन्त्र इच्छा नष्ट हो जाती है। जो हतधी इस प्राकृत नियम का उल्लंघन करते हैं, वे अपनें साथ साथ स्त्री के स्वरूप को भी नष्ट कर देते हैं। उक्त तीनों आक्रमणों में मध्याक्रमणदृष्टि से (शोणित-शुक्र की दृष्टि से) सचमुच संसार की सब स्त्रिएं पुरुष हैं, एवं संसार के सब पुरुष स्त्रिएं हैं। उक्त मन्त्र इसी मध्यस्थिति का निरूपण करता है।

अध्यात्मसंस्था —

"पुरुष एवेदं सर्वम्"

१ — १-आग्नेयशरीरयुक्तः पुरुषः—पुरुषः; २-सौम्यशरीरयुक्ता स्त्री—स्त्री } पुरुषस्त्रियमनुधावति-प्रथमाक्रमणं पुरुषप्रधा°

—•—

२ — १-सौम्यं शुक्रम्———स्त्री; २-आग्नेयमार्तवम्———पुरुषः } स्त्रीपुरुषमनुधावति-द्वितीयाक्रमणंस्त्रीप्रधानम्

—•—

३ — १-शुक्रगतः-आग्नेयःपुंभ्रूणः-पुरुषः; २-शो. ग. सौम्यःस्त्रीभ्रूणः-स्त्री } पुरुषःस्त्रियमनुधावति-तृतीयाक्रमणंपुरुषप्रधा°

—०—

उक्त तीनों स्थितियों में से मध्य के शुक्रशोणितभाव को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः

इस रहस्य को अध्यवसायवान् ही देख सकता है, आंखों का अंधा इस रहस्य को क्या जानें। जो विद्वान् पानराशि के 'मकर-मीन' स्वरूप को समझता है, वही यह जान सकता है कि शुक्र

वास्तव में स्त्रीकाममय है, शोणित वास्तव में पुरुषकाममय है। वह दूसरा समझनें वाला व्यक्ति है कविपुरुष। वह इस स्त्रीभाव को जानता हुआ सचमुच अपनें पिता का भी पिता बन रहा है। भृगु और अङ्गिरा का रहस्य जाननें वाला पुत्र ही कवि है। ऐसा विद्वान् अपनें पिता से भी अधिक प्रतिष्ठित माना जाता हैं। विज्ञानदृष्टि के अनुसार कवि का अर्थ है भृगुतत्व। आप-वायु-सोम को ही भृगुतत्व कहते हैं। पुत्रोत्पत्ति शुक्र की आहुति से होती है। सोममय शुक्र ही अग्नि शोणित में सुत (अभिषुत-आहुत) होकर पुत्ररूप में परिणत होता है। शुक्र में जो घनता है वह पानीका भाग है, शर्कराभाग सोम है, गतिभाग वायु है। इस प्रकार शर्करा (सोम) प्रधान शुक्र में आप-वायु-सोम तीनों तत्व प्रतिष्ठित हैं। ऐसी अवस्था में हम शुक्र को अवश्य ही 'भृगु' कह सकते हैं। भृगु ही कवि है। यह कवि (भृगुरूप शुक्र) पुत्ररूप में परिणत होता है, अतः शुक्र को अवश्य ही 'कविपुत्र' कहा जासकता है। शुक्र सोमप्रधान होनें से पुत्ररूप में परिणत होता है, इधर सोम स्त्री है, अतएव तद्रूप पुत्र (पुरुष) को हम अवश्य ही स्त्री कहने के लिए तय्यार हैं। इसी अभिप्राय से-'कविर्यः पुत्रः स ईमाचिकेत' (जो पुत्र कवि है वह इस रहस्य को जानता है) यह कहा गया है। कन्यासंतान में शोणित की प्रधानता रहती है-'कन्यास्यादार्त्तवाधिके'। कविपुत्र (शुक्रस्य पुरुषभ्रूण) ही स्त्रीभ्रूण (शोणित-भ्रूण) के साथ संयुक्त होकर स्त्रीभाव का कारण बनता है। सोम ही अग्नि की ओर जाता है। पत्न्योत्पादक अतएव स्त्रीरूप शोणित भ्रूण का सम्यक् परिज्ञाता शुक्रभ्रूण ही है। इसी अभिप्राय से आगे जाकर श्रुति कहती है—'यस्ता विजानात्' (कविरूप जो पुरुषभ्रूण स्त्रीभ्रूण को जानता है)। जिसप्रकार स्त्रीस्वरूपसमर्पक स्त्रीभ्रूण आग्नेय शोणित में प्रतिष्ठित रहता है, एवमेव पुरुषस्वरूपसमर्पक पुंभ्रूण सौम्यशुक्र में प्रतिष्ठित रहता है, यह पूर्व में कहा जाचुका है। शुक्र का आधान करनें वाला पुरुष 'पिता' कहलाता है। इस पुरुष पिता का पुत्र शुक्र है। पुत्ररूप शुक्र ही पुंभ्रूण का उत्पादक बनता है। पुंभ्रूणद्वारा शुक्राहुति देनें वाला पिता माता के गर्भ में [अपनी स्त्री के गर्भ में] स्वयं जन्म लेता है, अतएव 'जायते पिता स्वयं-अस्यां' इस निर्वचन से स्त्री को 'जाया' कहा जाता है। अपनें पुंभ्रूण से उत्पन्न होनें वाले

रेतोधा पिता का पिता (जन्मदाता–अभिव्यञ्जक) वास्तव में कवि पुत्ररूप शुक्र ही है। एक ओर पुंभ्रूण है, दूसरी ओर पिता है। मध्य में पुंभ्रूणाधिष्ठाता कविपुत्र नामक शुक्र है। यदि यह पुत्र न होता तो पुंभ्रूण कभी संतानरूप में परिणत नहींहो सकता था। दूसरे शब्दों में वह रेतोधा पिता कभी जाया में जन्म नहीं लेसकता था। पिता के जाया में जन्म का हेतु पुत्रशुक्र है, अतएव हम इसे अवश्य पिता का पिता (पुंभ्रूणरूप पिता का भी अभिव्यञ्जक) कह सकते हैं। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर 'सपितुष्पितासत्' "वह शुक्ररूप कविपुत्र पिता [प्रतिकृतिरूप पुंभ्रूण] का भी उत्पादक एवं अभिव्यञ्जक बनता हुआ पुंभ्रूणरूप अपने पिता का भी पिता बन गया" यह कहा गया है। यह है मन्त्रार्थसम्बन्धिनी तीसरी शुक्रविषयिणीभावना का संक्षिप्त निदर्शन।

इति–शुक्रविषयिणीभावना।

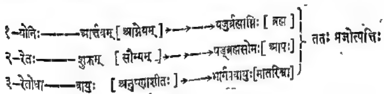
३



प्रासङ्गिक चर्चा समाप्त हुई। अब पुनः प्रकृत विषय का उपबृंहण किया जाता है। उपनिषत् के चतुर्थ चरण का उपक्रम करते हुए रेत–रेतोधा–योनि उत्पत्ति कर्म में इन तीन भावों का समावेश बतलाया गया है [देखिए ई० नि० भा० १७७ पृ०]। इन तीनों में रेत और योनि दोनों स्थिर हैं, रेतोधा गतिशील है। यही अधिदैवतसंस्था में जहां—'मातरिश्वा' नाम से व्यवहृत होता है, वहां अध्यात्मसंस्था में वही 'एवयामरुत्' नाम से प्रसिद्ध है। योषा-प्राणप्रधाना स्त्री का अग्निमय शोणित योनि है, वृषाप्राणप्रधान पुरुष का सोममयशुक्र 'रेत' है। यह आहुति द्रव्य है, आप तत्व है, सुब्रह्म है। स्त्री का रक्त आहुति का स्थान है, अग्नि है, ब्रह्म है। इस ब्रह्मरूप योनि में सुब्रह्म की आहुति होती है। आहुति देने वाला वायु है।

* इस विषय का विशद विवेचन 'नासदीयसूक्त विज्ञानभाष्य' में देखना चाहिए।

यदि यह वायु शुक्र को दो भागों में विभक्त कर देता है तो यमज सन्तान उत्पन्न होती है । रेत को योनि में, सुब्रह्म को ब्रह्म में, सोम को अग्नि में,शुक्र को शोणित में आहुत करने के कारण ही यह वायु '**मातरिश्वा**' कहलाता है। माता स्त्री है, पिता पुरुष है। वायु शुक्र के चारों ओर वेष्टित होकर ही शुक्र की आहुति देता है। सोमप्रधानशुक्र स्त्रीरूप बनता हुआ सचमुच 'माता' है। अतएव-"मातरि (शुक्रे) श्वयति (व्याप्तो भवति)" इस व्युत्पत्ति से शुक्र आधाता इस रेतोधा वायु को '**मातरिश्वा**' कहना न्यायसंगत होता है। रेत अपने आप योनि में सिक्त नहीं होता, अपि तु वायु द्वारा ही यह सिक्त होता है। स्त्रीपुरुष के मिथुनभाव से अग्नि प्रबल होजाता है। अग्नि के क्षुब्ध होते ही शरीरगत वायुवाहिनी नाडियों [धमनियों] में भरा हुआ वायु स्थान-च्युत होता हुआ अग्नि से संतप्त शुक्र को स्वस्थान से च्युत कर देता है। वायु के प्रत्याघात से ही शुक्र गतिमत् बनता हुआ शोणित में आहुत होता है । इस अध्यात्मसंस्था के साथ अधिदैवत की समता का विचार कीजिए। गर्भाशयगत रुधिर को अग्नि समझिए, इसी को वेद समझिए। वेद वेदि पर ही तो प्रतिष्ठित रहता है। माता ही तो वेदि है । द्विब्रह्मापरपर्यायक अनेजदेजत् यजु को ब्रह्म समझिए। शुक्र को सोम समझिए, इसी को सुवेद समझिए, इसी को षड्-ब्रह्मापरपर्यायक 'आप' [सुब्रह्म] समझिये। शुक्र के चारों ओर वेष्टित भार्गववायु को 'मातरिश्वा' समझिये। इन्हीं तीनों को क्रमशः योनि-रेत-रेतोधा समझिये। ब्रह्मरूप योनि में आपरूप रेत की वायुरूप रेतोधा मातरिश्वा द्वारा आहुति होती है। दूसरे शब्दों में मातरिश्वा आपतत्त्व को ब्रह्म में आहुति देता है, इसी से गर्भाधानपूर्वक प्रजोत्पत्ति होती है। यह है आध्यात्मिक प्रजोत्पत्तिक्रम। जैसा आप यहां [अध्यात्म में] प्रत्यक्ष कर रहे हैं, ठीक वही स्थिति वहां [अधिदैवत में] समझिये—"यदेवेह तदमुत्र"।



अनेजत्–एजत्रूप ब्रह्म यजुरग्निमूर्त्ति बनता हुआ यद्यपि पुरुष है, परन्तु यह विश्वप्रजा का योनिस्थानीय होनें से स्त्री कहा जा सकता है। एवं सुब्रह्म सोमरूप होनें से यद्यपि स्त्री है, परन्तु शुक्रस्थानीय होनें से (रेतस्थानीय होनें से) यह पुरुष नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। त्रयीविद्याघन ब्रह्म से आप् उत्पन्न हुआ। त्रयीविद्या के साथ यह आपके गर्भ में प्रविष्ट होगया। यह पहिला आक्रमण है, पहिला मिथुन है। ब्रह्माग्निरूप पुरुष सुब्रह्मसोमरूप स्त्री पर आक्रमण कर रहा है। आगे जाकर अध्यात्मक्रमानुसार मातरिश्वा द्वारा वह आप (शुक्र) उस भृगु (योनि) के साथ संगत होता है। यह शुक्र–शोणित का दूसरा मिथुनकर्म है। आगे जाकर आपूर्ण पुरुषरूप गायत्रीमात्रिक नाम के वेदाग्नि, एवं ब्रह्मगर्भित सुब्रह्मरूप स्त्रीभृगु दोनों का मिथुन होता है। यही तीसरा आक्रमण है। इस से मिथुनभाव सर्वात्मना सम्पन्न हो जाता है, एवं तत्काल विराट्पुरुष गर्भ में आजाता है। यह विराट् इस दम्पती की पहिली सन्तान है।

आधिदैवतसंस्था

१ | १–ब्रह्माग्नि (अग्नि —पुरुष) | २–आप (सोम —स्त्री) } ब्रह्म अपोऽग्नि अनुधावति (पुरुष स्त्रियमनुधावति) } प्रथमाक्रमण ब्रह्म (पुरुष) प्रधानम्



२ | १–आप (सौम्य शुक्र—ओ—रेत) | २–अग्नि (आग्नेयमार्त्तव पुरुष –योनि) } आप –अग्निमनुधावति (स्त्रीपुरुषमनुधावति) } द्वि. आक्र. अप् (स्त्री)प्रधानम्



३ | १–ब्रह्मगर्भितोऽग्निवेद (पुरुषोऽग्नि —पुरुष) | २–ब्रह्मगर्भित सोमवेद (स्त्रीभृगु सोम –स्त्री) } अग्निवेद सोमवेदमनुधावति (पुरुष स्त्रियमनुधावति) } तृ. आ. वेद(पु.) प्रधानम्

"ततो विराडजायत"



'अनेजदेकं मनसो जवीयः' इत्यादि मन्त्र तीनों स्थितियों में से मध्यस्थिति का ही निरूपण करता है । अग्निमूर्तिब्रह्म योनिरूप से स्वस्थान में प्रतिष्ठित है । इस में मातरिश्वा द्वारा आपरूप रेत की आहुति होती है । दोनों के [अग्नि और आप के] मिथुन से विराट् पुरुष उत्पन्न होता है , जैसा कि—'तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः' इत्यादि रूप से कहा जा चुका है ।

ब्रह्म–आप के मिथुनभाव से उत्पन्न अपूर्वभाव में ब्रह्म और आप के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? वे दोनों पृथक् पृथक् थे, दोनों का समन्वितरूप विराट् है । ऋक्सामावच्छिन्न ब्रह्म ब्रह्म है । इस में यत्-जू (एजत्-अनेजत्) दो विभाग हैं । इस प्रकार ऋक्-साम यजुर्मूर्त्तिब्रह्म ऋक्[1]–साम[2]–यत्[3]–जू[4] भेद से चतुष्कल हो जाता है । दूसरा आप्तत्त्व है । इस की भृगु-अङ्गिरा भेद से आप[5]–वायु[6]–सोम[7]–अग्नि[8]–यम[9]–आदित्य[10] यह ६ कलाएं हैं । संभूय १० कलाएं हैं । दशकल की समष्टि दश अक्षर की समष्टि है । छन्दोविज्ञान के अनुसार दशाक्षर छन्द को ही 'विराट्' [दशिनीविराट्] कहा जाता है । यही विराट् सूर्यरूप से हमें प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है । सूर्य आपोमय है, इसी लिए तो—'अपांगम्भन्त्सीद' यह कहा जाता है , एवं अग्निमयत्व तो स्पष्ट ही है । यदि सूर्य में पानी न होता तो सूर्य क्षणमात्र में संसार को भस्म कर डालता । साथ ही में यदि सूर्य में अग्नि न होता तो सारा संसार समुद्रगर्भ में विलीन हो-जाता, जैसा कि प्रतिदिन क्षीण होता हुआ किसी युग में [कल्पान्त में] निःशेष बनता हुआ सौर अग्नि विशुद्ध आप का साम्राज्य रखता हुआ प्रलय का अधिष्ठाता बन जायगा । इसी अप्-अग्नि मूर्त्ति विराट्सूर्यपुरुष [हिरण्यगर्भप्रजापति] से आगे की सारी सृष्टिएं होतीं हैं, जैसा कि निम्न लिखित श्रुतियों से स्पष्ट है—

१—विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम् ।
सहस्ररश्मिः शतधा वर्त्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥

[प्रश्नोपनिषद् १।८]

२—दिवो रुक्म उरुचक्षा उदेति दूरे अर्थस्तरणिर्भ्राजमानः ।
नूनं जनाः सूर्येण प्रसूता अयन्नर्थानि कृणवन्नपांसि ॥
[ऋक् सं० ७ मं० । ६३ सू० । ४ मं०)

३—चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥
[यजुः सं० १३।४६]

ब्रह्म और सुब्रह्म दोनों अव्यक्त थे, पहिला व्यक्त यही सज्योतिर्घन हिरण्यगर्भनाम से प्रसिद्ध विराट् पुरुष है। हिरण्यगर्भविद्या के उपासक महर्षि विश्व को सूर्यमूल ही मानते हैं, जैसा कि–'मुण्डकोपनिषद्विज्ञानभाष्य' में विस्तार से निरूपित है। इस मिथुनभाव से अण्ड का उदय होता है, यही ब्रह्माण्ड सूर्य का विश्वरूप है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। इसी ब्रह्माण्ड को लक्ष्य में रख कर स्मृति कहती है—

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ (मनु० १।९) ।

स्वयम्भू ब्रह्म–इस सूर्य के पिता हैं। सूर्य हम सब के पिता हैं। तभी तो ब्रह्मा को पितामह [बाबा] कहा गया है। विराट् पुरुष को अपने गर्भ में बीजरूप से प्रतिष्ठित रखने वाले, रेत–योनि–रेताधारूप उस दम्पतीभाव का ही 'अनेजदेकम्' इत्यादि मन्त्रमें निरूपण हुआ है। 'अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्' 'तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्' यह मन्त्रभाग योनि का निरूपक है, 'तस्मिन्नपः' यह भाग रेत का निरूपण करता है, एवं 'मातरिश्वा दधाति' यह मन्त्र शेष रेतोधा का निवेचन करता है। वेदघन ईश्वर समुदायरूप से सर्वथा अनेजत् है, अवयवदृष्ट्या मन से भी जवीय है। इस प्रकार नित्य अशान्ति (गति) गर्भित नित्यशान्त [स्थितिरूप] वेदमय ईश्वर [सर्वभूतान्तरात्मा] पर्वतवत् स्तब्ध खड़ा है। साथ निष इस पूर्णपुरुष से पूर्ण है। स्थितिगतिसमष्टिरूप सर्वव्यापक, किन्तु मायावच्छिन्न इसी तत्

को हमने यजुर्ब्रह्म कहा है। वेदत्रयी में ऋग्वेद महोक्थ है, सामवेद महाव्रत है, यजु अग्नि है, वृषा है, योनि है। इसी यजु के जूरूप मर्त्यशक् भाग से पञ्चब्रह्मरूप आपोब्रह्म उत्पन्न हुआ है। जहांतक यजुर्ब्रह्म व्याप्त है, वहींतक आपोब्रह्म व्याप्त है। दोनों समानायतन हैं। महामायावच्छिन्न विद्याकर्ममय उस व्यापक क्षराक्षरविशिष्ट अव्यय पुरुष [षोडशीपुरुष] का चित्र अपने सामने रखिए। इस पर पहिला वेदत्रयीरूप ब्रह्मस्तर समझिए, दूसरा पञ्चब्रह्मरूप शुक्रस्तर समझिए। साथ ही में तीनों की व्याप्ति समानप्रदेश में समझिए। साथ ही में यह भी स्मरण रखिए कि उत्तर उत्तर स्तरों में पूर्व पूर्वस्तर नित्य प्रतिष्ठित हैं। **'अनेजदेकम्०'** से पहिला उपनिषद्भाग विशुद्ध षोडषीपुरुष का निरूपण करता है, **'अनेजदेकम्'** इत्यादि मन्त्र विद्या-कर्ममय दूसरे ब्रह्मस्तर का निरूपण करता है, एवं आगे का-**'सपर्यगात्०'** इत्यात्मक तीसरा अधिकरण तीसरे सुब्रह्मस्तर का निरूपण करता है। ब्रह्मपुरुष से उत्पन्न सुब्रह्मरूप [अत्र्रूप] स्त्री पुरुष पर प्रतिष्ठित थी, पति पत्नी का सम्बन्ध था, परन्तु बहिर्याम सम्बन्ध था, दोनों के शरीर मात्र मिले हुए थे। ऐसे योगरूप बहिर्याम सम्बन्ध से विश्वोत्पत्ति असंभव थी। अतएव आगे जाकर मातरिश्वा द्वारा दोनों का अन्तर्याम सम्बन्ध हुआ। इन दोनों के मिथुन-भाव से जो अपूर्व तत्त्व उत्पन्न हुआ, वही-**'शुक्र'** नाम से प्रसिद्ध हुआ। पूर्वमें हमनें इस अपूर्वभाव को **'विराट्सूर्य'** कहा था, एवं यहां शुक्र को अपूर्वभाव बतलाया जारहा है। इसमें विरोध नहीं समझना चाहिए। कारण **'शुक्र'** ही सूर्य का जन्मदाता है। शुक्रावस्था का आंशिक प्रदेश ही आगे जाकर सूर्यरूप में परिणत होता है। अतएव-**'तद्वाऽएष एव शुक्रो य एष तपति' तद्यदेष तपति तेनैष शुक्रः'** [शत० ४ २।१।१] इत्यादि रूप से सूर्य शुक्र नाम से प्रसिद्ध है। अतएव ग्रहविद्या के अनुसार जहां चन्द्रमा को **'मन्थी'** कहा जाता है, वहां सूर्य को **'शुक्र'** कहा जाता है। सौराग्नि ही अपनें प्रवर्ग्यांश से ग्रीष्म ऋतु का अधिष्ठाता बनता है, अतएव ग्रीष्म ऋतु को भी [सूर्य सम्बन्ध से] **'शुक्र'** कहा जाता है। ज्येष्ठमास **'शुक्र'** है, आषाढमास **'शुचि'** है। [देखिए शत० ४।३।१।१५]। विराट् सूर्यको छोड़ दीजिए। अभी विराट् शब्द से केवल शुक्र का ग्रहण कीजिए। त्रयीब्रह्म एवं आपके अन्तर्यामरूप याग सम्बन्ध से

२—दिवो रुक्म उरुचक्षा उदेति दूरे अर्थस्तरणिर्भ्राजमानः ।
नूनं जनाः सूर्येण प्रसूता अयन्नर्थानि कृणवन्नपांसि ॥
[ऋक् सं० ७ मं० । ६३ सू० । ४ मं०]

३—चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥
[यजुः सं० १३।४६]

ब्रह्म और सुब्रह्म दोनों अव्यक्त थे, पहिला व्यक्त यही स्वज्योतिर्घन हिरण्यगर्भनाम से प्रसिद्ध विराट् पुरुष है। हिरण्यगर्भविद्या के उपासक महर्षि विश्व को सूर्यमूल ही मानते हैं, जैसा कि—'मुण्डकोपनिषत्विज्ञानभाष्य' में विस्तार से निरूपित है। इस मिथुनभाव से अण्ड का उदय होता है, यही ब्रह्माण्ड सूर्य का विश्वरूप है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। इसी ब्रह्माण्ड को लक्ष्य में रख कर स्मृति कहती है—

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ (मनु० १।९) ।

स्वयम्भू ब्रह्म—इस सूर्य के पिता हैं। सूर्य हम सब के पिता हैं। तभी तो ब्रह्मा को पितामह [बाबा] कहा गया है। विराट् पुरुष को अपनें गर्भ में बीजरूप से प्रतिष्ठित रखनें वाले, रेत–योनि–रेतोधारूप उस दम्पतीभाव का ही 'अनेजदेकम्' इत्यादि मन्त्रमें निरूपण हुआ है। 'अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्' 'तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्' यह मन्त्रभाग योनि का निरूपक है, 'तस्मिन्नपः' यह भाग रेत का निरूपण करता है, एवं 'मातरिश्वा दधाति' यह मन्त्र शेष रेतोधा का विवेचन करता है। वेदघन ईश्वर समुदायरूप से सर्वथा अनेजत् है, अवयवदृष्टया मन से भी जवीय है। इस प्रकार नित्य अशान्ति (गति) गर्भित नित्यशान्त [स्थितिरूप] वेदमय ईश्वर [सर्वभूतान्तरात्मा] वृक्षवत् स्तब्ध रहता है। साथ विश्व इस पूर्णपुरुष से पूर्ण है। स्थितिगतिसमष्टिरूप सर्वव्यापक, किन्तु मायावच्छिन्न इसी तत्

को हमने यजुर्ब्रह्म कहा है। वेदत्रयी में ऋग्वेद महोक्थ है, सामवेद महाव्रत है, यजु अग्नि है, वृषा है, योनि है। इसी यजु के जूरूप मर्त्यवाक् भाग से षड्ब्रह्मरूप आपोब्रह्म उत्पन्न हुआ है। जहांतक यजुर्ब्रह्म व्याप्त है, वहींतक आपोब्रह्म व्याप्त है। दोनों समानायतन हैं। महा-मायावच्छिन्न विद्याकर्ममय उस व्यापक क्षराक्षरविशिष्ट अव्यय पुरुष [षोडशीपुरुष] का चित्र अपने सामने रखिए। इस पर पहिला वेदत्रयीरूप ब्रह्मस्तर समझिए, दूसरा षड्ब्रह्मरूप सुब्रह्म-स्तर समझिए। साथ ही में तीनों की व्याप्ति समानप्रदेश में समझिए। साथ ही में यह भी स्मरण रखिए कि उत्तरउत्तर स्तरों में पूर्व पूर्वस्तर नित्य प्रतिष्ठित हैं। 'अनेजदेकम्०' से पहिला उपनिषद्भाग विशुद्ध षोडशीपुरुष का निरूपण करता है, 'अनेजदेकम्' इत्यादि मन्त्र विद्या-कर्ममय दूसरे ब्रह्मस्तर का निरूपण करता है, एवं आगे का—'सपर्यगात्०' इत्यात्मक तीसरा अधिकरण तीसरे सुब्रह्मस्तर का निरूपण करता है। ब्रह्मपुरुष से उत्पन्न सुब्रह्मरूप [अन्नरूप] स्त्री पुरुष पर प्रतिष्ठित थी, पति पत्नी का सम्बन्ध था, परन्तु बहिर्याम सम्बन्ध था, दोनों के शरीर मात्र मिले हुए थे। ऐसे योगरूप बहिर्याम सम्बन्ध से विश्वोत्पत्ति असंभव थी। अतएव आगे जाकर मातरिश्वा द्वारा दोनों का अन्तर्याम सम्बन्ध हुआ। इन दोनों के मिथुन-भाव से जो अपूर्व तत्त्व उत्पन्न हुआ, वही—'शुक्र' नाम से प्रसिद्ध हुआ। पूर्वमें हमनें इस अपूर्वभाव को 'विराट्सूर्य' कहा था, एवं यहां शुक्र को अपूर्वभाव बतलाया जारहा है। इसमें विरोध नहीं समझना चाहिए। कारण 'शुक्र' ही सूर्य का जन्मदाता है। शुक्रावस्था का आंशिक प्रदेश ही आगे जाकर सूर्यरूप में परिणत होता है। अतएव—'तद्वाऽएष एव शुक्रो य एष तपति' तद्यदेष तपति तेनैष शुक्रः' [शत० ४ २।१।१।] इत्यादि रूप से सूर्य शुक्र नाम से प्रसिद्ध है। अनएव ग्रहविद्या के अनुसार जहां चन्द्रमा को 'मन्थी' कहा जाता है, वहां सूर्य को 'शुक्र' कहा जाता है। सौराग्नि ही अपनें प्रवर्ग्यांश से ग्रीष्म ऋतु का अधिष्ठाता बनता है, अतएव ग्रीष्म ऋतु को भी [सूर्य सम्बन्ध से] 'शुक्र' कहा जाता है। ज्येष्ठमास 'शुक्र' है, आषाढमास 'शुचि' है। [देखिए शत० ४।३।१।१५]। विराट् सूर्य को छोड दीजिए। अभी विराट् शब्द से केवल शुक्र का ग्रहण कीजिए। त्रयीब्रह्म एवं आपके अन्तर्यामरूप याग सम्बन्ध से

जो अपूर्वभाव उत्पन्न हुआ, वही विश्व का उपादान बनता हुआ [ऋक्–साम–यत्–जू–आप–वायु–सोम–अग्नि–यम–आदित्य भेद से दशाक्षर बनता हुआ] विराट्शुक्र नाम से प्रसिद्ध हुआ। जहां तक [महामायातक] ब्रह्म–सुब्रह्मान्तर व्याप्त थे, वहीं तक दोनों की सम्मिलित अवस्था-रूप विराट्शुक्र व्याप्त हुआ। यही पहिला अव्यक्त स्वयम्भू है। ससीम और असीम [किन्तु मायावच्छिन्न होनें से परमार्थतः असीम] भेद से स्वयम्भू दो प्रकार का है। जबतक महान् की उत्पत्ति नहीं होती, तब तक पुण्डीर स्वयम्भू का उदय नहीं होता। महदुत्पत्ति से पहिले अपनी सत्ता रखनें वाला शुक्रमूर्ति स्वयम्भू व्यापक है, महामायावच्छिन्न बनता हुआ एक है। इस महा-विश्वव्यापक महा स्वयम्भू के उदर में महान् की कृपा से उदित होनें वाली अनन्त योगमायाओं से अनन्त पुण्डीर स्वयम्भू प्रादुर्भूत होते हैं, जिनका कि दिग्दर्शन आठवें मन्त्र में कराया जायगा। जो किसी समय द्विब्रह्म था, वही मातरिश्वा द्वारा षड्ब्रह्म [आप] से मिथुनभाव को प्राप्त होता हुआ 'शुक्र' कहलानें लगता है। शुक्र क्या पदार्थ है? इस प्रश्न का उत्तर है षड्ब्रह्मगर्भित यजुर्ब्रह्म। विश्व के उपादान कारण ही को शुक्र कहते हैं। इसमें वेद–सुवेद दोनों हैं। दोनों का मिथुनभाव ही विश्व का उपादान बनता है, अतएव इस मिथुनरूप को हम अवश्य ही 'शुक्र' शब्द से व्यवहृत कर सकते हैं। यही व्यापक अव्यक्त स्वयम्भू है। यही अव्यक्त आगे जाकर व्यक्त महद्रूप में परिणत होकर विश्व का प्रभव–प्रतिष्ठा परायण बनता है, जैसा कि निम्न वचन से स्पष्ट है–

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ (गी० ८।१८)

यही अव्यक्त महत्तत्त्व के सम्बन्ध से अपत्यरूप में परिणत होजाता है। इस व्यापक अपत्यमूर्ति व्यापकशुक्र से सृष्टि निर्माण होता है।

शरीर पर दृष्टि डालिए। सर्वाङ्ग शरीर में व्यापक सभी शुक्र प्रजोत्पत्ति का कारण नहीं बनता। कतिपय शुक्र ही योनि में आहुत होकर प्रजोत्पत्ति कारण बनता है। यही अवस्था

यहां समझिए। महामायावच्छिन्न ईश्वरशरीर शुक्रमय (ब्रह्म सुब्रह्ममय) है। जैसे भिन्न भिन्न शुक्राहुतियों से भिन्न भिन्न (पुत्र कन्यादि] प्रजाएं उत्पन्न होती हैं, एवमेव ईश्वर शरीर में व्याप्त शुक्र की भिन्न भिन्न आहुतियों से भिन्न भिन्न प्रजा की उत्पत्ति होती है। ईश्वर की प्रजा के १–स्वयम्भू (पुण्डीरस्वयम्भू) २–परमेष्ठी, ३–सूर्य, ४–चन्द्रमा, ५–पृथिवी यह पांच विभाग हैं। पाचों की समष्टि एक विश्वप्रजा है। ऐसी अनन्त प्रजाएं (अनन्त विश्व) उस में उस के भिन्न भिन्न शुक्र प्रदेशों से उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार शुक्र भेद से अनन्त विश्वप्रजाओं को उत्पन्न कर वह अनन्तविश्वाधिष्ठाता बन जाता है। ईश्वरतत्व 'शुक्र' रूप में कैसे परिणत हो जाता है? प्रकृत मन्त्र इसी का समाधान करता है। एवं वह शुक्र भिन्न भिन्न प्रजाओं को कैसे उत्पन्न करता है? पुण्डीर प्रजाओं का क्या स्वरूप है? इन सब प्रश्नों का समाधान 'स पर्यगात्०' इत्यादि मन्त्र करता है। स्वयम्भू ब्रह्मसत्य है। प्राकृतिकप्राण की विकासमूर्त्ति होने से इसे 'प्राकृतात्मा' कहा जाता है। महद्रूप व्यक्त विश्व का अधिष्ठाता यह स्वयं अव्यक्त है। इसी दृष्टि से इसे 'अव्यक्तात्मा' कहा जाता है। अध्यात्मसंस्था में यही अव्यक्तांश 'शान्तात्मा' नाम से प्रसिद्ध है —(देखिए कठोपनिषद् १। ३)। यही ब्रह्मसत्याक्षर, स्वयम्भू, अव्यक्तात्मा, शान्तात्मा आदि विविध नामों से प्रसिद्ध पहिला प्राकृतात्मा है। अब महानात्मा नाम से प्रसिद्ध दूसरे प्राकृतात्मा की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

इति मन्त्रार्थप्रकरणम्

विश्वाविश्वात्मनोः-सम्बन्धाधिकारः

(अमृतात्मना सह ब्रह्मसत्यस्य सम्बन्धनिरूपणम्)

ब्रह्म-कर्मणोः सम्बन्धः



१	तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः ॥ १ ॥	ब्रह्म कर्मस्थम्
२	यस्तु सर्वाणि भूतानि-आत्मन्येवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ २ ॥	कर्म ब्रह्मस्थम्
३	यस्मिन्त्सर्वाणि भूतानि-आत्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥३ ॥	अभेदं कर्म



ब्रह्मकर्म्मसम्बन्धनिरुक्तिः



व्यय पुरुष प्रकृति को आगे कर के ही विश्वनिर्माण में समर्थ होता है । प्रकृति विशिष्ट, (अत एव) सृष्टिप्रवर्त्तक अव्यय पुरुष के ब्रह्म और कर्म यह दो प्रधान विवर्त्त हैं । आनन्द-विज्ञान-मन का समुच्चय ब्रह्मभाग है, मन-प्राण-वाक् का समन्वितरूप कर्मभाग है । दोनों नित्य सहचारी हैं । ब्रह्म-कर्ममय अव्यय से (प्रकृति द्वारा) उत्पन्न विश्व में भी ब्रह्म-कर्म (ज्ञान-क्रिया) इन दो तत्वों का ही साम्राज्य है । प्रयास करने पर भी आप ज्ञान कर्म के अतिरिक्त तीसरी वस्तु प्राप्त नहीं कर सकते । विश्वात्मा में ब्रह्मभाग विकसित रहता है, विश्व में कर्म की प्रधानता रहती है । अतः एव विश्वात्मा को 'ब्रह्म' नाम से व्यवहृत किया जाता है, एवं विश्व को 'कर्म' नाम से पुकारा जाता है । इस भेद व्यवहार का मूल कारण यही है कि अव्ययात्मा का सृष्टिसाक्षीभाग मन-प्राण-वाङ्मय है । मन रूपों का उक्थ-ब्रह्म-साम है, प्राण कर्मों का (क्रियाओं का) उक्थ-ब्रह्म-साम है, एवं वाक्तत्व नामों का उक्थ-ब्रह्म साम है । नामरूपकर्म की समष्टि ही विश्व है । अव्ययात्मा के कर्मभाग को आलम्बन मानकर शब्दतन्मात्रा द्वारा ही विश्व का निर्माण हुआ है । इस कर्मप्रधान विश्व के ब्रह्म-शुक्र-विश्व यह तीन विवर्त्त हैं । अव्ययप्रधान षोडशी स्वयं अमृत कि वा अमृतात्मा है । उपनिषत् के आरम्भ में (पृ० ११) एवं प्राकृतात्माधिकरणान्तर्गत वेदनिरुक्ति की प्रकरणसंगति में (पृ० सं० ४।१५) उपनिषत् का जो विषय विभाग बतलाया गया है, आज उसे दूसरी तरह से देखिए । कर्मगर्भित ब्रह्म (षोडशी पुरुष) के अमृत-ब्रह्म-शुक्र-विश्व यह चार विवर्त्त हैं । यही चतुष्पाद्ब्रह्म है , जिसका कि पूर्व के चतुष्पाद्ब्रह्मनिरूपणाधिकार में विस्तार से दिग्दर्शन कराया जाचुका है । प्रकारान्तर से ईशोपनिषत् इन्हीं चारों ब्रह्म विवर्त्तों का निरूपण करती है । मन्त्रत्रयात्मक प्रथम प्रकरण (पुरुषात्माधिकरण) अमृत नाम से प्रसिद्ध विशुद्ध षोडशीपुरुष का निरूपण करता है । 'अनेजदेकं मनसो जवीयः' यह मन्त्र ब्रह्म नामसे प्रसिद्ध अव्यक्त तत्व का निरूपण करता है ।

'स पर्यगाच्छुक्रम्' इत्यादि मन्त्र शुक्र नाम से प्रसिद्ध विकृतितत्वरूप व्यक्ततत्व का निरूपण करता है, एवं 'सपर्यगात्'० से आगे का सारा प्रकरण विश्व नाम से प्रसिद्ध वैकारिक जगत् का प्रतिपादन करता है। इन चारों विवर्त्तों में अमृतात्मा विश्वात्मा है, विश्वका आधार है, विश्वसाक्षी है, पुरुष है। ब्रह्म [अव्यक्त] मूलप्रकृति है। शुक्र विकृति है। विकार विश्व है। पुरुष–प्रकृति–विकृति–विकार–ही अमृत–ब्रह्म–शुक्र–विश्व हैं। इन चारों में पुरुष ज्ञानप्रधान बनता हुआ ब्रह्म है, प्रकृति–विकृति–विकार यह तीनों विवर्त कर्मप्रधान बनते हुए कर्मरूप ही हैं। यद्यपि विश्व केवल विकारसत्व का ही नाम है। तथापि विकृतिरूप शुक्र ही इसका उपादान कारण बनता है। एवं कार्यरूप विश्व उपादान कारणरूप शुक्रसत्ता से ही सत्ता-युक्त बन रहा है। कारण कार्य से अभिन्न है, विकार विकृति से अभिन्न है। अतएव विकृतिरूप शुक्र को विकारसत्वरूप विश्व में ही अन्तर्भूत मानलिया जाता है। तीसरा है प्रकृतिरूप ब्रह्म भाव। अव्यक्त प्रकृति ही व्यक्त विकृति (शुक्र) को उत्पन्न कर विश्व की मूल जननी बनती है। प्रकृति की अव्यक्तावस्था ही तो व्यक्तभाव में परिणत होकर शुक्र (उपादान) बनती है। अत इस प्रकृतिरूप अव्यक्त ब्रह्म का विकृतिरूप व्यक्त शुक्र में अन्तर्भाव मान लिया जाता है। प्रकृति को विकृति से पृथक् नहीं किया जासकता, विकृति को विश्व से पृथक् नहीं माना जासकता।

प्रकृति कर्त्री (निमित्तकारण) है, विकृति उपादानकारण है, वैकारिक विश्व कार्यरूप है। चौथा स्वयं अमृतात्मा प्रकृति विकृति-विकार इन तीनों का आलम्बन बनता हुआ सर्वालम्बन है। यह कार्य कारणातीत है। यद्यपि सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर स्वयं अमृतात्मा में भी (षोडशी पुरुष में भी) अव्यय–अक्षर–आत्मक्षर–ब्रह्मशुक्रविश्व इस क्रम से उक्त कारणता चतुष्टयी की सत्ता सिद्ध होजाती है। इस विभाग में अव्यय अमृत है, अक्षर ब्रह्म (अव्यक्त प्रकृति) है, आत्मक्षर शुक्र (व्यक्तविकृति) है, एवं ब्रह्म–शुक्र–विश्व समष्टि वैकारिक कार्य है। दूसरे शब्दों में अव्यय आलम्बन है, अक्षर निमित्तकारण है, आत्मक्षर उपादानकारण है, एवं ब्रह्म–शुक्र विश्व यह समष्टि कार्य ब्रह्म है, तथापि भौतिक विश्व के कार्यकारणभाव से विचार उप-

स्थित होनें पर इस क्रम को प्रधानता नहीं दी जासकती। 'त्रयः सर्वाणि भूतानि' के अनुसार भौतिकविश्व अव्यय-अक्षर की कारणता से पृथक् ही मानना पड़ता है। यह ठीक है कि आत्मकारणता ही चरमकारणता है, तथापि स्थूलदृष्टि से हम षोडशीरूप अमृतात्मा को कार्यकारणातीत ही कहेंगे। इस प्रकार चतुष्पाद्ब्रह्म के सम्बन्ध में आत्मा-विश्व भेद से दो विवर्त्त होजाते हैं। आत्मा भी चतुष्पात् है, ब्रह्म भी चतुष्पात् है। दोनों की समष्टि अष्टाक्षर गायत्री छंद है। अतएव ब्रह्मविद् ब्राह्मण गायत्री से ही विश्व का निर्माण मानते हैं।

पुरुष-प्रकृति विकृति सब कुछ गायत्री के उदर में समाविष्ट है। गायत्री चतुष्पाद् ब्रह्म की विभूति है। 'सर्वाणि ह वा छन्दांसि चतुरुत्तराणि' के अनुसार गायत्री के आरम्भ में चार पाद (अक्षर) थे, परन्तु विश्वोत्पत्ति के अनन्तर चतुष्पाद् आत्मब्रह्ममयी गायत्री अष्टाक्षरा बन-जाती है। इसी ब्रह्मविभूति की प्राप्ति के लिए ब्रह्मविद् ब्राह्मण ब्राह्ममुहूर्त्त में पूर्वाभिमुख खड़े हो कर गायत्रीब्रह्म का स्मरण किया करते हैं। गायत्री ही सब कुछ है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर छान्दोग्य श्रुति कहती है—

"गायत्री वा इदं सर्वं-भूतं-यदिदं किञ्च। वाग्वै गायत्री। वाग्वा
इदं सर्वं भूतम्। गायति च त्रायते च। ÷ ÷ + ÷ ÷
तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि,
त्रिपादस्यामृतं दिवि। यद्वैतद् ब्रह्म इति, इदं वाव तत्, योऽयं-
बहिर्धा पुरुषादाकाशः। यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः-अयं वाव
स योऽयमन्तः पुरुष आकाशः। यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशः —
अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाशः। तदेतत् पूर्णं अप्रवर्त्ति,
पूर्णमप्रवर्तिनीं श्रियं लभते य एवं वेद" इति।

[छान्दोग्योपनिषत् ३ प्र. १२ खं.)

'प्राकृतात्मा' यह शीर्षक रक्खा है।-सामान्य दृष्टि से सारी उपनिषत् के दो ही विभाग हैं। आरम्भ के तीन मन्त्रों की समष्टि पुरुषविभाग है, आगे के (अनेजदेकं-से आरम्भकर नम उक्तिं विधेम पर्यन्त) १५ मन्त्रों की समष्टि प्रकृतिविभाग है। प्रकृति की आगे जाकर प्रकृति-विकृति विकारसंघ (ब्रह्म-शुक्र-विश्व) यह तीन अवस्थाएं होजाती हैं, अतएव दूसरा विभाग तीन भागों में विभक्त हो जाता है। 'अनेजदेकं०' इत्यादि चतुर्थमन्त्र प्रकृति के ब्रह्मविवर्त्त का निरूपण करता है। 'सपर्यगात्०' इत्यादि आठवां मन्त्र प्रकृति के शुक्रविवर्त्त का निरूपण करता है। एवं आगे के (अन्धं तमः० इस ९ मन्त्र से आरम्भ कर 'नम उक्तिं विधेम' इस १८ वें मन्त्रतक) १० मन्त्रों की समष्टि प्रकृति के विश्वविवर्त्तभूत वैकारिकसंघ का निरूपण करती है। इसप्रकार १ (४ मन्त्र), १ (८ मन्त्र), १ (९ से १८ तक) इस क्रम से प्रकृतिके ही तीनों विवर्त्तों का निरूपण हुआ है। उपनिषदुपदेश जीवात्मा (अध्यात्म) से सम्बन्ध रखता है। जीवात्मा देवसत्य नाम से प्रसिद्ध है। जीवदेवसत्य की प्रतिष्ठा ईश्वरीय देवसत्य है। यह दोनों ही देव-सत्य विश्व के पृथिवीपर्व पर प्रतिष्ठित हैं। देवसत्य अग्निरूप है। सोम अग्नि का जीवन है। सूर्य इस देवसत्य का आत्मा है। सूर्यरूप विश्व (व्यक्त विश्व) देवसत्य की मूलप्रतिष्ठा है। सोममय चन्द्रमा जीवनीय रस है, जीवन का साधन है, पृथिवी आधार है। इस प्रकार व्यक्त विश्व में सूर्य-चन्द्रमा-देवसत्य-पृथिवी यह चार विवर्त्त होजाते हैं। सूर्य भी अग्नि है, देवसत्य भी अग्नि है, पृथिवी भी अग्नि है, मध्यपतित सोमरूप चन्द्रमा भी अग्नि से ही गृहीत है। विश्व के लिए 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' यह कहा जाता है। इन में अग्निकला सूर्य-देवसत्य-पृथिवी इन तीन भागों में विभक्त है। चौथी सोमकला है। इसप्रकार अग्नीषोमात्मक विश्वके सूर्यादि उक्त विवर्त्त होजाते हैं। चारों की समष्टि को हम (अन्नसोम को अन्ना अग्नि के गर्भ में मानते हुए) अग्निशब्द से व्यवहृत कर सकते हैं। समष्टिरूप से विश्व सोमगर्भित अग्नि है, व्यष्टिरूप से वही सूर्य-चन्द्रमा-देवसत्य-पृथिवी इन चार भागों में विभक्त है। सूर्य व्यक्त विश्व का आरम्भस्थान है, पृथिवी अन्तिमस्थान है। मध्यमें चन्द्रमा और देवसत्य प्रतिष्ठित हैं। इन चारों व्यष्टियों का अन्ततोगत्वा समष्टिरूप अग्नि पर अवसान है। इस क्रमसे ९ मन्त्रात्मक चौथे विश्वप्रकरण के

अवान्तर पांच प्रकरण हो जाते हैं। सूर्यप्रकरण-चन्द्रप्रकरण-देवसत्यप्रकरण-पृथिवीप्रकरण अग्निप्रकरण इन प्रकरणों में ३ मन्त्र (९-१०-११) सूर्यकला का, ३ मन्त्र (१२-१३-१४) चन्द्रकला का, २ मन्त्र (१५-१६ यह दो मन्त्र पूरे एवं तीसरे १७ वें मन्त्र का 'वायुरनिलममृतम्' यह एक चरण) देवसत्यकला का , पौन मन्त्र (१७ वें मन्त्र के शेष तीन चरण) पृथिवीकला का, एवं एक मन्त्र (अठारहवां मन्त्र) समष्टिरूप अग्नि का निरूपण करता है, जैसा कि विषयविभागप्रदर्शन में स्पष्ट कर दिया गया है।

यद्यपि इस अप्रासंगिक चर्चा से पाठक क्षुब्ध होरहे होंगे। परन्तु हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि यह क्षोभभाव उन के लिए उपनिषद्ज्ञान का मार्ग ऋजु करदेगा। चलिए समष्टिरूप से विषयविभाग की ओर चलते हुए अपना क्षोभ और बढ़ाइए।

उपनिषत् को आमन्वी ईश्वरप्रजापति का निरूपण करते हुए तदंशभूत अध्यात्मसंस्था का निरूपण करना है। ईश्वरसंस्था पुरुष और प्रकृतिभेद से दो भागों में विभक्त है। विश्वसंबन्ध से पुरुष को अपने कर्मभाग को आगे रखना पड़ता है। स्वयं पुरुष भी अव्यय-अक्षर-क्षर भेद से त्रेधा विभक्त है, एवं अव्यय का कर्मभाग भी मन-प्राण-वाक् भेद से त्रेधा विभक्त है। इन में मन अव्ययप्रधान है अक्षर प्राणप्रधान है, क्षर वाक्प्रधान है, यह है ईश्वरविवर्त्त। अध्यात्मसंस्था में अव्ययरूप मन कामना से भोगों का, प्राणरूप अक्षर कर्मों का, वाग्रूप क्षर आवरण

---

० 'सूर्याचन्द्रमसौ' का युग्म है। यहां संवत्सररूप विश्व के प्रवर्तक हैं। अतएव दोनों में ३-३ मंत्र से समान क्रम रक्खागया है।

+ देवसत्य सत्य है, सत्य विषय है। अतएव श्रुति को देवसत्य निरूपण के लिए तीन मन्त्र रखने पड़े। पूरे तीन मन्त्र नहीं, अपि तु ढाई मन्त्र। १७ वें मन्त्र के तीन चरण पृथिवी में युक्त होगए। कारण पृथिवी देवसत्य की प्रतिष्ठा है। विवर्तरूप से वह प्रतिष्ठित रहती है, अपने एकांशरूप वषट्कार से वह देवसत्य में परिणत होती है, जैसा कि तत्प्रकरण में जाकर स्पष्ट होजायगा। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर तीन पादों में पृ० का निरूपण हुआ है, एक चरण का देवसत्य प्रकरण में अन्तर्भाव है।

प्रकृत प्रकरण सम्बन्ध का निरूपण करता है। सम्बन्ध के सम्बन्ध में मन्त्रसम्बन्धिनी सम्बन्ध जिज्ञासा सम्बद्ध है। अत एव प्रसंगोपात्त मन्त्रसम्बन्ध का दिग्दर्शन कराना पड़ा। पुनः प्रकृत का अनुसरण किया जाता है।

यद्यपि अभी विश्व का स्वरूप नहीं बतलाया गया है। कारण अग्नीषोमात्मक विश्व का उपादान शुक्ररूप व्यक्त महद् है, इस की मूलप्रकृति अव्यक्त ब्रह्म है। 'अनेजदेकम' से इस का निरूपण हुआ है। फिर भी ब्रह्म ही विश्व की मूलप्रकृति है। 'प्रकृतिः कर्त्री' के अनुसार यही व्यक्तावस्था में आकर विश्वरूप में परिणत होने वाली है। जब विश्व की मूलप्रकृति का निरूपण होगया तो एक प्रकार से विश्व का निरूपण होगया। अनेजदेकम्० के अनन्तर ही ऋषिने ब्रह्म-कर्म (पुरुष-प्रकृति) के सम्बन्ध का निरूपण करना उचित समझा है। इस प्रकरण में ब्रह्म शब्द षोडशीपुरुष का वाचक है, कर्मशब्द विकार (विश्व), विकृति (शुक्र) गर्भित अव्यक्त ब्रह्म का वाचक है। इस कर्ममय, अतएव कर्म नाम से (कर्त्री नाम से) प्रसिद्ध इस अव्यक्त ब्रह्म का विकास उस पुरुषब्रह्म से (पुरुष ब्रह्म के कर्मभाग से) हुआ है। अपनी आत्मक्षर कला से वह अव्यक्त ब्रह्म का ब्रह्म (उपादान) बना है। अतएव सृष्टिकर्तृत्व की अपेक्षा से उसे हम अवश्य ही ब्रह्म कह सकते हैं। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' के अनुसार क्षरद्वारा अव्यक्त ब्रह्म को उत्पन्न कर वह षोडशीपुरुष (अमृतात्मा) इसके गर्भ में प्रविष्ट होगया है। दूसरे शब्दों में भौतिक कर्मरूप विश्व में वह अमृत ब्रह्म प्रतिष्ठित होरहा है। ऐसी परिस्थिति में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस ब्रह्म (आत्मा) का इस कर्म (विश्व) के साथ क्या सम्बन्ध है? कैसा सम्बन्ध है? दूसरे शब्दों में आत्मब्रह्म कर्मविश्व में किस सम्बन्ध से प्रविष्ट होकर विश्वव्याप्त-विश्वेश-विश्वाधार आदि नामों से प्रसिद्ध हो रहा है? प्रकृत तीनों मन्त्र इसी सम्बन्ध जिज्ञासा को शान्त करते हैं।

दर्शनशास्त्रने ब्रह्म-कर्म का सम्बन्ध ६ प्रकार से माना है। यही सम्बन्ध 'षड्विधत्व' नाम से प्रसिद्ध है। ब्रह्म कारण है, विश्व कार्य है। लोकमें हम कार्य-कारणभावों के सम्बन्ध में विचार करते हैं। कार्यकारणसम्बन्ध अनेक प्रकार से उपलब्ध होता है। उदाहरण के

लिए कुछ एक कार्यकारणभावों का विचार कीजिए। विविध कार्यकारणभावों का निरूपण करते हुए अभियुक्त कहते हैं–

> हेतुर्निमित्तं प्रकृतिश्च योनिः मारम्भूने प्रभवोद्भवौ तथा।
> विवर्तसंचारिरसप्रनाद्विरूपकुसपूर्वं समवायिका मताः॥

१–दीपशलाका से दीपक जल उठता है। दीपशलाका कारण है, इससे प्रज्वलित दीपशिखा कार्य है। इन दोनों का सम्बन्ध 'हेतुसम्बन्ध' है। इसे ही 'प्रवर्त्तक' सम्बन्ध भी कहा जाता है। कैसा विलक्षण सम्बन्ध है। कारण का कार्यरूपमें परिणत होजाना उपादान सम्बन्ध है। यहां कारणरूप दीपशलाका कार्यस्वरूप साधक बनती हुई भी स्वयं दीपज्वाला नहीं बनती, यही विलक्षणता है।

२–वायु में एक प्रकार का नोदनाबल (प्रेरणाबल) देखा जाता है। नोदना कार्य है, वायु कारण है। इसी वायुनोदना से वृक्षादि में कम्प होता है। मेघों का संचरण होता है। यह कार्यकारणसम्बन्ध नैमित्तिक किंवा निमित्तसंबन्ध नाम से प्रसिद्ध है।

३–आकाश में पक्षी उड़ रहे हैं। सर्प दंशन (काट) करते हैं। मृगशावक (हरिण के बच्चे) उछला करते हैं। पुष्प में से गंध निकला करता है। यहां पक्षी–सर्प–मृगशावक–पुष्प यह चारों क्रमशः उड़ना–दंशन–उछलना–गंध इन चार कार्यों के कारण हैं। इनका पारस्परिक सम्बन्ध 'प्राकृतिक' (स्वाभाविक), किंवा प्रकृति (स्वभाव) सम्बन्ध कहलाता है।

४–शब्द से शब्द पैदा होता है। आप अपने मुख से जो शब्द बोलते हैं, उसका आकाश में सर्वत्र व्याप्त वाक्समुद्र में आघात होता है। आघात होते ही वाक् समुद्रमें उच्चारित शब्दाकाराकारित लहर उत्पन्न होजाती है। एक लहर के आघात से आगे दूसरी लहर, दूसरी से तीसरी लहर, तीसरी से चौथी, पांचवीं इसप्रकार वीचियों की धारा बन जाती है। यही प्रतिध्वनिभाव है। यही लहर अन्य व्यक्ति के कानपर पहुंच कर शब्दोत्पत्ति का कारण बन जाती है। इसी के लिए– 'शब्देभ्यः शब्दोत्पत्तिः' यह कहा जाता है। आप जो शब्द सुनते हैं वह उक्त वीचिन्याय

प्रतिष्ठित हैं। शिल्पी नई मूर्त्ति नहीं बनाता, अपि तु वह पाषाणस्थित मूर्त्ति के बहिरावरण को हटा देता है। शिल्पी जिन मूर्त्तियों का स्वरूप जानता है, उन्हीं का स्वरूप पाषाण में से वह निकाल सकता है। ध्यान रहे–यदि शिल्पी अपने शिल्पास्त्रों से (टांकी हथोड़े से) मूर्त्ति पर प्रहार कर देगा तो मूर्त्ति नष्ट हो जायगी। मूर्त्ति को बचा बचा कर ही उसे बाहर का आवरण हटाना पड़ता है। आवरण के आत्यन्तिक हटा देने से पाषाणस्थ प्रतिमा प्रकट हो जाती है। इसी का नाम सत्कार्यवाद है। जो वस्तु है, उसी की उपलब्धि होती है– यदिस्या दुपलभ्येत। यदि पाषाण में मूर्त्ति पहिले से न होती तो सहस्रशिल्पी भी पाषाण की मूर्त्ति नहीं बना सकते थे। यदि शिल्पी ही पाषाण को मूर्त्ति का रूप देता है तो क्यों नहीं वह पानी की मूर्त्ति बना लेता। इसी अभिप्राय से 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' यह कहा जाता है। यही प्रतिमापूजन की अनादिता एवं वैदिकता है। इसी उद्भव सम्बन्ध को 'भाविकसम्बन्ध' कहा जाता है। विश्व नया नहीं बनता, अपि तु अन्धकारावरण के भंग से प्रकट होता है।

७- भूमि से अंकुर उत्पन्न होता है। प्राणियों से नोदना बल (प्रेरण बल) का उदय होता है। रुद्र से ताप उत्पन्न होता है। पुरुष से पुत्र उत्पन्न होता है। मकड़ी से जाल उत्पन्न होता है। यहां भूमि–प्राणी–रुद्र–पुरुष–मकड़ी कारण हैं, अंकुर–नोदना–ताप–पुत्र–जाल- कार्य हैं। इन का सम्बन्ध 'उद्भवसम्बन्ध' कहलाता है। इसे ही 'भौतिकसम्बन्ध' भी कहते हैं। यहां प्रभव का (कारण का) नाश नहीं है, केवल प्रभव का एक देश प्रभव से पृथक् होकर कार्यरूप में परिणत होता है। सारा भूपिण्ड अंकुर नहीं बनता, सारा शुक्र पुत्र नहीं बनता। सारी मकड़ी जाल नहीं बनती। अपितु भू–शुक्र–मकड़ी का एक प्रदेश ही अंकुर–पुत्र जालरूप में परिणत होता है। इसी को सांतानिकसम्बन्ध भी कहा जाता है।

८–आठवां विवर्त्त सम्बन्ध है। अविकृतपरिणामवाद ही विवर्त्त नाम से प्रसिद्ध है। ब्रह्म विश्व बन गया है। ब्रह्म की अवस्थान्तर का नाम ही विश्व रख दिया है। अथवा विश्व ब्रह्म से पृथक् पदार्थ नहीं है। ब्रह्म ही विश्वरूप से प्रतीत होता रहा है। विश्व साक्षात् ब्रह्म है। यही

ब्रह्मनिर्वर्त्तवाद है । इसी को प्रातिभासिकविवर्त्त कहते हैं । विश्व ब्रह्मवत् स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखता । विश्व की केवल भाति है । सत्ता ब्रह्म की ही है । अथवा सत्ताब्रह्म का ही विश्वरूप से भान होरहा है । अलातचक्र दिग्जिवृत्त का भी इस प्रातिभासिक विवर्त्त में ही अन्तर्भाव है ।

९–खगोल में मध्यरेखा विषुवद्वृत्त है । जिस पर भूपिण्ड सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगाता है, वह वृत्त क्रान्तिवृत्त नाम से प्रसिद्ध है । तत्तत्तारापुञ्जों में विभक्त मेष–वृष–मिथुनादि राशिएं राशिमूर्तिएं हैं । नक्षत्रों से नक्षत्र पुरुषों का स्वरूप बना हुआ है । यह सब काल्पनिक जगत् है । आकाश में कोई वास्तव में गोल वृत नहीं है, क्रान्तिवृत्तरूप कोई सड़क नहीं बनी हुई है । राशियों की कोई प्रतिमाएं नहीं हैं । केवल कल्पना है । कल्पना से वृत्तादि कल्पित हैं । यही विकल्प किं वा वैकल्पिक सम्बन्ध है ।

१०–हमारा मन नई नई कल्पनाएं किया करता है । अपने अन्तर्जगत् में विचित्र विचित्र स्वरूपों की भावना किया करता है । यही मनोराज्य है, इसी को 'ऐच्छिकसम्बन्ध' कहा जाता है ।

११–वृक्ष से पुष्प-फल उत्पन्न होते हैं । लौह से किट्ट (जंग) उत्पन्न होता है । शरीर से केश लोम उत्पन्न होते हैं, शुक्र उत्पन्न होता है । यह सब 'औपपादिक सम्बन्ध' हैं ।

१२–तैल से घी उत्पन्न होती है । शुक्र शरीररूप में परिणत होता है । शण से रस्सी बनती है, पत्र (कागज) बनते हैं । अगार से भस्म उत्पन्न होता है । वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी उत्पन्न होती है । यहां कारण (प्रकृति) अपने स्वरूप से च्युत होता हुआ कार्य (विकृति) रूप में परिणत हो रहा है । स्वरूपान्तरमहस्त्प यही सम्बन्ध परिणामी किंवा परिणामिक नाम से प्रसिद्ध है ।

१३–पानी से ओषधिएं, ओषधियों से गुड़ उत्पन्न होता है । यही रसानुवृत्तिक किं वा रसवाही सम्बन्ध है ।

१४–निमया–पुरा–प्रातर–यह सब कार्य सांयोगिक समवायी सम्बन्ध में अन्तर्भूत हैं ।

१५-पानी में लहर, मिट्टी में घट, तन्तु से पट, लकड़ी से कपाट, स्वर्ण से कटक, तेज-अब्-अन्न का क्रमिक विकास इन सब का औपादानिक किंवा उपादान सम्बन्ध में अन्तर्भाव है।

१६-अग्नि से पानी का गरम होजाना, सूर्य से ताप होजाना, सुवर्ण का पिघल जाना, इत्यादि सांक्रामिक सम्बन्ध हैं।

१७-स्फटिकमणि पर जपापुष्प का राग, यह आक्रमिकसंचारी सम्बन्ध है। इसी को आभिव्यविक सम्बन्ध कहा जाता है।

१८-ऊर्णा (मकड़ी) की नाभि से तन्तु उत्पन्न होता है। मकड़ी कारण है, मकड़ी से उत्पन्न जाल कार्य है। इसी प्रकार पुरुष से केश लोम उत्पन्न होते हैं। पुरुष कारण है, केशलोम कार्य हैं। पृथिवी कारण है, ओषधि वनस्पतिएं कार्य हैं। पिता कारण है, पुत्र कार्य है। मृत्तिका कारण है, घट कार्य है। इन पांचों ही कारणों का उपादानभाव से सम्बन्ध है। उपादानकारणत्वेन पांचों की कारणता यद्यपि समान प्रतीत होरही है, परन्तु सूक्ष्म विचार करने से पांचों का पार्थक्य स्पष्टरूप से प्रतीत होने लगता है। पहिले ऊर्णनाभि को ही लीजिए। मकड़ीकी नाभि से उत्पन्न होनेवाला जाल अपने प्रभव (मकड़ी) से पृथक् निरावलम्ब रहता है। साथ ही में आगे जाकर यह जाल अपने प्रभव (मकड़ी) में लीन भी हो जाता है। इसप्रकार अपने प्रभवका आश्रय न लेना, प्रभव से पृथक् रहना, अन्तमें प्रभव में ही लीन होजाना, यह एक प्रकार का कार्यकारणभाव है। ऊर्णनाभि में, प्रभवानालम्बनत्व, प्रभवपृथक्चरत्व, प्रभवविलयनत्व यह तीन कोटि हैं।

केशलोम पुरुष से उत्पन्न होकर पुरुष में ही प्रतिष्ठित रहते हैं। जाले की तरह पुरुष से पृथक् नहीं रहते। साथ ही में यह अपने प्रभव पुरुष से पृथक् भी होजाते हैं। इस प्रकार यहां प्रभवालम्बनत्व, प्रभवानालम्बनत्व दोनों धर्म हैं। जाल की तरह इनका प्रभव में विलयन नहीं होता। ओषधि वनस्पतिएं प्रभव (पृथिवी) में आलम्बित हैं, आलम्बित होतीं हुई स्वतन्त्ररूप से ऊपर की ओर बढ़ती हैं, यही इनका पृथक्चरत्व है। इन्हें काट कर फैंक दीजिए,

फिर भी इनका आलम्बन पृथिवी ही रहती है। मकड़ी के जाल में यह बात नहीं है। यदि उसे अलग करदिया जायगा तो मकड़ी इसका आलम्बन न रहेगी। यहां प्रत्येक दशा में पृथिवी ही आलम्बन है। मकड़ी का जाल जैसे मकड़ी से पृथक् होजाता है, ओषधि वनस्पतिएं शरीरभूत पृथिवी से कभी पृथक् नहीं हो सकतीं। इनका विलयन पृथिवी में ही होता है। मकड़ी में विलयन अविलयन दोनों धर्म हैं। यहां केवल विलयन ही है। पृथक्चरत्व जाल और ओषधियों में समान है। पुरुष से उत्पन्न केशलोम में आलम्बनत्व-अनालम्बनत्व दोनों धर्म थे, मकड़ी में अनालम्बनत्व ही था, पृथिवी में आलम्बनत्व ही है। साथ ही में केशलोम में प्रभव-विलयनत्व है ही नहीं। ओषधि वनस्पतियों में प्रभवविलयनत्व ही है। मकड़ी के जाल में विलयनत्व अविलयनत्व दोनों धर्म हैं इस प्रकार तीनों में कुछ न कुछ अन्तर है। पिता पुत्र के कार्यकारणभाव में तीनों से विलक्षणता है। यहां पुत्र अपने प्रभव (पिता) में आलम्बित नहीं है। इसका विलयन भी मिट्टी में होता है। परन्तु जाल-ओषधि-केशलोम-पुत्रवत्-घड़ा मिट्टी से पृथक्चर नहीं है। वन्हि से विस्फुलिङ्ग उत्पन्न होते हैं। यहां भी उपादान कार्यकारणभाव सम्बन्ध है, परन्तु यह पांचों से विलक्षण है। दीपशलाका से अन्य दीपक जल पड़ता है। शलाकाग्नि कारण है, परन्तु शलाकाग्नि का यत् किञ्चित् अंश भी दीपक में प्रविष्ट नहीं होता। कुम्भकारवत् निमित्त कारणता का भी ऐसे स्थल में समावेश नहीं होता, एवं मृद्घटवत् उपादान कारणता भी नहीं मानी जासकती है। ऐसा विलक्षण सम्बन्ध है।

उपर्युक्त कुछ एक उदाहरणों से पाठकों को यह विदित होगया होगा कि कार्यकारणभाव किसी एक ही नियम पर प्रतिष्ठित नहीं है। यदि ऐसा होता तो विश्व के सारे पदार्थ समानधर्मा होते। अवश्य उत्पादक तत्त्व एक है, इसमें कोई सन्देह नहीं। केवल सम्बन्ध की विलक्षणता, एवं पृथक्ता से पदार्थों में वैचित्र्य उत्पन्न होजाता है। अतएव सृष्टि का पर्यवसान कारणों के सम्बन्धों पर ही मानना पड़ता है।

१–प्रभवालम्बनत्व
१–२–प्रभवविलयनत्वाविलयनत्व
३–प्रभवपृथक्चरत्व

"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च" १

—0—

१–प्रभवालम्बनत्व
२–२–प्रभवविलयनत्व
३–प्रभवपृथक्चरत्व

"यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति" २

—0—

१–प्रभवालम्बनत्वानालम्बनत्व
३–२–प्रभवाविलयनत्व
३–प्रभवपृथक्चरत्व

"यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि" ३

—0—

१–प्रभवानालम्बनत्व
४–२–प्रभवाविलयनत्व
३–प्रभवपृथक्चरत्व

"यथा पितुः पुत्रः" ४

—0—

१–प्रभवालम्बनत्व
५–२–प्रभवविलयनत्व
३–प्रभवापृथक्चरत्व

"यथा मृत्तिकातो घटः" ५

—0—

१–प्रभवालम्बनत्वानालम्बनत्व
६–२–प्रभवविलयनत्वाविलयनत्व
३–प्रभवपृथक्चरत्वापृथक्चरत्व

"यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः प्रभवन्ते" ६

—0—

उपर्युक्त कुछ एक निदर्शनों से पाठकों को विदित होगया होगा कि विश्व में कार्यकारणभाव अनेक भागों में विभक्त हैं। ऐसी अवस्था में—'एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाकोट्यवगाहिज्ञानं संशयः' इस न्याय के अनुसार कारण ब्रह्म और कार्य कर्म के सम्बन्ध में जिज्ञासा का होना स्वाभाविक होजाता है। प्रकृत में केवल 'षड्विकल्प सम्बन्ध' की ही प्रधानता है। इस षट्विकल्प सम्बन्ध के आगे जाकर १३ विवर्त्त होजाते हैं। इन १३ हों का ४-४-५ यह क्रम है। चार स्वरूपसम्बन्ध हैं, चार पर्यायुदचित्ति सम्बन्ध हैं, पांच अन्वाभक्तिर्यचित्त सम्बन्ध हैं। तेरहों का षड्विकल्पों में अन्तर्भाव है। इसी षड्विकल्प सम्बन्ध को—'अभिन्नसत्ताककार्यकारणभावसम्बन्ध' कहा जाता है। उदाहरण के लिए एक मिट्टी के घड़े पर दृष्टि डालिए। मिट्टी से घड़ा बना है, यह सभी को विदित है। मिट्टी कारण है, घड़ा कार्य किंवा कर्म है। मिट्टीरूप कारण से उत्पन्न घटरूप कार्य का मिट्टी के साथ क्या सम्बन्ध है? अथवा मिट्टी का घड़े के साथ क्या सम्बन्ध है? (कार्य का कारण के साथ, कारण का कार्य के साथ क्या सम्बन्ध है?) यह विचार कीजिए। मिट्टी घट की प्रतिष्ठा है। मिट्टी को छोड़ कर घट कथमपि स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। ऐसी परिस्थिति में हम कह सकते हैं कि घट मिट्टी में है, यही प्रथम सम्बन्ध है। साथ ही मे घटावच्छिन्न मिट्टी घट को छोड़कर नहीं रह सकती। मिट्टी का जो भाग घट कहलाता है, वह घटरूप मृत्तिका सचमुच घट के बिना नहीं रह सकती। घट के नष्ट होजाने पर मिट्टी अवश्य रहेगी, परन्तु घटाकाराकारित मिट्टी न रहेगी। घटकाररूप मिट्टी तभी तक है, जब तक कि घट का आकार विद्यमान है। ऐसी परिस्थिति में हम कह सकते हैं कि मिट्टी घड़े में है, यही दूसरा सम्बन्ध है। घट एक स्वतन्त्र पदार्थ है, मिट्टी एक स्वतन्त्र पदार्थ है। यदि घट और मिट्टी एक ही वस्तु होते तो-'घटमानय' (घड़ा लाओ) इस आज्ञा से मिट्टी भी लाई जासकती थी, एवं 'मिट्टी लाओ' इस वाक्य से मृत्तिका का भी आनयन होसकता था, परन्तु ऐसा होता नहीं। घटशब्द से घड़ा ही लाया जाता है, मृत्तिका शब्द से मिट्टी ही लाई जाती है। अतः हम कह सकते हैं कि मिट्टी घड़े से भिन्न है, यही तीसरा सम्बन्ध है। घट के परमाणु टूंढ जाइए, मृत्तिका

के अतिरिक्त उसमें आपको दूसरी वस्तु न मिलेगी। मिट्टी ही तो घटरूप में परिणत होती है। घट मिट्टी से भिन्न पदार्थ नहीं है। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' के अनुसार घट सत्ता वस्तुतः मिट्टी की ही सत्ता है। ऐसी परिस्थिति में घट मृत्तिका से कैसे पृथक् होसकता है। घट मिट्टी है, यही निष्कर्ष है। यही चौथा सम्बन्ध है। मिट्टी घट के बिना भी रह सकती है, परन्तु घट बिना मिट्टी के एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। यही पांचवां सम्बन्ध है। घट कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। मिट्टी ही घटरूप से दिखलाई देरही है। जिस प्रकार स्थाणु में पुरुष की, मृगमरीचिका में जल की, शुक्ति में रजत की, रज्जु में सर्प की भ्रान्ति हो जाती है, एवमेव मिट्टी में घड़े की भ्रान्ति हो रही है। इसी को दार्शनिक अध्यास कहा करते हैं। मिट्टी घड़ा नहीं है, केवल प्रतीति होरही है। जिस सम्बन्ध से सर्वथा असत् घट मिट्टी में सत्‌रूप से प्रतीति होरहा है, उसी को 'अध्यास सम्बन्ध' कहा जाता है। यही ६ ठा सम्बन्ध है। इसप्रकार मृद्‌घट का कार्यकारणसम्बन्ध निम्नलिखित ६ भागों में विभक्त देखा जाता है।

१—घटो मृदि .... (घड़ा मिट्टी में है)————→कार्यं कारणे

२—मृद् घटे .... —(मिट्टी घड़े में है)————→कारणं कार्ये

३—मृद्‌घटौ भिन्नौ .... (घड़ा भिन्न है, मिट्टी भिन्न है)→कार्यकारणेभिन्ने

४—मृत्तिकैव घटः .... (मिट्टी ही घड़ा है)————→कारणमेव कार्यम्

५—घटो मृत्तिकातोऽभिन्नः, मृत्तिका— तु घटतो भिन्ना } घड़ा मिट्टी से अभिन्न है / मिट्टी घट से भिन्न है } —→कार्यं कारणादभिन्नम्, —→कारणं तु कार्याद् भिन्नम्

६—मय्यध्यस्तो घटः .... (मिट्टी में घड़ा अध्यस्त है)→कारणे कार्यमध्यस्तम्

उपर्युक्त यही ६ सम्बन्ध ब्रह्मकर्म में समझिए। "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" के अनुसार वह ब्रह्म-तत्त्व कर्ममय विश्व में व्याप्त है। उधर वह कर्म (विश्व) उस ब्रह्म में प्रतिष्ठित है। ब्रह्म भिन्न है, विश्व भिन्न है। ज्ञानकर्ममय ब्रह्म का कर्मभाग ही विश्व बन रहा है। ब्रह्म कर्म से भिन्न है, क्यों

कि कर्ममय विश्व के न रहने पर भी ब्रह्म स्वस्वरूप से बिना विश्व की अपेक्षा के प्रतिष्ठित रहता है परन्तु कर्म (विश्व) विश्व से अभिन्न है। कारण कर्म (विश्व) ब्रह्म कारण के बिना सर्वथा अनुपपन्न हैं। ब्रह्म में कर्म अध्यस्त है। यही ब्रह्मकर्म का षड्विकल्प सम्बन्ध है। वह इसमें है। यह उसमें है। दोनों अभिन्न हैं। वही यह है। वह इससे भिन्न है, यह उससे अभिन्न है उस में यह भास रहा है।

१–ब्रह्म कर्मस्थम्	——→ कारणं कार्यस्थम्	"कर्मत्वकर्मस्थं, मत्कर्म कर्मसत्, भिन्नद्वयं तत्, तदभिन्नमद्वयम्। अकर्म भिद्येत न कर्म भिद्यते, ऽध्यासोऽमृते स्यादिति षड् विकल्पनाः।" (श्रीगुरुप्रणीत संशयतदुच्छेदवाद)
२–कर्म ब्रह्मस्थम्	——→ कार्यं कारणस्थम्	
३–ब्रह्मकर्मणी भिन्ने	——→ कार्यकारणे भिन्ने	
४–ब्रह्मैव कर्म	——→ कारणमेव कार्यम्	
५–ब्रह्म कर्मतः पृथक्, कर्म तु अपृथक्	——→ कारणं कार्यात्पृथक्, कार्यं तु कारणदपृथक्	
६–ब्रह्मणि कर्माध्यस्तम्	——→ कारणे कार्यमध्यस्तम्	

इन छओं सम्बन्धों में प्रकृत में तीनों मन्त्रो द्वारा प्रथम–द्वितीय–चतुर्थ इन तीन सम्बन्धों का निरूपण हुआ है। 'तदेजति०' इत्यादि मन्त्र 'ब्रह्म कर्मस्थम्' इस प्रथम् सम्बन्ध का निरूपण करता है। 'यस्तु सर्वाणि०' इत्यादि मन्त्र 'कर्म ब्रह्मस्थम्' इस द्वितीय सम्बन्ध का निरूपण करता है। एवं 'यस्मिन्त्सर्वाणि' इत्यादि मन्त्र 'ब्रह्मैव कर्म' इस चौथे सम्बन्ध का प्रतिपादन करता है। ६ ओं सम्बन्धों में से उक्त तीन सम्बन्ध ही प्रधान हैं। अत श्रुतिनें इन्हीं को विशेष माना है। तीनोंमें से प्रथमसम्बन्ध का निरूपण करता हुआ निम्नलिखित मन्त्र हमारे सामने आता है—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः ॥१॥ (ई० ५ मं०)।

वह चलता है, वह नहीं चलता है, वह दूर है, वह फिर समीप है, वह सबको भीतर है वह फिर सबके बाहर है*, यह है मन्त्र का अक्षरार्थ । इस मन्त्र के प्रकृतात्मा, विषयात्मा, कृतात्मा भेद से दो अर्थ, एवं सृष्टिविज्ञान सम्बन्धी एक अर्थ, इस प्रकार तीन अर्थ होजाते हैं ।

विद्वान्–अविद्वान् भेद से मनुष्य वर्ग दो भागों में विभक्त है । शास्त्राध्ययन से अपनी बुद्धि को विद्यासंस्कार से युक्त रखने वाले सदसद्विवेकी विचारशील मनुष्य 'विद्वान्' कहलाते हैं । 'खाना पीना मौज उड़ाना' इस सिद्धान्त को परमपुरुषार्थ समझने वाले, शास्त्रज्ञान से शून्य लौकिक विषयों में रत यथाजात मनुष्य अविद्वान् माने जाते हैं । विद्वान् मनुष्य का आत्मा अनुकूल रहता है, अतएव इसे 'कृतात्मा' कहा जाता है । अविद्वान् मनुष्य का आत्मा वासनामय भौतिक संस्कारों से आवृत होता हुआ आत्मज्ञान से वञ्चित रहता है, अतएव इसे 'प्रकृतात्मा' कहा जाता है । इन्द्रियों के द्वारा रूपरसादि भौतिक विषयों का आगमन होता है । आगत विषयों का संस्कार ज्ञानमय मन पर होता है । विषय भौतिक होते हुए तमोमय हैं, अतएव ज्ञान-ज्योति के आवरक हैं । इनके सम्बन्ध से ज्ञानमय मन अपनी चिच्छक्ति (ज्ञानप्रकाश) से आवृत होता हुआ जड़वत् बन जाता है । मन के साथ बुद्धि का सम्बन्ध रहता है । फलतः मन के भौतिक आवरण से बुद्धि भी मलिन होजाती है । मलिन बुद्धि से बुद्धियुक्त महानात्मा का सत्त्वभाग मलिन होजाता है । महान् पर षोडशीपुरुषरूप आत्मा प्रतिष्ठित है । मलिनसत्त्व की कृपा से आत्मा का विद्याभाग मलिन होजाता है, यही दुःख का मूल है । इसका प्रधान कारण मलिनबुद्धि है । बुद्धि के आभ्यन्तर भाग में (इस ओर) आत्मा है, बाह्य भाग में (उस ओर) विषय हैं । विषयानुगता बुद्धि मलिन होती होती हुई आभ्यन्तर आत्मा से अयुक्त रहती है । कार्याकार्य-

*—बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ गी० (१३।१५)
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥ (उपनिषत्)

विवेकरूपा भावना नष्ट होजाती है। ऐसी अयुक्त बुद्धि बुद्धि ही नहीं है, अविद्यामात्र है। बुद्धि ज्ञानसाधिका है, ज्ञानप्रवर्तकत्व बुद्धि का स्वरूपधर्म है। जब स्वस्वरूप रक्षक ज्ञानयोग लक्षण स्वरूपधर्म ही नहीं रहा तो बुद्धि का रहना न रहने के समान है। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य नचायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ (गीता २।६६)।।

विषयानुगता बुद्धि अविद्यामयी बनकर आत्मस्वरूप को आवृत कर देती है। ऐसा ही आत्मा (मनुष्य) अकृतात्मा कहलाता है। ऐसा मनुष्य कभी सत्कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। इसे कभी आत्मविषयिणी जिज्ञासा ही नहीं होती। "आत्मा-शास्त्र-परलोक-देवता सब ढोंग हैं" ऐसे कुतर्कों की यह आश्रयभूमि बना रहता है। रहते हुए चित् (आत्मज्ञान) के आवरण से यह अचित् बन रहा है। सांसारिक विषयों को ही यह अकृतात्मा सुखसाधन समझता है। इसी अकृतात्मवर्ग के लिए 'सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः०' यह कहा गया है। ऐसे अकृतात्मा का कर्मरूप, अतएव सर्वथा एजदूरूप (परिवर्तनशील क्षणिक) विश्व ही प्रधान आराध्य है।

ठीक इसके विपरीत जिन्होंने विद्यासमुचित निष्काम कर्म द्वारा आवरणों का हास करते हुए प्रवृद्ध ज्ञानाग्नि से सैंचित आवरणों को नष्ट करते हुए विशुद्ध बुद्धियोग प्राप्त कर लिया है, ऐसे सिद्धावस्थापन्न योगी कृतात्मा हैं, यही युक्तयोगी हैं। इनकी दृष्टि उस अनेजद् रूप मध्यभाग पर ही रहती है। एक छोर में युक्त योगी हैं, कृतात्मा हैं। दूसरे छोर में अकृतात्मा हैं। एक ज्ञानमय के उपासक हैं, शांततत्त्व के अनुयायी हैं। दूसरे कर्ममय विश्व के उपासक हैं, गतिशील क्षणिक सांसारिक विषयों में रत हैं। प्रकृत मन्त्र इन्हीं दोनों को लक्ष्य बना कर कहता है कि "जो संसारी हैं, उन की दृष्टि में वह तत्त्व चलता है। जो मुक्तात्मा हैं, उनकी दृष्टि में यह तत्त्व सर्वथा अविचाली है। अर्थात् मुक्तात्मा अनेजत् को मुख्य समझते हैं,

संसारी एजत् को प्रधान मान रहे हैं । सांसारिक के लिए यह आत्मतत्त्व दूर से दूर है, मुक्तात्मा के लिए वही समीप से समीप है । सांसारिक की दृष्टि में यह आत्मतत्त्व भीतर छुपा हुआ है, मुक्तात्मा के लिए यह प्रकट है । योगियों की दृष्टि में जो सत्य है, सामान्य मनुष्यों की दृष्टि में वह असत्य है । सामान्य मनुष्यों की दृष्टि में जो सत्य है, योगी उसे मिथ्या समझ रहे हैं । एक ज्ञानमय ब्रह्म के अनुयायी ब्राह्मण हैं, एक कर्ममय श्रमरूप विश्व के अनुयायी श्रमणक हैं । एक आस्तिकवर्ग है, दूसरा नास्तिकवर्ग है । एक विशुद्धकर्म के अनुयाई कर्मठ हैं, दूसरे विशुद्ध ज्ञान के अनुयायी ज्ञानी हैं । एक सांख्यमतानुयायी हैं, दूसरे योगमतानुयायी हैं । इस प्रकार 'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ' के अनुसार लोक में दो विभिन्न निष्ठाएं प्रचलित हैं ।

१–तदेजति →——अकृतात्मनेऽविदुषे कर्मणि दृष्टिः (विश्वानुयायी)–कर्म } १
२–तन्नैजति→——कृतात्मने विदुषे ब्रह्मणि दृष्टिः (आत्मानुयायी)–ब्रह्म

—०—

१–तद्दूरे →——अकृतात्मनेऽविदुषे कर्मणि दृष्टिः (विश्वानुयायी)–कर्म } २
२–तद्वन्तिके→——कृतात्मने विदुषे ब्रह्मणि दृष्टिः (आत्मानुयायी)–ब्रह्म

—०—

१–तदन्तरस्य सर्वस्य→अकृतात्मनेऽविदुषे कर्मणि दृष्टिः (विश्वानुयायी)–कर्म } ३
२–तदुसर्वस्य बाह्यतः→कृतात्मने विदुषे ब्रह्मणि दृष्टिः (आत्मानुयायी)–ब्रह्म

—०—

सर्व विदित इन दोनों निष्ठाओं के भेदवाद का निराकरण करती हुई श्रुति कहती है कि दोनों को पृथक् समझना अज्ञान है। वही विश्व है, वही विश्वात्मा है । वही एजत् है, वही अनेजत् है । वही दूर है, वही समीप है । वही सबके भीतर है, वही सब के बाहर है । अर्थात् ब्रह्मगर्भित कर्मभाग से यह चल है, कर्मगर्भित ब्रह्मभाग से यह अचल है । अ० ग० कर्मदृष्ट्या यह दूर है, क० ग० ब्रह्मदृष्ट्या यह समीप है । ब्र० ग० कर्मदृष्ट्या यह भीतर प्रतीत

होता है, क० म० मत्पष्टया वही सर्वत्र प्रत्यक्ष है। ब्रह्म भी वही है, कर्म भी वही है। वही ज्ञान है, वही योग है। जो ज्ञानयोग है, वही कर्मयोग है– "एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स (एव नातिरिक्तभावं) पश्यति–(नान्यो भेददर्शी)"। द्वितीय अर्थ में इसी भाव का स्पष्टीकरण है।

१



तीसरे हैं विवेकात्मा। जिस प्रकार कर्मठ प्रकृतात्मा, एवं ज्ञानी कृतात्मा कहलाते हैं, एवमेव उपासक को विवेकात्मा कहा जाता है। सिद्ध–साध्य दोनों अवस्थाओं से पृथक् लौकिक कर्मों में रत प्रकृतात्मा है, साध्यदशा से युक्त मनुष्य विवेकात्मा है इसी को 'युञ्जानयोगी' 'आरुरुक्षु' 'जिज्ञासु' इत्यादि शब्दों से व्यवहृत किया जाता है। सिद्धदशा में वही विवेकात्मा कृतात्मा कहलाने लगता है। इसी को–'युक्तयोगी' 'कृतकृत्य' आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है। परम वैदिक शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्यश्री ने इन्हीं उक्त तीन विभागों को मर्यादिक: जीव, प्रवाहिकजीव, पुष्टजीव भेद से इन नामों से व्यवहृत किया है। कृतात्मा पुष्टयोगी (जिनपर भगवान् का अनुग्रह हो चुका है) पुष्टजीव कहलाते हैं–"भगवदनुग्रहः पोषः"। जन्ममरणप्रवाह में इतस्ततः भटकने वाले शास्त्रविमुख यथाजात जीव–'प्रवाहिक' कहलाते हैं। यही प्रकृत प्रकृतात्मा है। एवं भगवदनुग्रहरूप पुष्टिभाव की प्राप्ति के लिए जो शास्त्र-मर्यादा का अनुगमन करते हुए सिद्धावस्था को प्राप्त करने में यत्नशील बने रहते हैं, वे ही 'मार्यादिकजीव' हैं। भगवदनुग्रहरूप पुष्टजीव के सम्बन्ध से ही उक्त सम्प्रदाय 'पुष्टिमार्ग' नाम से प्रसिद्ध है।



१–कृतात्मा—(युक्तयोगी) — सिद्धावस्थापन्न——पुष्ट — (मनोमयमार्ग)–ज्ञानी

२–विधेयात्मा (युञ्जानयोगी) — साधनावस्थापन्न ——माध्यमिक (प्राणमयमार्ग)–उपासक

३–अकृतात्मा (यथाजात मनुष्य) लक्ष्यच्युतावस्थापन्न–प्राथमिक (वाङ्मयमार्ग)–कर्मठ

—०—

उपासना मध्य की वस्तु है। इस में ज्ञानकर्म दोनों का समन्वय है। इसी को बुद्धियोग कहा जाता है, जिस का कि दिग्दर्शन प्रथमार्थोपसंहार में कराया जाचुका है। ब्रह्म पर दृष्टि रखते हुए कर्म करना ही बुद्धियोग है। ब्रह्म अकर्म है, कर्म कर्म है। अकर्म में कर्म समझिए, कर्म में अकर्म समझिए। कर्म को अकर्म में प्रतिष्ठित समझते हुए कर्म करने से कर्मजनित बन्धनमूला आसक्ति नहीं होती। ऐसा कर्म अबन्धन होता है। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं–

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ (गी० ५।१०)।

उक्त दृष्टि से कर्ममार्ग में प्रवृत्त होनेवाला पुरुषश्रेष्ठ ही 'विधेयात्मा' कहलाता है। इस की दृष्टि दोनों पर है। कर्मदृष्टि से वह उसे एजत्, चर, अन्त प्रविष्ट समझता है, ब्रह्मदृष्टि से वह उसी को अनेजत्–समीप–सर्वत्र व्याप्त समझ रहा है। इस अभिन्नभावना से आगे जाकर विधेयात्मा–'यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' इस श्रुति का अधिकारी बनता हुआ सिद्धावस्था पर पहुच जाता है। रागद्वेष नष्ट हो जाता है, अद्वैतमूलक ब्रह्मानन्द प्राप्त हो जाता है। प्रकृत मन्त्र इसी भाव का निरूपण करता है।

षोडशी पुरुष का अमृतप्रधान विद्याभाग संसार में स्थितिरूप से, एवं कर्मभाग गतिरूप से प्रत्यक्ष दृष्ट है। विश्वदृष्ट्या वह स्थितिरूप है, आत्मदृष्ट्या वह क्रिया–कर्ममय है। स्थिति गतिसमष्टि 'युजुर्वेद' है। तदवच्छिन्न, अतएव वेदमूर्त्ति नाम से प्रसिद्ध षोडशीब्रह्म स्थितिगतिरूप से ही विश्व में व्याप्त होरहा है, जैसा कि 'अनेजदेकम्०' इत्यादि मन्त्रभाष्य में विस्तार से

बतलाया जाचुका है । यद्यपि स्थितिगतिभाव तमःप्रकाशवत् परस्पर में अत्यन्त विरुद्ध हैं, फिर भी दोनों का एक ही बिन्दु पर समन्वय होरहा है । कैसे ? इसके लिए उसी पूर्व परिचित प्राजापत्यचक्र (कुम्हार के चाक) पर दृष्टि डालिए । कुम्भकार के हस्तबलरूप इन्द्र के विक्षेपण द्वारा दण्ड के आघात से स्थिर कीलक पर प्रतिष्ठित रहता हुआ चक्र प्रबल वेग से घूमने लगता है । परमाणु परमाणु गतिशील हैं । इस प्रकार यह चक्र घन्टों चलता रहता है । परन्तु आश्चर्य है कि घन्टों चलते रहने पर भी वह अपने नियत स्थान से बिन्दुमात्र भी आगे नहीं चलता । हम जब भी चक्र को देखते हैं, उसी नियत स्थान पर पाते हैं । चल रहा है, इस लिए तो चक्र 'एजति' है । साथ ही में स्थानत्यागलक्षण स्थितिविच्युतिरूप गतिफल के अभाव से-'नैजति' यह भी मानना पड़ता है । इस प्रकार दोनों विरुद्ध धर्म एक ही चक्र में समा रहे हैं । एक मनुष्य अपने घर से दस मिनिट में विक्टोरिया गार्डन पहुंचता है । यदि वह स्थान पर ही खड़ा रहता तो उसे गतिशील नहीं कहा जासकता था । अपने स्थान से हटने पर ही उसके लिए-'गच्छति' (जाता है) का प्रयोग होता है । एक मनुष्य अपने स्थान पर ही खड़ा हुआ हाथ हिला रहा है । इसके लिए लोक में-"अमुक मनुष्य अपने स्थान पर खड़ा हुआ निरन्तर हाथ हिला रहा है" यही तो कहा जाता है । यहीं आप स्थिति-गति दोनों भावों का प्रत्यक्ष कर सकते हैं । मनुष्य बिलकुल नहीं चल रहा है, इसलिए 'नैजति' का समन्वय है । अवयवरूप हाथ चल रहा है, इसलिए 'एजति' का समन्वय है । समुदाय स्थिर है, अवयव चल हैं । दोनों विरुद्ध धर्मों का आश्रय एक ही मनुष्य है । यही परिस्थिति यहां पर समन्वित । अक्षरचक्र ज्ञानमूर्त्या सर्वथा 'नैजति', ज्ञप्ति से सर्वथा अचल । कर्ममूर्त्या सर्वथा 'एजति'—यत्रूप से सर्वथा चल । चलाचल की समष्टि ही ईश्वर है-'तदेजति तन्नैजति' ।

कुम्भकार का चक्र घूम रहा है, उसे आप देख रहे हैं । घूमते हुए चक्र की जो बिन्दु अभी अभी आपके सामने थी, वोजिए पलक मारते ही वह दूर से दूर उस छोर में चली गई, एवं जिस चक्रबिन्दु को आप अपने से दूर समझते थे, वह अभी अभी इसी छोर में आपके समीप आगई । सचमुच प्रतिबिन्दु दूर से दूर है, समीप से समीप है-'तद्दूरे तद्वन्तिके' ।

· घूमता हुआ चक्र गतिशील अपने परमाणुओं के भीतर से भीतर है, बाहर से बाहर है। बाहर भीतर जिधर देखो उधर चक्र ही चक्र है। पूर्वोक्त शुभ्रब्रह्म भी ऐसा ही है—'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः'। वस्तुतस्तु कुम्भकार के लौकिक चक्र के साथ अलौकिक ब्रह्मचक्र की तुलना करना सर्वथा असंगत है। वह गतिस्थिति तो—'रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव' के अनुसार अनुपमेय (ला सानी–अद्वितीय) है। जितनी स्थिरता आप समझ सकते हैं, वह उससे भी शीघ्रतम है। आपके लिए वह अचिन्त्य है, अप्रमेय है, अनिर्वचनीय है। एकमात्र तटस्थ लक्षण से आप उसे जानसकते हैं। "उस की गतिस्थिति ऐसी होगी, अमुक के सदृश होगी" इस प्रकार उसका स्वरूप लक्षण करलेना आपके लिए सर्वथा असंभव है।

विशुद्ध आत्मापेक्षया ब्रह्म स्थिर है, विशुद्ध कर्मापेक्षया चर है। वेददृष्ट्या जु-अवच्छिन्न ब्रह्म स्थिर है, यदवच्छेदेन चर है। वह स्थितितत्त्व उस गतितत्त्व के बाहर भीतर सब ओर व्याप्त है। यद्यपि स्थितिवत् गति भी स्थिति के बाहर भीतर सब ओर विद्यमान है, परन्तु दोनों में स्थितिरूप रसतत्त्व ही प्रधान है। अतएव 'तत्–तत्' इस रूप से उसीको बाहर–भीतर–दूर–समीप बतलाया गया है। स्थिति आधार है, गति आधेय है। आधार की प्रधानता से भी उसी का अन्तरान्तरीभाव मानना उचित होता है। अपि च ब्रह्मरूप स्थितितत्त्व कारण है, विश्वरूप गतितत्त्व कार्य है। कारण प्रथमसत्ताक है, इसलिए भी अन्तरान्तरीभाव में श्रुति ने तत् शब्दवाच्य ब्रह्म को ही प्रधानता दी है। स्थिति आधार है, गति आधेय है, इसका यह अर्थ नहीं है कि पुस्तक मेजपर रक्खी है। टेबिल पुस्तक का आधार अवश्य है, परन्तु टेबिल पुस्तक के नीचे के भागमात्र से संश्लिष्ट है। पुस्तक के बाहर भीतर टेबिल नहीं है। परन्तु यहां का आधाराधेयभाव ऐसा नहीं है। यहां यदवच्छेदेन स्थिति है, तदवच्छेदेन गति है। पानी में संश्लिष्ट शर्कराखण्ड जैसा आधाराधेयभाव है। पानी आधार है, शर्करा आधेय है। परन्तु दोनों मिलकर एकरूप बन रहे हैं। पानी के परमाणु परमाणु में शर्करा व्याप्त है, शर्करा के अंश प्रत्यंश में पानी व्याप्त है। यदवच्छेदेन पानी व्याप्त है, तदवच्छेदेन शर्करा व्याप्त है। ऐसा ओतप्रोतभावात्मक आधाराधेयभाव ही प्रकृत में अभिप्रेत है।

सिंहावलोकनदृष्ट्या एक बार पुनः षड्विकल्प सम्बन्ध पर दृष्टि डालिए। इन ६ ओं सम्बन्धों में पहिले दो सम्बन्ध एक श्रेणि के हैं। इन्हें हम 'ओतप्रोतभावसम्बन्ध' कह सकते हैं। तीसरा भेद सम्बन्ध है, चौथा अभेद सम्बन्ध है, पांचवा भेदाभेद सम्बन्ध है। भेद-अभेद-भेदाभेद इत्यादि पाचों सम्बन्ध परस्पर में सर्वथा विरुद्ध हैं। एक ही तत्व में अनेक (विरुद्ध) सम्बन्ध हो नहीं सकते, परन्तु होरहे हैं। यही इस ब्रह्म-कर्म सम्बन्ध की अनिर्वचनीयता है। यही 'ब्रह्म वस्तु' किंवा 'ब्रह्म धाम' नाम का छठा अनिर्वचनीय सम्बन्ध है।

१–ब्रह्म कर्म में अनुप्रयुत है। (ब्रह्म कर्मस्थम्)
२–कर्म ब्रह्म में प्रतिष्ठित है। (कर्म ब्रह्मस्थम्) } ——→ ओतप्रोतभावसम्बन्ध

३–ब्रह्म कर्म दोनों परस्पर भिन्न हैं (ब्रह्मकर्मणी भिन्ने) ——→ भेदसम्बन्ध

४–ब्रह्म ही कर्मरूप में परिणत हो रहा है (ब्रह्मैव कर्म) ——→ अभेदसम्बन्ध

५–ब्रह्म कर्म से भिन्न है, कर्म ब्रह्म ही है। (ब्रह्म कर्मतः पृथक्, कर्म नपृथक्) ——→ भेदाभेदसम्बन्ध

६–दोनों का सम्बन्ध अनिर्वचनीय है। (ब्रह्मणि कर्मा-ध्यस्तम्) ——→ अनिर्वचनीयसम्बन्ध

'तदेजति' इत्यादि मन्त्र उक्त ६ ओं सम्बन्धों में से 'ब्रह्म कर्मस्थम्' इस प्रथम सम्बन्ध पर प्रधान दृष्टि रखता हुआ 'कर्म ब्रह्मस्थम्' इस द्वितीय सम्बन्ध का निरूपण करता है। प्रधानापेक्षया प्रकृत मन्त्र को प्रथम सम्बन्ध का निरूपक माना जासकता है—(देखिए ई० वि० भा० पृ० सं० द्वि० सं० १३६), एवं गौणदृष्टया इसे द्वितीय सम्बन्ध का प्रतिपादक मानते हुए सम्बन्धद्वयीरूप ओतप्रोतभाव का दिग्दर्शन माना जासकता है। मन्त्र में सर्वत्र "तत्—तत्" का उल्लेख है। "वह चलता है, वह नहीं चलता है, वह दूर है, वह समीप है, वह भीतर है, वह बाहर है" इस प्रकार प्रतिवाक्य के साथ तत् शब्दवाच्य ब्रह्म की ही प्रधानता है। ब्रह्म कर्म में

'ओत' हो रहा है। साथ ही में एजति, दूरे,सर्वस्य वाह्यतः, इत्यादि वाक्य 'कर्म में ब्रह्म में ओत है' इस द्वितीय सम्बन्ध की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। मन्त्र का 'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः' यह उत्तर भाग ही सम्बन्ध का निरूपण करता है। वस्तुतः इस मन्त्र का प्रधान लक्ष्य पूर्व के 'अनेजदेकम्' मन्त्र में बतलाए गए ब्रह्मकर्मात्मक शुक्रस्वरूप का ही 'तदेजति तन्नैजति' इत्यादि रूप से स्पष्टीकरण है। मन्त्रों में जामिता (पुनरुक्ति) दोष नहीं माना जाता। ऐसी अवस्था में निष्कर्ष यह निकला कि 'तदेजति०' इत्यादि मन्त्र तो पूर्व मन्त्रप्रतिपादित अर्थ का स्पष्टीकरण करता है, एवं 'यस्तु सर्वाणि भूतानि' 'यस्मिन्त्सर्वाणि भूतानि०' इत्यादि दो मन्त्र ब्रह्मकर्म के सम्बन्ध का प्रतिपादन करते हैं। इन दोनों उत्तर मन्त्रों में 'यस्तु सर्वाणि०' यह ६ ठा मन्त्र तो आरम्भ के-'ब्रह्म कर्मस्थम्—कर्म ब्रह्मस्थम्' इन दो सम्बन्धों का निरूपण करता है, एवं 'यस्मिन्त्सर्वाणि०' इत्यादि मन्त्र 'ब्रह्मैव कर्म' इस चौथे अभेद सम्बन्ध का प्रतिपादन करता है।

५



आत्मा ब्रह्म है, इस का यह अर्थ नहीं है कि उसमें कर्म नहीं है। विश्व कर्म है, इस का यह तात्पर्य नहीं है कि इस में ब्रह्म नहीं है। दोनों में दोनों हैं, दोनों दोनों हैं। केवल प्रधानता अप्रधानता में तारतम्य है। आत्मा में ब्रह्म (ज्ञान) भाग प्रधान है, इसलिए उसे ब्रह्म कहा है। विश्व में कर्म प्रधान है, इसलिए इसे कर्म कहा है। आत्मा ज्ञानप्रधान होता हुआ सुसूक्ष्म है। इस का चर्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष नहीं होता। भौतिक विश्व ही दृष्टि का विषय बनता है। पहिले हमारी दृष्टि स्थूल विश्व पर, दूसरे शब्दों में कर्मभाग पर जाती है, अनन्तर (विज्ञानद्वारा) तदन्त-प्रविष्ट आत्मतत्त्व पर दृष्टि जाती है। इसी स्थूल—सूक्ष्मभाव के क्रम को प्रधान मानकर स्थूलारु-

न्धतिन्याय से प्रकृत मन्त्र पहिले कर्म को ब्रह्म में अनुस्यूत बतलाता है, अनन्तर ब्रह्म को कर्मस्थ बतलाता है । इन्हीं दोनों सम्बन्धों का निरूपण करता हुआ निम्नलिखित मंत्र हमारे सामने आता है—

यस्तु सर्वाणि भूतानि–आत्मन्येवानुपश्यति (कर्म ब्रह्मस्थम्)
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते । (ब्रह्म कर्मस्थम्)

(ईशोपनिषत् ६ मन्त्र)

मन्त्र का पूर्वार्द्ध 'कर्म ब्रह्मस्थम्' इस द्वितीय सम्बन्ध का, एवं उत्तरार्द्ध–'ब्रह्म कर्मस्थम' इस प्रथम सम्बन्ध का निरूपण करता है । 'सर्वाणि भूतानि' कर्म है, 'सर्वभूतेषु चात्मानं' ब्रह्म है। जो (आत्मतत्ववेत्ता) सम्पूर्ण भूतों (विश्व) को आत्मा (ब्रह्म) में ही अनुगत देखता है एवं सारे भूतों में आत्मा को प्रतिष्ठित समझता है, वह कभी किसी से घृणा नहीं करता" यह है मन्त्र का अक्षरार्थ ।

जैसा कि प्रकरण के आरम्भ में बतलाया गया है, उक्त मंत्र दोनों सम्बन्धों का निरूपण करता हुआ प्रधानरूप से 'कर्म ब्रह्मस्थम्' इस दूसरे सम्बन्ध का ही निरूपण करता है । 'यस्तु सर्वाणि भूतानि' 'सर्वभूतेषु' इत्यादि रूप से भूत भाग को ही प्रधानता दी गई है । 'तदेजति' इत्यादि मन्त्र 'तत्' रूप से जहां ब्रह्म को प्रधान मान रहा है, वहां यह मन्त्र भूत-भाग को प्रधान लक्ष्य बना रहा है । प्रत्यक्–पराक् भेद से ब्रह्म के दो विवर्त हैं । प्रत्यग्ब्रह्म 'अहम्' है, पराग्ब्रह्म 'त्वम्' है । एक अस्मत्शब्दवाच्य विषयी ब्रह्म है, दूसरा युष्मत्पद-वाच्य विषय ब्रह्म है। विषयी प्रत्यक् है, विषय पराक् है, बाहर है । युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचर विषय विषयी तमःप्रकाशवत् परस्पर में अत्यन्त विरुद्ध हैं । प्रत्यग्ब्रह्म ज्ञानप्रधान है, पराग्ब्रह्म कर्मप्रधान है । हम और विषय यही दोनों क्रमशः प्रत्यग् पराग् ब्रह्म हैं । हम (आत्मा) भीतर हैं, विषय बाहर हैं । हम ज्ञानप्रधान हैं, विषय कर्मप्रधान हैं । ज्ञान प्रकाश है, ज्योति है ।

कर्म अप्रकाश है, आवरण है। इस प्रकार लौकिक मनुष्यों की दृष्टि में दोनों ब्रह्म परस्पर में अत्यन्त विरुद्ध हैं। यह विरुद्ध दृष्टि ही निन्दास्तुतिभाव की जननी है। स्तुतिभाव का आत्मीयता से सम्बन्ध है। निन्दाभाव का परभाव (अनात्मीयता) से संबंध है। संसार (संसारी मनुष्य) अपने की ओर अनुगत रहता है, पराए की ओर विमुख रहता है। अनात्मीय वस्तु से घृणा करता है, आत्मीय से प्रेम करता है। विष्ठा से मनुष्य घृणा करता है, क्योंकि इस की दृष्टि में यह अनात्मीय है। इस प्रकार कर्मरूप विषय, एवं ब्रह्मरूप आत्मा को भिन्न भिन्न समझने वाला मनुष्य संसार में कितनों ही से राग करता है, कितनों ही से द्वेष करता है। अनुकूल वेदनीयता में रागका, प्रतिकूल वेदनीयता में द्वेषका उदय है। दोनों में बंधनमूला आसक्ति है। आसक्ति दुःख का कारण है। स्तुति भी शोक का कारण है, निन्दा भी शोक का कारण है। यह निन्दा-स्तुतिभाव तभी तक रहता है, जब तक कि आत्मा और विषयों में भेदबुद्धि रहती है। द्वेष तभी तक है, जब तक कि वह उसे अनात्मा (अपने से भिन्न) समझता है। एवमेव स्तुति भी परभाव से ही सम्बन्ध रखती है। यदि उसे यह विदित होजाय कि मैं उसमें हूं, वह मुझमें है, हम दोनों एक ही चणक के द्विदल हैं, मेरा स्वरूप उस पर प्रतिष्ठित है, वह मुझ में प्रतिष्ठित है तो ऐसी परिस्थिति में रागद्वेषमूलक स्तुतिनिन्दाभाव का अवसर ही नहीं आता। जब दोनों एक दूसरे की प्रतिष्ठा हैं तो कौन बड़ा, कौन छोटा, कौन निन्द्य, कौन स्तुत्य, कौन निंदक, कौन स्तोता। इसी निन्दामूलक कुत्सितभाव का निराकरण करती हुई, ब्रह्मकर्म दोनों में परस्पर अनुग्राह्य अनुग्राहकता का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है कि- "तुम सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में समझो, एवं सम्पूर्ण भूतों में आत्मा को समझो। धर्मरूप विश्व के ज़र्रे ज़र्रे में अकर्मरूप ब्रह्म को व्याप्त समझो, एवं ब्रह्म में सर्वत्र कर्म को अनुस्यूत समझो। यदि तुम आत्मा और विश्व के इस ओतप्रोतसम्बन्ध को व्यवसायबुद्धि से समझ गए तो तुम्हारा शोकमूलक निन्दास्तुतिभाव से सदा के लिए छुटकारा होगया-'ततो न विजुगुप्सते'। स्तुतिभाव से आत्मा में क्षोभ का उदय होता है। यह क्षोभ ही अशान्ति का कारण बनता हुआ आत्मपतन का प्रवर्तक बनता है। निन्दा द्वेषमूला है, स्तुति रागमूला है। एवं पूर्व कथनानुसार रागद्वेष का अपने पराए से

सम्बन्ध है। जहां—'यह अपना है, वह पराया है' यह भाव है, वहीं रागद्वेष है। दोनों ही मोह के उत्पादक हैं। जब तक भेद बुद्धि है, तब तक रागद्वेष है। जबतक रागद्वेष है, तब तक मोह है। जबतक मोहमिश्रित बुद्धि है, तब तक बुद्धि कलुषित है। कलुषित बुद्धि ध्यानशून्या है। ध्यानशून्या बुद्धि निर्बल बनती हुई, मन पर अधिकार रखती हुई मन की सबलता का कारण बन जाती है। सबल मन सङ्गदोषरूप आसक्तिभाव का प्रवर्त्तक है। आसक्ति कामना की जननी है। कामना क्रोध का कारण है। क्रोध संमोह का पिता है। संमोह स्मृतिभ्रंश का जनक है। स्मृतिभ्रंश बुद्धिनाश का कारण है। बुद्धिनाश आत्मपतन का कारण है। यही आत्मघात है, जिसका कि पुरुषात्माधिकरण के आवरणतन्त्र में विस्तार से निरूपण किया जा-चुका है'। इस आपत्ति से बचने का उपाय है—बुद्धि की स्वरूपरक्षा। तदर्थ रागद्वेषमूलक मोह का परित्याग अपेक्षित है। तदर्थ रागद्वेषमूलक ब्रह्म-कर्म की विजातीयता का परित्याग आवश्यक है। तभी परम शान्ति मिल सकती है।

ज्ञान-कर्म को मिलाकर देखिए, तभी आनन्द है। ज्ञान की कर्म में उपासना कीजिए, कर्म की अकर्मरूप ज्ञान में उपासना कीजिए। ज्ञानपूर्वक कर्म कीजिए, कर्म को ज्ञान के आश्रित बनाइए, कर्मद्वारा ज्ञानसंपत्ति प्राप्त कीजिए। यही बुद्धिमानी है, इसी को बुद्धियोग कहते हैं। यही निःश्रेयसपन्था है। इसी श्रौतार्थ का स्पष्टीकरण करती हुई स्मार्त्ती उपनिषत् कहती है—

कर्मण्यकर्म यः पश्येद्, अकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ (गी० ४। १८)

६



पूर्व कथन से साधारण मनुष्यों को द्वैत का भ्रम हो सकता है। "कर्म को ब्रह्म में देखो, ब्रह्म को कर्म में देखो" यह अक्षर ब्रह्म-कर्म इन दो तत्त्वों की सत्ता सिद्ध करते हुए

प्रतीत हो रहे हैं। जब तक द्वैत है, तबतक काम है, जबतक कम्प है, तबतक भय है— 'द्वितीयाद् वै भयं भवति'। जबतक भय है, तबतक अशान्ति है–'अशान्तस्य कुतः सुखम्'। पूर्वनिरूपणशैली से किसी को द्वैत का भ्रम न हो जाय, बस अशान्तिमूलक इसी द्वैतभ्रम का उन्मूलन करती हुई श्रुति कहती है—

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि, आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥
(ईशोपनिषत् ७ मन्त्र)

अभ्यास द्वारा बुद्धियोग (निष्काम कर्मयोग) का साधन करते करते जिस समय आत्म-साक्षात्कार हो जाता है, उस समय उस युक्त योगी के लिए सारा प्रपञ्च आत्मा ही बन जाता है। ऐसी अवस्था से युक्त उस ज्ञानी के लिए कहां शोक है, कहा मोह है। 'यदुदरमन्तरं कुरुते, अथ भयं भवति" के अनुसार जबतक द्वैत है तभीतक भय है। एकत्व व्यापकता का मूल है। व्यापकता में कम्प नहीं है। एक वस्तु का अन्य स्थान की ओर झुकना ही तो कम्प है। व्यापकतत्व से अतिरिक्त कोई स्थान नहीं है, जहां कम्पन को अवकाश मिले। ऐसी परिस्थिति में आत्मा में स्थानच्युतिरूप भय कैसे हो सकता है। 'इदं वा इदं वा' इस नानाभाव से मोह होजाता है। चित्त का वैचित्र्य ही मोह है। मोह से विवेकशक्ति नष्ट हो जाती है। कार्याकार्यविवेकता मारी जाती है। इस प्रकार मोह के साथ साथ ही शोक का उदय होजाता है। इस शोक-मोह से छुटकारा पाने का उपाय है–अद्वैतभाव की उपासना। इसी से मोहकलिल का नाश होगा। बुद्धि में विद्या का उदय होगा, तभी शोकनिवृत्ति होगी, जैसा कि स्मृति कहती है—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥ (गी० २।५२)

श्रुति का तात्पर्य यही है कि ब्रह्म-कर्म दो विवर्त्त हैं। भाति दो हैं, सत्ता एक है, इसलिए परमार्थतः अद्वैत है। सत्ताभेद ही द्वैत का कारण बनता है। श्रुति का 'विजानतः' शब्द बड़ा चमत्कार रखता है। 'जानतः' नहीं कहा, 'विजानतः' कहा है। "ब्रह्म व्यापक है, आत्मा एक है, कहीं भेद नहीं है" इस प्रकार केवल शब्दज्ञान 'जानतः' से सम्बन्ध रखता है। वास्तविक अनुभूततत्त्वज्ञान का 'विजानतः' से सम्बन्ध है। श्रुति कहती है कि तुमने सारी उपनिषदें पढ़लीं, जीवन भर 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' 'आत्मैवेदं सर्वं-नेह नानास्ति किञ्चन' का पारायण किया, परन्तु इस कोरे वाचिक ज्ञान से (शब्दश्रवणमात्र से) तुम्हें तबतक कदापि शान्ति नहीं मिल सकती, जबतक कि तुम यथार्थरूप से उस ज्ञान पर प्रतिष्ठित न हो जाओ। जैसे पानी को तुम पानी समझ रहे हो, अग्नि को अग्नि समझ रहे हो, इसी प्रकार कोरे शब्दज्ञान को छोड़कर जिस दिन तुम अन्तरात्मा से अद्वैततत्त्व पर विश्वास कर लोगे, तभी शोक-मोह से छुटकारा होगा। नहीं तो–'फलौ वेदान्तिनः सर्वे' यह वाक्य प्रसिद्ध है ही। जानना सामान्य ज्ञान है, इस का मन से सम्बन्ध है। विशेषरूप से–कार्यकारणसम्बन्ध परिज्ञानपूर्वक जानना विशेषज्ञान है। विशेषरूप से जानना यथार्थ जानना है। इस विजानन का बुद्धि से सम्बन्ध है। 'इदमित्थमेव' यह विश्वास बुद्धि से ही होता है। श्रद्धा करना जहां मन का काम है, विश्वास करना बुद्धि का काम है। बुद्धियोग ही आत्मा के विद्याभाग में प्रसादगुण का उदय करता हुआ शोक-मोह निवृत्ति का कारण बनता है। "पूर्व के मन्त्र में द्वैतसम्बन्ध का निरूपण हुआ, एवं प्रकृतमन्त्र अद्वैतसम्बन्ध का निरूपण कर रहा है" इस में विरोध नहीं समझना चाहिए।

उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥ (वाक्यपदी)

इस शिक्षासिद्धान्त के अनुसार अधिकारी भेद से श्रुतिने द्वैत-अद्वैत दोनों भावों का क्रमिक निरूपण किया है। ब्रह्म-कर्म को सभी पृथक् पृथक् समझते आरहे हैं। पहिले श्रुति उस आत्यन्तिक भेदबुद्धि का निराकरण करती है। श्रुति कहती है कि जिन को तुम सर्वथा भिन्न

समझ रहे हो, विश्वास करो वे दोनों तत्त्व मात्या पृथक् पृथक् प्रतीत होते हुए भी परमार्थतः अपृथक् है, दोनों में दोनों अनुस्यूत हैं। जब अधिकारी इस प्रथम श्रेणि में उत्तीर्ण होजाता है तो आगे जाकर—'यस्मिन्सर्वाणि भूतानि' इत्यादि रूप से श्रुति रहे सहे भेद का भी निराकरण कर देती है। प्रातिभासिक द्वैत से व्यावहारिक द्वैत पर लाती है। अन्ततोगत्वा पारमार्थिक अद्वैत पर पहुंचा देती है। इस प्रकार प्रकृतमन्त्र 'ब्रह्मैव कर्म' इस चतुर्थ सम्बन्ध का निरूपण करता हुआ ब्रह्म-कर्म के अभेद सम्बन्ध का ही दिग्दर्शन कराता है।

७

इति ब्रह्म-कर्मणोः सम्बन्धाधिकारः





प्राकृतात्माधिकरणे—

अव्यक्तात्माधिकरणं समाप्तम्

१





महत्स्वरूपनिदर्शन —

१— वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ (यजुः ३१।१८)।

२— अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे ।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥ (यजुः ३१।१७)।

३— तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥ (यजुः ३२।१)।

४— क इमं वो निण्यमा चिकेत वत्सो मातॄर्जनयत स्वधाभिः ।
बह्वीनां गर्भो अपसामुपस्थान् महान् कविर्निश्चरति स्वधाभिः ॥ (ऋ० १।९५।४)।

५— महाँ असि महिष वृष्ण्येभिर्धनस्पृदुग्र सहमानो अन्यान् ।
एको विश्वस्य भुवनस्य राजा स योधया च क्षयया च जनान् ॥ (ऋ० ३।४६।२)।

६— नि वेवेति पलितो दूत आस्वन्तर्महाँश्चरति रोचनेन ।
वपूंषि बिभ्रदभि नो वि चष्टे महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥ (ऋ० ३।५५।९)।

७— यन्त्वा जनासो अभि सञ्चरन्ति गाव उष्णमिव व्रजं यविष्ठ ।
दूतो देवानामसि मर्त्यानामन्तर्महाँश्चरसि रोचनेन ॥ (ऋ० १०।४।२)।

८— तद्वै स प्राणोऽभवन्महान् भूत्वा प्रजापतिः ।
भुजो सुजिष्या विला यत् प्राणान् प्राणयत् पुरि ॥ (शत० ७।५।१।२१)।

९— आविः सन्निहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत् समर्पितम् ।
एजत् प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम् ॥
(मुण्डको० २।२।१)।

१०— महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्वस्यैष प्रवर्त्तकः ।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः (श्वेता० ३।११)।

११— एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन् क्षेत्रे संहरत्येष देवः ।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥ (श्वेता० ५।३)।
यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत ॥ (कठ० २।१।६)।

१२— अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ (कठ० १।२।२२)।

---

* १–अग्निः, २–वायुः, ३–आदित्यः, ४–चन्द्रमाः (सोमः), ५–शुक्रं (मातरिश्वा वायुः), ६–आपः, इत्येतेषां समष्टिस्तद् ब्रह्म, स प्रजापतिः षट्कलो महानात्मा विश्वस्य पतिः ।

॥ श्रीः ॥

भूतं भविष्यत् प्रस्तौमि बहुब्रह्मैकमक्षरम्

महद्ब्रह्मै-कमक्षरम्

स वेदैतत् परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते "शुक्र"-मेतदतिवर्त्तन्ति धीराः ॥१॥
(मुण्डक ३।२।१) ।

मम योनि-र्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ २ ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद् योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ३ ॥
(गीता १४ । ३ । ४) ।





“ब्रह्मैवेदं सर्वम्” के अनुसार दृश्यमान सारा प्रपञ्च ब्रह्म है । इस के आठ अवयव हैं , एवं अष्टाक्षरछन्द को गायत्री कहा जाता है । अतएव अष्टावयव ब्रह्मरूप सर्वप्रपञ्च को हम 'गायत्रब्रह्म' कह सकते हैं, जैसा कि 'तान्येतान्यष्टौ । अष्टा-क्षरा गायत्री । गायत्रं साम । ब्रह्म उ गायत्री' (जै० उ० ब्रा० १।१।८।) इत्यादि सामश्रुति से स्पष्ट है । ब्रह्मप्रजापति (ईश्वरप्रजापति) के यह आठ अवयव अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर, विकारक्षर, विश्वसृट्, पञ्चीकृतपञ्च पञ्चजन, पुरञ्जन, पुर, इन नामों से प्रसिद्ध हैं, जिनका कि विशद निरूपण पूर्व के प्रकरणों में किया जाचुका है । ब्रह्म के इन आठों अवयवों में से प्रत्येक अवयव पञ्चकल है । इस प्रकार कलादृष्टि से ब्रह्म की

४० कलाएं होजाती हैं। इसी चत्वारिंशत्कल छन्द को "परमाविराट्" कहा जाता है। विराट् छन्द के दशिनीविराट्, विंशिनीविराट्, त्रिंशिनीविराट्, चत्वारिंशिनीविराट् (१०-२०-३०-४०) यह चार विवर्त हैं। इनमें चत्वारिंशिनी (चालीस अक्षर की) विराट् ही परमाविराट् कहलाती है। इससे बाहिर कुछ भी नहीं है। पुरुष, अन्तरङ्गप्रकृति, विकृति, विकारसंघ (विश्व) सब कुछ इस परमाविराट् के गर्भ में निविष्ट है। पुरुषात्माधिकरण के उपक्रममें परमाविराट् का स्वरूप प्रकारान्तर से बतलाया गया है—(देखिए ई०वि०भा०पृ०सं० ७०)। अनुगम सिद्धान्त के अनुसार विराट् का कई प्रकार से समन्वय होसकता है। अतएव—'एषा वै परमा विराड् यच्चत्वारिंशिनी' (तां० ब्रा० १४।१०।२) इस अनुगम* वचन के अनुसार इस का ब्रह्म की उक्त चालीस कलाओं के साथ भी समन्वय किया जासकता है। ब्रह्म ही 'सर्वम्' है। एवं 'सर्वं वै सहस्रम्' (शत० ४।६।१।१५), 'परमं सहस्रम्' (तां० ब्रा० १६।६।२) इत्यादि के अनुसार सर्वशब्द सहस्र एवं परम [अन्तिम सीमा] का वाचक है। अतएव इस परमभावरूपा, सर्वरूपा परमाविराट् को आगे जाकर ताण्ड्यश्रुतिने 'सहस्राक्षरा वै परमा विराट्' (तां. ब्रा. २५। १। ४) इत्यादि रूप से सहस्राक्षरा बतलाया है। सहस्राक्षरा का अर्थ सर्वाक्षरा ही है। गायत्र्यादि इतर सारे छन्द इस के गर्भ में प्रविष्ट हैं। कोई भी छन्द इस का धर्षण (अतिक्रमण) करने में समर्थ

* निगमसार से समन्वय रखने वाले वेदवचन निगम कहलाते हैं, पर कई अनुरूप भावों का निरूपण करने वाले वचन अनुगम कहलाते हैं। उदाहरण के लिए 'इन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः' यह वचन केवल इन्द्र का निरूपण करता हुआ निगमकोटि में प्रविष्ट है। एवं 'यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि' इत्यादि वचन अनेक भावों से समन्वय रखता हुआ अनुगम है। यहां ५-३-का उल्लेख नहीं किया गया है। सामान्यरूप से 'पांच जगह तीन तीन' यह कह दिया गया है। सृष्टिधारा में ऐसी त्रिपुटियें अनेक स्थानों में उपलब्ध हैं। उन सबका ग्रहण अभीष्ट था, अतः किसी का नाम न लेकर सामान्यरूप से 'यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि' यह कह दिया है। 'एषा वै परमा विराड् यच्चत्वारिंशिनी' यहां भी इन ४० कलाओं का निर्देश नहीं है। अतः इसे भी हम अनुगम ही कहेंगे। इसी लिए इस का अनेक स्थलों में समन्वय होसकता है।

नहीं है, यह सब से अति (अतिक्रान्त) है, अतएव इस के लिए "विराड्वा अनाधृष्टं छन्दः" (शत. ८।२।४।४।–यजुः सं. १४।९) यह कहा गया है। यद्यपि ब्रह्मरूप परमा-विराट् की इन चालीसों कलाओं का पूर्व में व्यष्टिरूप से उल्लेख करदिया गया है, तथापि समष्टिज्ञान के लिए इन का यहां भी दिग्दर्शन करादेना असंगत न होगा। एक बात और ध्यान में रखिए। विराड्ब्रह्म प्रजापति है। एवं प्रजापति का "आत्म-प्राण-पशुसमष्टिः-प्रजापतिः" यह लक्षण है। ऐसी स्थिति में इस विराट् प्रजापति में भी ३-४-१-क्रम से आत्मा-प्राण-पशु इन तीन विभागों का भोग मानना पड़ेगा। अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर-ब्रह्म के इन तीन अवयवों की समष्टि आत्मा है, विकार-विश्वसृट्-पञ्चजन-पुरञ्जन-इन चार अवयवों का संघात प्राण है, एवं पुर को पशु कहा जाता है, जैसा कि आगे के परिलेख से स्पष्ट हो जाता है।

उक्त विराड्ब्रह्म का जन्मदाता तत्व ही 'शुक्र' नाम से प्रसिद्ध है। शुक्र के सम्बन्ध से ही विराट् पुरुष चालीस कलाओं में विभक्त होजाता है। इसी सर्वोपादनभूत शुक्रब्रह्म का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्-
शाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

"कायरहित, व्रणरहित, स्नायुरहित, अतएव अकाय-अव्रण-अस्नाविर नाम से प्रसिद्ध, अतएव शुद्ध, पाप्मा से अविद्ध शुक्र के चारों ओर यह व्याप्त होगया, दूसरे शब्दों में शुक्र को चारों ओर से घेर लिया। (इस प्रकार शुक्र को चारों ओर से वेष्टित कर) कवि–मनीषी–परिभू–स्वयम्भू इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध उस तत्व नें (शुक्र द्वारा) यथा तथारूप से सदा के लिए पदार्थों का निर्माण करदिया। अर्थात् वह तत्व पहिले शुक्र को वेष्टित करता है, एवं वेष्टित शुक्र से विश्व का निर्माण

५—"स्वर्णशुक्रमुपसो वि दिद्युतः" (ऋक्सं० २।२।७)।
६—"प्रयस्वतीरीळते शुक्रमर्चिः" (ऋक्सं० ३।६।३)।
७—"इन्द्र शुक्रं पिबा सोमम्" (ऋक्सं० ३।३२।२)।
८—"वर्णामतिरच्छुक्रमासाम्" (ऋक्सं० ३।३४।५)।
९—"वयोधा दपा शुक्रं दुदुहे" (ऋक्सं० ४।३।१०)।
१०—"अविष्यानं मघवा शुक्रमन्धः (ऋक्सं० ४।२७।५।)।
११—"शुक्रं तन्वन्त आरजः" (ऋक्सं० ४।४५।२।)।
१२—"भवायत्ते भरत चारु शुक्रम्" (ऋक्सं० ५।४३।३।)।
१३—"आमूर्यो अरुहच्छुक्रम्" (ऋक्सं० ५।४५।१८।)।
१४—"शुक्रं तेऽन्यद्यजतं तेऽन्यत्" (ऋक्सं० ६।५८।१।)।
१५—"सकृच्छुक्रं दुदुहे पृश्निरूधः" (ऋक्सं० ६।६६।१।)।
१६—"तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत्" (ऋक्सं० ७।६६।१६।)।
१७—"अमुं दिवि शुक्रं ज्योतिरधारयः" (ऋक्सं० ८।१५।३०)।
१८—"शुक्रं हिरण्यमाददे" (ऋक्सं० ८।६५।१२।)।
१९—"पवमान ऋतं बृहच्छुक्रम्" (ऋक्सं० ९।६६।२४।)।
२०—"दिवि शुक्रं यजतं सूर्यस्य" (ऋक्सं० १०।७।३।)।
२१—"ज्योतिः शुक्रमसौ" (ऐब्रा० ७।१२।)।
२२—"शुक्रं हिरण्यम्" (ऐब्रा० १।७६।३।)
२३—"ज्योतिर्वै शुक्रं हिरण्यम्" (ऐब्रा० ७।१२।)।
२४—"शुक्रं ह्येतच्छुक्रेण क्रीणाति यत् सोमं हिरण्येन" (शत० ३।३।३।६।)।
२५—"तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि [आज्य !]" (शत० १।३।१।२८।यजुः १।३१)।
२६—"शुक्रा आपः" (ऐ० ब्रा० १।७।६।३)।
२७—"सत्यं वै शुक्रम्" (शत० ३।९।३।२५)।

जिन जिन प्रकरणों में उक्त रूप से शुक्र शब्द प्रयुक्त हुआ है,उन उन प्रकरणों को अपने सामने रख लीजिए, उपलब्धभाष्यों को भी थोड़ी देर के लिए उपकारक समझिए, और फिर अर्थ कीजिए। आप को विदित होजायगा कि शुक्र शब्द का अमुक अर्थ ही ऐसा है, जो सब शुक्र शब्दों में समान रूप से व्याप्त होसकता है। आरम्भ से ही चलिए। जिस 'शुक्रम्' को उपक्रमोपसंहार के बल पर 'शुक्र' मानते हुए भाष्यकारनें प्रकृत में जिसे उस अचिन्त्य निर्गुण-ब्रह्मपरक माना है, वे ही भाष्यकार स्वयं उपनिषत् में हीं 'ते शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीराः' इत्यादि रूप से पढ़े हुए 'शुक्रम्' को "शुक्रम्" ही रखते हुए कहते हैं–

> "ये ह्यकामा विभूतितृष्णाविर्जिता मुमुक्षवः सन्त उपासते, परमिव सेवन्ते, ते शुक्रं नृबीजं यदेतद् प्रसिद्धं शरीरोपादानकारणमतिवर्तन्ति धीराः, धीमन्तो न पुनर्योनिं प्रसर्पन्ति" (मुण्डक० शां० भा० ३।२।१)।

इस प्रकार यहां शुक्र शब्द से पुरुषोत्पादनभूत सुप्रसिद्ध शुक्र (वीर्य) का ग्रहण किया गया है। क्या विद्वन्मण्डली–'एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थोऽन्यत्रोपकारको भवति' इस न्याय को नहीं मानती ! यदि मानती है तो क्यों नहीं मुण्डकोपात्त शुक्र शब्द को भी अचिन्त्य ब्रह्म परक माना जाय, अथवा ईशोपात्त शुक्र शब्द को भी क्यों न उपादानकारणपरक मान लिया जाय। सर्वश्री सायणाचार्यनें वेद पर भाष्य लिखा है। सभी विद्वान् इस भाष्य का आदर करते हैं। अब देखना यह है कि उक्त ऋक्स्थलो में उपात्त शुक्र शब्द का उन्होंनें क्या अर्थ किया है?

२–"वह आदित्य अपनी रश्मियों द्वारा समस्त भूतों के सारभूत रस (शुक्र) को ऊर्ध्व (द्युलोक की ओर) लेजाता है"। (३)-"हे अग्ने! तुम्हारे (आग्नेय) शरीर का जो शुक्र (प्रज्वलित तेज) चमक रहा है"। (४)–"वह आदित्य शुक्ररूप (द्युलोक के) पय का दोहन करता है" (५)–"हे अग्ने ! आदित्य की तरह प्रकाशित शुक्ररूप आपको उषा प्रज्वलित कर रही है"। (६)–"हे अग्ने ! हविष्मती प्रजा (होता लोग) आपकी शुक्र (दीप्ति) रूप ज्वालाओं की स्तुति करती है"। (७)–"हे इन्द्र ! आप (गोदुग्ध से युक्त अत-

एव) शुक्ररूप सोम का पान कीजिए। अथवा शुकामन्थीग्रह में वर्तमान, अतएव शुक्ररूप सोम का पान कीजिए"। (८)- 'इन उपाओं के शुक्र (प्रकाश) रूप वर्णको (इन्द्र ने अपने तेज से) मद्दद्ध कर दिया" । (६)–"पानी वरसानें वाले सूर्य (वृषा) नें अन्तरिक्षरूप स्तन से शुक्ररूप पानी को दूह लिया"(१०)–'मघवा (द्युलोकस्थ सौर) इन्द्रनें आप्यायित शुक्ररूप सोम को" (११ -" शुक्ररूप (दीप्तिरूप) रज को वितत करदिया" । (१२) "हे (अध्वर्यु ! आपनें) वायु के लिए जिस वरणीय (शुक्र नाम के) दीप्त सोम का संपादन किया है" । (१३)–"जिस दीप्त पानी (शुक्र) के प्रति सूर्य चारों ओर प्रवृत्त होता है" । (१४)-"हे पूषन्! तुम्हारा एक शुक्र [शुक्ल] वर्ण है, एक कृष्णवर्ण है"। (१५)-"(वर्षाऋतु में) शुक्लरूप (शुक्ररूप) उदक अन्तरिक्ष से झरता है"। (१६)-"देवताओं का हितैषी यह (सूर्य) निर्मल (शुक्र) चक्षु उदित हुआ है" । (१७)–"हे इन्द्र! आपनें जिस समय द्युलोक में निर्मल ज्योतिर्मय सूर्य को प्रतिष्ठित किया"। [१८]- "निर्मल हिरण्यरूप चन्द्रमा का आदान करता हूं" [१९]-"पवमाननें द्युलोक में दीप्यमान श्वेतवर्ण [सूर्य] को उत्पन्न किया" । [२०]-' द्युलोक में पूजनीय सूर्यके शुक्र श्री [दीप्तिमत्मण्डल की] जैसे कोई आराधना करता है"। [२१]-"यह सूर्य ज्योतिर्मय शुक्र है" । [२२]–"यह शुक्र हिरण्य [ज्योति] है" । [२३]–"ज्योति ही शुक्ररूप हिरण्य है"। [२४]-"सो जो कि हिरण्य सुवर्णखण्ड [अशर्फी] से सोम खरीदता है, वह शुक्र से ही शुक्र खरीदता है"। [२५]-"हे आज्य !(घृत) आप तेजोमय है, शुक्र है, अमृत है" । [२६]-"पानी ही शुक्र है"। [२७]-"सत्य ही शुक्र है"। + + + +।

उपर्युक्त प्रमाणों के अनुसार स्वयं प्राचीनों के मतानुसार ही शुक्र शब्द पुरुषवीर्य[१],भुतरस[२], अग्नितेज[३], पय[४], प्रकाश[५], दीप्ति[६], सोम[७], ज्योति[८], आप[९], सोम[१०], दीप्तरज[११], दीप्तसोम[१२], दीप्तपानी[१३], शुक्लवर्ण[१४] शुक्लउदक[१५], निर्मलसूर्य[१६], निर्मलज्योति[१७], निर्मलचन्द्रमा[१८], श्वेतसूर्य[१९], दीप्तिमत्मण्डल[२०], सूर्य[२१], हिरण्यज्योति[२२], ज्योति[२३], सोम[२४], आज्य[२५], पानी[२६], सत्य[२७]–इन पदार्थों के लिए

प्रयुक्त हुआ है। इन सब का पर्यवसान द्विब्रह्मगर्भित (यजुरग्निगर्भित) पड्ब्रह्म (आप) में हो जाता है। अप्तत्त्व की अवस्था विशेष ही सोम है। सोम ही चन्द्रमा है। चन्द्रमा ही ओषधि द्वारा वीर्यरूप में परिणत होता है। "महत्तत् सोमो महिषश्चकार" (ऋक् सं० ६। ६७। ४१।) के अनुसार सोमाहुति से ही सूर्य में ज्योति का उदय होता है। सोममय सौर ज्योति ही हिरण्य है। पञ्चभूतों का मूल उपादान वही आप है, यही मूर्तो का रस है। यही गोपशु में प्रविष्ट होकर पयरूप में परिणत होता है। यह स्वयं ऋत है, परन्तु इसके गर्भ में सत्य यजुरग्नि प्रतिष्ठित है, अतः यह सत्य भी है। इन्हीं सब परिस्थितियों के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रकृत मन्त्र में प्राचीनोंने 'शुक्रम्' को 'शुक्र' परक मानते हुए जो इस का विशुद्ध आत्मपरक अर्थ किया है, यह वृद्धचरितमात्र है। वैदिक साहित्य किसी संप्रदाय विशेष का अनुचर नहीं है। यद्यपि सभी सम्प्रदायों का मूल वेदशास्त्र ही है किसी भी सम्प्रदाय को अवैदिक नहीं कहा जा सकता, तथापि "वेदशास्त्र में अमुक सम्प्रदाय का ही प्रधानरूप से निरूपण हुआ है" यह मानना प्रौढिवादमात्र है। वैदिक पदार्थों के यथानुरूप समन्वय के लिए विशुद्धदृष्टि अपेक्षित है। यदि पहले से किसी मत पर आरूढ होकर आप वेद स्वाध्याय में प्रवृत्त होंगे तो सहस्र भाष्य भी आप को वेद के यथार्थ तात्पर्य से कृतकृत्य न कर सकेंगे। कुछ समय पूर्व वृन्दावन पाठशाला के प्रधान पं० एम्बार कृष्णमाचार्य द्वारा संशोधित, एवं श्रीगोपालानन्दस्वामीविरचित उपनिषद्भाष्य प्रकाशित हुआ है। कृष्णमाचार्य अपनी प्रस्तावना समाप्त करते हुए अन्त में लिखते हैं—

"इदं तु भाष्यं सरलया शैल्या प्रवर्त्तमानं सुखेनार्थमवगमयति। विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्तमवलम्ब्यमानानामुपकारकमेतत्। यद्यप्यस्ति नाम क्वचित् क्वचिद्वा-

१ "सरल शैली से लिखा गया यह भाष्य सरलता से अर्थ ज्ञान कराता है। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का आश्रय लेने वालों के लिए यह उपकारक है। यद्यपि कहीं कहीं वाक्य योजनामें शब्दों के अर्थों में प्राचीन व्याख्याओं से नाम मात्र को भेद है, तथापि विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का कहीं अणुमात्र भी उल्लंघन नहीं हुआ है ...."। यह भाष्य सन् ३५ में निर्णय सागर प्रेस में मुद्रित हुआ है। ....।

न्वयोजनायां शब्दार्थेषु च भेदः पूर्वव्याख्यानतः, अथापि विशिष्टाद्वैतं तु न लेशतोऽप्यनिलक्ष्यते। तदिदं ग्रैणकदर्शिनां विदुषाम्-नन्दायैव स्यात्"।

क्या विशिष्टाद्वैत की पुष्टि करने के लिए ही उपनिषत् प्रकट हुए हैं ? क्या इन साम्प्रदायिक अर्थों से, जो केवल कल्पना का साम्राज्य निर्माण करने वाले चतुर शिल्पी हैं, आत्मतुष्टि हो सकती है ? यदि नहीं तो किसी भी सम्प्रदाय का आश्रय न लेते हुए आप हमारे साथ चलिए। हम आपको शुक्रविभूति के दर्शन कराते हैं। विषयारम्भ में कहा गया है कि विराड्ब्रह्म का जन्मदाता शुक्रतत्त्व है। इस शुक्रपदार्थ का सामान्य विवेचन पूर्व के शुक्राधिकार में विस्तार से किया जा चुका है। अतः यहां पिष्टपेषण की आवश्यकता नहीं है। केवल शुक्रसम्बन्धी विशेषभावों का ही दिग्दर्शन कराना पर्याप्त होगा।

शुक्र क्या पदार्थ है ? इस का उत्तर है 'उपादानकारण'। विश्व का उपादानकारण कौन है ? इस का उत्तर है-- "सृष्टिसाक्षी अव्ययपुक्त, अतएव बीजावस्थापन्न अक्षरानुगृहीत आत्मक्षर"। अव्यक्ताधिकरण में हमनें यजुर्ब्रह्मगर्भित पड्ब्रह्म को शुक्र बतलाया था, एवं यहां अव्ययाक्षरावच्छिन्न आत्मक्षर को शुक्र बतलाया जारहा है, इस में विरोध नहीं समझना चाहिए, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजावगा। चत्वारिंशिनी परमाविराट् के पूर्वोक्त आठ अवयवों का स्मरण कीजिए। उन आठों अवयवों में सातवें 'पुरंजन' नाम के अवयव की पांचों कलाएं वेद-लोक-प्रजा-वीर्य-पशु इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन में वेद नाम का पहिला पुरञ्जन ही सृष्टि का आधार है। बिना वेद के न ईश्वरसृष्टि होती है, न जीवसृष्टि। अन्तर केवल इतना है कि ईश्वरसंस्था में पहिले पुरुष है, पुरुष से विश्व का मूल वेदतत्त्व प्रादुर्भूत होता है, एवं अण्डादि में पहिले वेद उत्पन्न होता है, अनन्तर वेदद्वारा योगमाया का प्रादुर्भाव होता है। तदनन्तर पुरुष (जीवात्मा) का विकास होता है (देखिए ई. उ. वि. भा. पृ.सं. ४००) क्रममात्र में अन्तर है। परन्तु बिना वेद के प्रजापति का स्वरूप निष्पन्न नहीं होसकता, यह निश्चित है। जबतक प्रजा नहीं, तबतक प्रजापति नहीं। जब तक लोक नहीं, तब तक प्रजा

नहीं। जब तक आपोमय सुवेद नहीं, तब तक लोक नहीं। जब तक यजुर्वेद नहीं, तबतक सुवेद नहीं। इसप्रकार परम्परया वेद ही प्रजोत्पत्ति का कारण बनता हुआ 'प्रजापति' शब्द को अन्वर्थ बनाने में समर्थ होता है। तभी तो प्रजापति को वेदमूर्त्ति कहा जाता है। इस प्रजापति की ईश्वर–प्रतिमा–जीव–शिपिविष्ट भेद से चार संस्थाएं बतलाई गई हैं। इन चारों में ईश्वरप्रजापति विश्वकर्मा नाम से प्रसिद्ध है। इस विश्वकर्मा प्रजापति के समानशील-व्यसन चार अभिन्न सखा उत्पन्न होते हैं। चारों मित्र वरुण, इन्द्र, अग्नि, सोम इन नामों से प्रसिद्ध हैं। किसी समय यह पांचों पृथक् पृथक् थे। जब तक यह पृथक् पृथक् रहे, तबतक इन की विश्वनिर्माणसम्बन्धिनी कामना पूरी न हुई। फलतः इन्होंने विचार किया कि ऐसे काम नहीं चल सकता। अपनें को परस्पर में मिलकर सृष्टिनिर्माण करना चाहिए। ऐसा ही हुआ। पाचों मिल गये। मिलने से कामना पूरी होगई। इन की समष्टि कर्मपूर्त्ति का हेतु बनी, अतएव यह यज्ञ 'कामप्र' नाम से प्रसिद्ध हुआ। यही यज्ञ यज्ञविज्ञानपरिभाषा के अनुसार आगे जाकर 'दर्शपूर्णमास' नाम से व्यवहृत हुआ। अन्नरूप चन्द्रमा अग्निमयी पृथिवी के चारों ओर परिक्रमा लगाता है। इस की यह परिक्रमा एक चान्द्रमास में पूरी होती है। इस परिक्रमा से चान्द्रमास के कृष्ण-शुक्ल दो पक्ष होगये। कृष्णपक्ष की अन्तिम विश्रामभूमि 'दर्श' कहलाने लगी, एवं शुक्लपक्ष की अवसान भूमि 'पूर्णिमा' कहलाने लगी। दर्शतिथि में चन्द्रमा की मृत्यु है, पूर्णिमा में युवावस्था है। शुक्लद्वितीया जन्मकाल है, शुक्लाष्टमी बचपन है, कृष्णाष्टमी वृद्धावस्था है। इन सब भावों की मूलाधारभूमि प्रतिपत् (पड़वा) है। यहीं से चन्द्रमा के ह्रास एवं वृद्धि की प्रपत्ति (उपक्रम) होती है, अतएव इसे 'प्रतिपत्' कहा जाता है। शेष सारे चान्द्र अहोरात्र प्रतिपत् का अनुसरण करते हैं, प्रतिपत् के अनुगामी हैं, अतएव उन्हें अनुचर कहा जाता है। प्रतिपत्-अनुचर सांकेतिक शब्द हैं। मूलप्रतिष्ठा को प्रतिपत् कहा जाता है, मूलानुगत इतरभावों को अनुचर कहा जाता हैं। सूर्य प्रतिपत् है, रश्मिएं अनुचर हैं। चन्द्रमा प्रतिपत् है, नक्षत्र अनुचर हैं। आत्मा प्रतिपत् है, इन्द्रियप्राण अनुचर हैं। मस्तक प्रतिपत् है, इतर अङ्ग अनुचर हैं। गुरू प्रतिपत् है, शिष्यवर्ग अनुचर है। सेनाध्यक्ष प्रतिपत् है, सेना अनुचर

भेद से तीन भागों में विभक्त है । दिन में पृथिवी का जो भाग सौरप्रकाश से युक्त रहता है, वह अदिति है। रात्रिगत पार्थिवभाग सौरप्रकाश से वञ्चित होता हुआ दिति है। मध्याह्न पूर्णिमा है, मध्यरात्रि अमावास्या है, प्रातःकाल शुक्लाष्टमी है, सायंकाल कृष्णाष्टमी है । इसी प्रकार उत्तरायणमण्डल अदिति है, दक्षिणायनमण्डल दिति है । उत्तरायण उपक्रमकाल शुक्लाष्टमी है, मध्यकाल पूर्णिमा है, उपसंहारकाल कृष्णाष्टमी है, दक्षिणायन मध्यकाल दर्श है, विषुवकाल पूर्णिमा है । सारा सम्वत्सर पूर्णिमारूप है, प्रकाशरूप है, सम्वत्सर के पूर्व-पश्चिम सर्वत्र पूर्णिमा (प्रकाश) का साम्राज्य है । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

पूर्णा पश्चादुत पूर्णा पुरस्तादुन्मध्यतः पौर्णमासी जिगाय ।
तस्यां देवा अधि संवसन्त उत्तमे नाक इह मादयन्ताम् ॥
(तै० ब्रा० ३।१।१।) इति ।

पौर्णमासेष्टि का सम्बन्ध मध्य के विषुवकाल से ही है । यहीं सारे प्राणदेवता प्रतिष्ठित हैं, यही नाक स्थान है । इसी अभिप्राय से 'मध्यतः पौर्णमासी जिगाय०' इत्यादि कहा गया है । यही पृथिवी का दर्शपूर्णमास है । पृथिवी सूर्य का उपग्रह है, अतएव सूर्य प्रतिपत् है, पृथिवी अनुचर है ।

चन्द्रयुक्त पृथिवी को साथ लिए हुए सूर्य परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है । यही सूर्य का दर्शपूर्णमास है । इसी सौरदर्शपूर्णमास से परमेष्ठी रूप महान् में त्रैगुण्यभाव का उदय होता है । परमेष्ठी का वह भाग जो सौरप्रकाश से युक्त रहता है, पूर्णिमाकाल है, यही अदिति मण्डल है, यही अध्यात्मभावानुसार सत्त्वप्रधान महान् है । विरुद्ध तमोमय भाग दर्शकाल है, यही दिति मण्डल है, यही तम प्रधान महान् है । सन्धिभाग रजोमहान् है । इसी सौर अदिति का निरूपण करती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

या प्राणेन (सौरप्राणेन) सम्भवत्यदितिर्देवतामयी ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत ॥ (कठ० ४।७) ।

सूर्य परमेष्ठी का उपग्रह है, अतएव परमेष्ठी प्रतिपत् है, सूर्य अनुचर है। चन्द्रमा–पृथिवी एवं सूर्य को अपने महिमामण्डल में प्रतिष्ठित रखता हुआ परमेष्ठी स्वयम्भू के चारों ओर परिक्रमा लगाता है। इस परिक्रमा से ही विश्वका स्वरूप निर्माण होता है। विश्व एक प्रकार का प्रकाश है, यही पुण्याह (ब्रह्मा का दिन–सृष्टिकाल) है। यही सृष्टिकाल अदिति मण्डल है, यही पूर्णिमा है। प्रलयावस्था विश्वअभावात्मक तमोरूप दितिकाल है, यही दर्श है, यही परमेष्ठीकृत दर्शपूर्णमास है। स्वय स्वयम्भू स्थिर है, अतएव इसे परोरजा कहा जाता है। पृथिवीरूप भूलोक, सूर्यरूप स्वर्लोक, पृथिवी और सूर्य के मध्य का भुवर्लोक परमेष्ठीरूप जनल्लोक, परमेष्ठी और सूर्य के मध्यका महर्लोक स्वयम्भू और परमेष्ठी के मध्यका तपोलोक यह ६ ओं रज (परिभ्रमणशील लोक) उस परोरजा सत्यलोकात्मक स्थिर स्वयम्भू के आधार पर प्रतिष्ठित हैं। उसने अपनी प्राणशक्ति से [स्वयम्भू प्राण प्रधान है] ६ ओं का विधरण कर रक्खा है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर मन्त्रश्रुति कहती है।

> *अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्।
> वियस्तस्तम्भ षळिमा रजांस्यजस्यरूपे किमपि स्विदेकम् ॥
>
> (ऋक्सं० नासदीयसूक्त १।१६४।६।)

इस प्रकार प्राणप्रधान विश्वकर्मा स्वयम्भू (ईश्वर) प्रजापति अपनी वरुण [परमेष्ठी], इन्द्र [सूर्य], अग्नि [पृथिवी], सोम [चन्द्रमा] इन चार प्रतिमाओं से युक्त होकर दर्शपूर्णमास का प्रवर्त्तक बनता हुआ परमप्रजापति नाम से प्रसिद्ध होजाता है। इसी परमप्रजापति का निरूपण करती हुई यजु श्रुति कहती है—

> या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा।
> शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ॥
>
> [यजु सं १७।२१।]

* इस विषय का विशद विवरण 'नासदीयसूक्तविज्ञानभाष्य' में देखना चाहिए।

सत्य, तप, जन, यह यह चार परमधाम हैं, स्वः मध्यमधाम है, भुवः भूः अवमधाम है। दूसरे शब्दों में स्वयम्भू परमेष्ठी परमधाम है, सूर्य मध्यमधाम है, चन्द्रमा एवं पृथिवी अवमधाम है। परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी-यह चार उस के अभिन्न सखा हैं। इन्हें वह श्रेष्ठमित्र (स्वयम्भू) शिक्षा देरहा है। जैसा स्वरूप उस का है, जो संस्थाक्रम उस में है, ठीक वैसा ही स्वरूप, वही संस्थाक्रम उक्त चारों प्रतिमाप्रजापतियों में है। वह वर्तुल है, यह चारों भी वर्तुल हैं। वह आत्मा [हृदयभाव], पद [पिण्ड], पुनःपद [महिमा] भेद से त्रिपर्वा है, वे ही तीन तीन पर्व इन चारों में हैं। यही शिक्षण है। उक्त कामप्रयत्न से परस्पर में मिलते हुए पांचों सर्वरूप बन रहे हैं। इसी आधारपर पूर्वप्रकरणों में हमनें प्राणादि पांचों को 'साव्र्य' किंवा 'सर्व' नाम से व्यवहृत किया है [देखिए ई. वि. भा. पृ. सं— १२५]। विश्व में सर्वत्र इन्हीं सर्वप्राणादि का साम्राज्य है। प्रजापति की इन्हीं संस्थाओं का दिग्दर्शन कराती हुई वाजिश्रुति कहती है—

"स ऐक्षत प्रजापतिः-इमं वा आत्मनः प्रतिमामसृक्षि++++ ता वाऽएताः प्रजापतेरधिदेवता असृज्यन्त-अग्नि-रिन्द्रः-सोमः परमेष्ठी प्राजापत्यः + + + + तत एतं परमेष्ठी प्राजापत्यो यज्ञमपश्यद्दर्शपूर्णमासौ, ताभ्यामयजत। ताभ्यामिष्ट्वाऽकामयत-अहमेवेदं सर्वं स्यामिति, स आपोऽभवत् "आपो वा इदं सर्वम्"। स परमेष्ठी प्रजापतिं पितरमब्रवीत्—कामप्रं वाऽहं यज्ञमदर्शं, तेन त्वा याजयानीति, तथेति। तमयाजत। स इष्ट्वा अकामयत — अहमेवेदं सर्वं स्यामिति, स प्राणो ऽभवत् "प्राणो वा इदं सर्वम्" स प्रजापतिरिन्द्रं पुत्रमब्रवीत् - अनेन त्वा कामप्रेण॰ + ∴ + + स वागभवत्, "वाग्वा इदं सर्वम्"। स इन्द्रोऽग्नीषोमौ भ्रातरौ-अब्रवीत्, अनेन वां कामप्रेण॰ + + + + अन्नाद एवान्यतरोऽभवत्, अन्नमन्यतरः। अन्नादएवाग्निरभवत्, अन्नं सोमः। अन्नादश्च वा इदं सर्वमन्नं च। ता वा

एताः पञ्च देवताः (ब्रह्मा (प्राणः), विष्णुः (आपः–वरुणः), इन्द्रः (वाक्), अग्निः (अन्नादः), सोमः (अन्नम्) एताः पञ्चदेवताः) एतेन कामप्रेण यज्ञेनायजन्त । ता यत्कामा (सर्वव्याप्ति–प्राप्तिकामा) अयजन्त, स आभ्यः काम समार्ध्यत । यत्कामो हवाऽएतेन यज्ञेन यजते, सोऽस्मै कामः समृध्यते" (शत०-ब्रा० ११ का । १ अ० । ६ ब्रा० । १३ क०–२० क० पर्यन्त) ।

उक्त श्रुति की तीन चार बातों पर पाठकों को विशेष ध्यान देना चाहिए, क्योंकि उन्हीं के आधार पर पुण्डीरविद्या का रहस्य अवलम्बित है, जो कि आगे जाकर स्पष्ट होगा । पहिली बात तो यह है कि प्रजापति शब्द से प्रकृत में व्यापक मायावच्छिन्न मायी महेश्वर अभिप्रेत है। इस प्रजापति से क्रमश परमेष्ठी, इन्द्र, अग्नि, सोम इन चार अधिदेवताओं का प्रादुर्भाव होता है । इनमें श्रुतिनें परमेष्ठी को प्राजापत्य कहा है । दूसरी बात यह है कि परमेष्ठी ही सर्वप्रथम दर्शपूर्णमास यज्ञ करता है । परमेष्ठी आगे जाकर उस पितर प्रजापति से कहता है कि मैंने दर्शपूर्णमास नाम का कामप्र यज्ञ देखा है, मेरी इच्छा है कि मैं इस यज्ञसे आप का यजन करू। प्रजापति की 'तथास्तु' इस अनुमति से परमेष्ठी प्राजापत्य कामप्रयज्ञ से प्रजापति का यजन करता है। परमेष्ठी का स्वयम्भू प्रजापति के चारों ओर परिक्रमा लगाना ही कामप्रयज्ञ से इस प्रजापति का यजन करना है । तीसरी बात यह है कि इस परमेष्ठीकृत परिक्रमारूप यज्ञ से ही प्रजापति की नवीन प्राणसत्ता का उदय होता है । पहिले सर्वरूप आपोमय परमेष्ठी का उदय होता है, अनन्तर प्राणमय स्वयम्भू का उदय होता है। मायी स्वयम्भू पृथक् तत्त्व है, एव परमेष्ठी के सम्बन्ध से प्राणरूप से उदित होनेंवाला योगमायावच्छिन्न पुण्डीर स्वयम्भू पृथक् है। मायी स्वयम्भू प्रथमज था, इससे परमेष्ठी उत्पन्न हुआ, परमेष्ठी से पुण्डीर स्वयम्भू का जन्म हुआ । प्राजापत्य परमेष्ठी के द्वारा पुण्डीररूप में परिणत होनें वाले इस परिच्छिन्न स्वयम्भू के लिए आगे जाकर– 'स प्रजापतिरिन्द्र पुनरपत्रवीत्' कहागया है । श्रुतिके आरम्भ का प्रजापति शब्द जहां व्यापक मायी स्वयम्भू (महेश्वर) का वाचक है , वहां यह आगे का प्रजापति शब्द महेश्वर सत्ता में भुक्त दन्त्रेश्वर पुण्डीर स्वयम्भूका वाचक है । मायी स्वयम्भूकी इच्छासे परमेष्ठीनें दर्शपूर्णमास किया है,

है, एवं पुण्डीर स्वयम्भू की इच्छा से इन्द्र (सूर्य) अग्नि (पृथिवी) सोम (चन्द्रमा) नें दर्शपूर्णमास किया है। पुण्डीर स्वयम्भू की अपेक्षा से ही परमेष्ठी–सूर्य आदि प्रतिमाप्रजापति नाम से व्यवहृत हुए हैं। एक एक वल्शामें पांच पांच पुण्डीर हैं। इन पांचों में स्वयंभू परमप्रजापति है, शेष चारों प्रतिमाप्रजापति हैं। उस व्यापक मायी स्वयम्भू के उदर में ऐसी पञ्चपुण्डीरात्मिका सहस्र (१०००) प्राजापत्य वल्शाएं प्रतिष्ठित रहती हैं। मायावच्छेदेन स्वयम्भू एक है, पुण्डीरावच्छेदेन स्वयम्भू एक सहस्र हैं, यही वक्तव्य है।

पञ्चपुण्डीराप्राजापत्यवल्शा

१–"प्राणो वाइदं सर्वम्" प्राणः–स्वयम्भू ब्रह्मा		परमप्रजापतिः१
२–"आपो वा इदं सर्वम्" आपः परमेष्ठी विष्णुः		प्रतिमाप्रजापतयः४
३–"वाग्वा इदं सर्वम्" वाक्–सूर्यो इन्द्रः		
४–अन्नादो वा इदं सर्वम् अन्नादः–पृथिवी–अग्निः		
५–"अन्नं वाइदं सर्वम्" अन्नम्–चन्द्रमा सोमः		

ऐसी सहस्र वल्शाओं को (टहनियों को) अपनें उदर में रखने वाला मायी महेश्वर ही महाश्वत्थ है, जैसा कि आगे के परिलेख से स्पष्ट होजाता है। ब्रह्माश्वत्थरूप इसी वेदमूर्त्ति महेश्वर के वेदभाग से सुब्रह्म रूप आपोमय ब्रह्म का जन्म होता है। वेद स्वयं द्विब्रह्म है, सुब्रह्म पङ्-ब्रह्म है। पहिले वाङ्मय सत्य ब्रह्माग्नि ही था। 'पतिश्च पत्नी च' इस इच्छा से आगे जाकर यही सत्य–ऋत यह दो रूप धारण करलेता है। सत्यावाक् यजुर्ब्रह्म है, ऋतावाक् सुब्रह्म है। इसी को ऋग्वेदनें 'आम्भृणीवाक्' (आपोमयीवाक्) नाम से व्यवहृत किया है। (देखिए ऋक् संहिता..........आम्भृणीसूक्त) यह ऋतसत्यरूप ब्रह्म सुब्रह्म ही विश्वके आदि प्रवर्तक हैं, जैसा कि 'अनेजदेकम्' इत्यादि मन्त्रभाष्य में विस्तार से बतलाया जाचुका है। अग्निमय ब्रह्म

पुरुष है, पति है पिता है । आपोमय सुब्रह्म स्त्री है, पत्नी है, माता है । ब्रह्म महेश्वर है, सुब्रह्म पार्वती है । यही जगत् के माता पिता हैं—'जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ' । इन्हीं दोनों के समन्वय से आगे की सृष्टिधारा चलती है ।

दो वस्तुओं का सम्बन्ध चार प्रकार से हुआ करता है । चार से अतिरिक्त कोई पांचवा प्रकार नहीं है । साथ ही में यह भी ध्यान रखिए कि जैसे सम्बन्ध संख्या नियत है, एवमेव दो तत्त्व भी सर्वथा निश्चित हैं । उन दो के अतिरिक्त तीसरा तत्त्व आप को विश्व में नहीं मिल सकता । वे दोनों तत्त्व वे ही ब्रह्मरूप आग्नेयपुरुष, सुब्रह्मरूप सौम्या स्त्री है । सचमुच अग्नीषोमात्मक स्त्रीपुरुष के अतिरिक्त अन्य तीसरी वस्तु नहीं है । तभी तो "अग्नीषोमात्मकं जगत्" "द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति शुष्कं चैवार्द्रञ्च । यच्छुष्कं तदाग्नेयं, यदार्द्रं तत् सौम्यम्" इत्यादि श्रौतवचन चरितार्थ होते हैं । यह दोनों ही तत्त्व विजातीय हैं । एक भोक्ता है, दूसरा भोग्य है । अग्नि भोक्ता है, अतएव यह अन्नाद नाम से, सोम भोग्य है, अतएव यह अन्न नाम से प्रसिद्ध है । दोनों का यह अन्नादान्नलक्षण भोक्तृ भोग्यभाव समुदाय और अवयव भेद से दो भागों में विभक्त है । ब्रह्म (अग्नि) सुब्रह्म (सोम) रूप स्त्रीपुरुष का यदि अवयव सम्बन्ध होता है तो ऐसी अवस्था में आग्नेयब्रह्म "पुरुष" कहलाता है, सौम्यसुब्रह्म 'स्त्री' कहलाता है । यदि समुदाय सम्बन्ध होता है, दूसरे शब्दों में सारा सोम सर्वात्मना यदि अग्निब्रह्म के उदर में चलाजाता है तो उस समय यह दोनों तत्त्व स्त्री पुरुष न कहलाकर अन्न अन्नाद नाम से व्यवहृत होते हैं । अन्न जब अन्नाद के (सुब्रह्म जब ब्रह्म के) उदर में चला जाता है तो उस समय आहुत होने वाले अन्न की स्वतन्त्रता नष्ट होजाती है । परन्तु ऐसा होता तभी है जब कि सारा अन्न अन्नाद में आहुत होजाता है । जब आप अन्न खाते हैं तो वह आप के शारीराग्नि में जाकर अग्निरूप में परिणत होता हुआ अपना प्रातिस्विक स्वरूप खो बैठता है । अब यदि उस भुक्त अन्न को आप उसी स्वरूपमें प्राप्त करना चाहें तो यह असम्भव है । क्योंकि वह अन्न सर्वात्मना अग्नि में आहुत होचुका है । बस ऐसे समुदायाहुतिसम्बन्ध में ही उन ब्रह्म सुब्रह्मों को अन्नाद—अन्न कहा जाता है । इस सम्बन्ध से कोई नई वस्तु [अपूर्वभाव] उत्पन्न नहीं होती, अपि तु केवल ब्रह्म का आयतन मात्र बढ़ता है, यही वृद्धि 'पुष्टि' कहलाती है ।

यदि समुदाय का सम्बन्ध नहीं है, अपि तु, अवयव का सम्बन्ध है तो पुष्टि नहीं सृष्टि है। इस सम्बन्ध में अवयवी निर्विकार है, केवल अवयव की चिति है । यही चितिलक्षण अवयव सम्बन्ध (संसृष्टिलक्षण सृष्टिसम्बन्ध) सृष्टि (अपूर्वभावोत्पत्ति) का कारण है । इस सृष्टिमूलक अवयव सम्बन्ध में ही अन्न एवं सुअन्न स्त्री-पुरुष नाम से व्यवहृत होते हैं । समुदायरूप अन्न अन्नाद के सम्बन्ध में-"यदा उभौ समागच्छतः-अन्तरेवाख्यायेत, नायम्" इत्यादि रूप से श्रुति अन्नसत्ता का उच्छेद बतलाती है, एवं अवयव सम्बन्ध में अंशमात्र का उच्छेद है। उच्छेद नहीं, अपूर्वभाव में परिणति है। अतएव इस सम्बन्ध में अन्न-अन्नाद का प्रयोग न होकर स्त्री पुरुषशब्दों का प्रयोग होता है। इन दोनों का (स्त्री-एवं पुरुष का) अवयव सम्बन्ध तीन प्रकार से संभव है। स्त्री-स्त्री का सम्बन्ध भी संभव है। इस अवयव सम्बन्ध से न क्षोभ होता, न सृष्टि होती। क्योंकि सृष्टि विजातीय वस्तुद्वय के समन्वय से ही होती है । स्त्री-स्त्री सजातीय पदार्थ हैं। साथ ही में सौम्य होने से दोनों अवयव आर्द्र हैं। अतएव यह मिथुनभाव सर्वथा निरर्थक है। एवमेव पुरुष पुरुष (के अवयवों) का सम्बन्ध सम्भव है । यदि दो पुरुषों का समन्वय है तो सर्वनाश है। दोनों ही अग्नि हैं। समान बल वाले दो आग्नेय ग्रह टकरा कर जैसे महाविस्फोटन [जोकि विस्फोटन ऐन्द्रभूकम्प नाम से प्रसिद्ध है।] के जनक बनजाते हैं, अथवा समान गति रखने वाली दो पञ्जाब ट्रेनों के सम्बन्ध से [भिड़जाने से] जैसे महाविस्फोटन होजाता है, एवमेव आग्नेय पुरुषावयवों का संघर्ष विस्फोटन का जनक बनजाता है। इस सम्बन्ध में भी सृष्टि का अभाव है, क्यों कि दोनों ही सजातीय हैं। इस सम्बन्ध में सृष्टि तो नहीं है, परन्तु क्षोभ अवश्य है । तीसरा है स्त्री पुरुष के शुक्र-शोणितरूप अवयवों का सम्बन्ध । इस विजातीय अवयव सम्बन्ध से ही अपूर्वभाव का उदय होता है। यही सम्बन्ध 'समन्वय' नाम से प्रसिद्ध है। इसी से सृष्टि होती है-"तत्तु समन्वयात्"। इस सम्बन्ध में अवयव की हानि होती है, अवयवी ज्यों के त्यों सुरक्षित रहते हैं। पुरुष अग्नि है, स्त्री आप (सोम) है । अग्नि के उदर में पानी चला जाय, अग्नि अग्नि मिलजांय, पानी पानी मिलजांय, आग पानी मिलजांय, इस प्रकार दोनों के सम्बन्ध के चार ही द्वार हैं। यदि अग्नि के उदर में पानी (सोम) चला गया

तो पुष्टि है, यदि अग्नि अग्नि (ब्रह्म–ब्रह्म) का सम्बन्ध होगया तो **विस्फोटन** है, यदि पानी पानी [सुब्रह्म-सुब्रह्म) मिल गए तो **निरर्थक** है, यदि आग पानी का (ब्रह्मरूप पुरुषके शुक्र, सुब्रह्मरूप स्त्री के शोणित का) समन्वय है तो **सृष्टि** है।

(१ स०स०)
१–स्त्रीपुरुष का समुदाय सम्बन्ध (अग्नि सोम का समुदाय सम्बन्ध) → **पुष्टिकर**

(२ अवयव सम्बन्ध)
२–स्त्री स्त्री का सम्बन्ध .... (सोम सोम का अवयव सम्बन्ध) ←→ **निरर्थक**
३–पुरुष पुरुष का सम्बन्ध (अग्नि अग्नि का अवयव सम्बन्ध) → **विस्फोटक**
४–स्त्री पुरुष का अवयव सम्बन्ध (अग्नि सोम का अवयव सम्बन्ध) → **सृष्टिकर**

स्त्री पुरुष के जो अवयव सृष्टि के उपादान बनते हैं, उन्ही को विज्ञानभाषा में योषा वृषा कहा जाता है। योषा वृषा शब्द सांकेतिक हैं। प्रश्नोपनिषत् में इन्ही के लिए 'रयि-प्राण' शब्द प्रयुक्त हुए हैं, एवं वहां रयि प्राण के मिथुनभाव से ही सृष्टि की उत्पत्ति बतलाई गई है–(देखिए प्रश्नोपनिषत् १ प्रश्न)। योषा यदि सर्वात्मना वृषाके गर्भमें है तो अन्न अन्नादभाव है, अवयव सम्बन्ध में स्त्रीपुरुषभाव है। योषा–वृषा के सृष्टिप्रवर्त्तक अवयव विज्ञानभाषा में रेत-योनिनाम से प्रसिद्ध हैं। रेत सुब्रह्म नाम के योषा का अंश है, योनि ब्रह्म नाम के वृषा का अंश है। आग्नेय भाग योनि है, सौम्य भाग रेत है। दूसरे शब्दों में ब्रह्माग्निरूप यजुर्ब्रह्म योनि है, सुब्रह्मरूप यद्ब्रह्म (आप) भाग रेत है। छिपती है कुछ और, दिखलाई पड़ता है कुछ अन्य। इसी आधार पर 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः' यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। प्रकृति का प्रत्येक कार्य परोक्ष (पर्दे) में होता है। सुब्रह्म की ब्रह्म में आहुति होती है। अग्नि पुरुष है, सोम स्त्री है। यह स्त्रीरूप सुब्रह्म पुरुष में प्रतिष्ठित होरहा है, उधर पुरुषरूप ब्रह्म स्त्री में प्रतिष्ठित है। स्त्री में पुरुष बैठा है, पुरुष में स्त्री बैठी है, जैसा कि पूर्व के अव्यक्तात्माधिकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है।

विश्वस्वरूपसम्पादिका महामाया की जहांतक व्याप्ति है, वहां तक वेदघन वेदमूर्ति ईश्वर की व्याप्ति है। यदवच्छेदेन ईश्वर (महेश्वर) व्याप्त है, तदवच्छेदेनैव ब्रह्म (वेद) सुब्रह्म (सुवेद) व्याप्त हैं, एक विन्दु भी दोनों से शून्य नहीं है। दोनों में एक प्रकार से अन्न—अन्नादभाव सम्बन्ध है। अतएव यह आहुतिसम्बन्ध सृष्टि के लिए अनुपयुक्त है। सृष्टि तभी हो सकती है, जब कि उस व्यापक ब्रह्म के किसी एक प्रदेश में व्यापक सुब्रह्म के किसी एक अवयव की आहुति हो। योनिभाग वृषारूप ब्रह्मका अवयव है, रेतोभाग योषारूप सुब्रह्म का अवयव है। इन दोनों अवयवों में मायावच्छिन्न सर्वव्यापक चलाचल (गतिस्थितिमय) का एक अवयवविशेष विशेष है, इसमें मातरिश्वा नाम से प्रसिद्ध भार्गववायु द्वारा उस ब्रह्म पर सर्वत्र व्याप्त सुब्रह्म नामसे प्रसिद्ध पड्-ब्रह्म (आप) के एक अवयवविशेष की आहुति होती है, वही अवयव रेत है। इन अवयवों के समन्वय से सारा विश्व बना है। आगे की सारी सृष्टियों में इस अवयव सम्बन्ध की ही व्याप्ति समझनी चाहिए। ईश्वरसृष्टि हो, अथवा जीवसृष्टि, सर्वत्र योषावृषारूप ब्रह्म-सुब्रह्म के अवयव सम्बन्ध की ही प्रधानता है। उदाहरणके लिए पुरुष को लीजिए। पुरुषके सर्वाङ्ग शरीरमें रेत व्याप्त है, उधर स्त्री के सर्वाङ्ग शरीर में योनिरूप आर्त्तव (रक्त) व्याप्त है। परन्तु सभी रेत अथवा सभी आर्त्तव प्रजोत्पत्ति का कारण नहीं बनता। यदि ऐसा हो तो स्त्री पुरुषका स्वरूप ही नष्ट हो जाय। स्त्री पुरुष का आंशिक रेत—आर्त्तव ही प्रजोत्पत्ति का कारण बनता है। सृष्टि किस सम्बन्ध से होती है ? यह बतला दिया गया। अब प्रकरणसंगति के लिए एकबार आपका ध्यान 'अनेजदेकम्०' इस मन्त्रार्थ की ओर आकर्षित करते हैं।

वहां बतलाया गया है कि मायावच्छिन्न चलाचल सर्वव्यापक यजुर्ब्रह्मरूप ब्रह्माग्नि में मातरिश्वावायु पड्ब्रह्मस्वरूप आपोमय (भृग्वङ्गिरोमय) सुब्रह्म की आहुति देता है। इस प्रकार 'अनेजदेकम्०' इत्यादि मन्त्र सामान्यरूप से व्यापक ब्रह्म में व्यापक सुब्रह्म की आहुति बतलाता है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। पूर्वकथनानुसार सर्वाहुति में अन्नान्नादभावमात्र है,एवं ऐसा सम्बन्ध पुष्टिकर बनता हुआ भी सृष्टिमर्यादा से बहिर्भूत है। सृष्टि अवयव समन्वय पर ही निर्भर है। अतएव "मातरिश्वा एजदनेजद् ब्रह्म में आप की आहुति देता है" इस वाक्य

का "ब्रह्म के एक योनिरूप प्रदेश में मातरिश्वावायु आपोमयब्रह्म के रेतोरूप एक प्रदेश की आहुति देता है" यही अर्थ समझना चाहिए। यही कारण है कि श्रुतिने "तस्मिन्नपो मातरिश्वा जुहोति" यह न कहकर "तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति" यह कहा है। आहुति सम्बन्ध समुदायसम्बन्धात्मक अन्नान्नादभाव पर निर्भर है, आधानसम्बन्ध अवयवसम्बन्धात्मक स्त्री-पुरुषभाव पर निर्भर है। लोकव्यवहार में भी "योनि में रेत की आहुति होती है" यह नहीं कहा जाता, अपि तु "योनि में रेत का आधान होता है" यही कहा जाता है। अत-एव च वायु को होता (आहुति देने वाला) नहीं कहा जाता, अपि तु रेतोधा (रेत का आधान करने वाला) कहा जाता है। प्रश्न होता है कि 'अनजदेकम्०' इत्यादि मन्त्र से प्रतिपादित सामान्य अर्थ की उपेक्षा कर–'अवयव की अवयव में आहुति होती है" यह विशेष अर्थ किस आधार पर प्रामाणिक माना गया? इसी प्रश्न का समाधान करने के लिए 'स पर्यगाच्छुक्रम्' इत्यादि मन्त्र हमारे सामने आता है। मंत्र में पढ़ा हुआ 'शुक्र' शब्द ही उक्त प्रश्न का समाधान करता है। कैसे? इस जिज्ञासा को शान्त करने से पहिले शुक्रपदार्थ का स्वरूप परिचय करा देना आवश्यक होगा।

पदार्थविश्लेषणविज्ञान के विलुप्तप्राय होजाने के कारण विद्वानों की दृष्टि में आजदिन शुक्र–रेत–वीर्य तीनों अभिन्न पदार्थ हैं, तीनों पर्याय हैं। परन्तु यथार्थ में शुक्र भिन्न वस्तु है, रेत अन्य वस्तु का वाचक है, वीर्य शब्द किसी अन्य ही पदार्थ का बोधक है। वीर्य और शुक्र रेत में प्रतिष्ठित हैं, इसीलिए 'तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यम्' न्याय से रेत को शुक्र-वीर्य. शब्दों से व्यवहृत करदिया जाता है। ऐसा होने पर भी तीनों को एक ही वस्तु मान बैठना सर्वथा भ्रम है। संस्कृत साहित्य पर आज एक बड़ा भारी कलङ्क लगाया जाता है। सर्वसाधारण का यह विश्वास है कि संस्कृतभाषा में एक एक शब्द के अनेक पर्याय होते हैं। फलतः जो जैसा चाहता है, स्वार्थानुसार वैसा ही अर्थ करलेता है। परन्तु आज हम अपने पाठकों को यह विश्वास दिलाते हैं कि संस्कृत साहित्य में एक अर्थ के लिए एक ही शब्द प्रयुक्त हुआ है। एकदेश की समानता को लेकर पर्याय सम्बन्ध प्रचलित होगया है। पदार्थदृष्टिसे सब शब्द नियत अर्थों के ही प्रतिपादक हैं।

विष्णु-नारायण-वामन सब भिन्नार्थ के वाचक हैं। महेश्वर-ईश्वर-परमेश्वर-आत्मा-ब्रह्म सब शब्द पृथगर्थों के द्योतक हैं। मघवा-पाकशासन-वृत्रहा-वृषा-शुनाशीर-पुरंदर सब अपने अपने अर्थों में नियत हैं। बुद्धि-मनीषा-धिषणा-प्रज्ञा-मति सब भिन्नार्थ के परिचायक हैं। जिसके लिए जो शब्द नियत है, वह उसी का बोधक है। पट और वस्त्र कभी पर्याय नहीं हैं। आदित्य और सूर्य कभी पर्याय नहीं है। वायु और वात, हिरण्यगर्भ और पद्मभूः, कभी पर्याय नहीं हैं। इसीप्रकार शुक्र-वीर्य-रेत कभी परस्पर में एक दूसरे के पर्याय नहीं हैं।

तीनों में से पहिले वीर्यशब्द को ही लीजिए। रेत में रहने वाला, आत्मबल को बढ़ाने वाला तत्त्वविशेष ही 'वीर्य' कहलाता है। बल-वीर्य-पराक्रम तीनों में भी भेद है। शरीरशक्ति बल है, प्राणशक्ति वीर्य है, मन की शक्ति पराक्रम है। हाथी में बल की प्रधानता है। हाथी अपने भार से एक सिंह को कुचल सकता है। सिंह में वीर्य की प्रधानता है। शरीरशक्ति से प्राणशक्ति बलवती है, अतएव प्राणप्रधान (वीर्यप्रधान) सिंह हाथी को परास्त कर देता है। मन की ताकत पराक्रम है। दूसरे पर आक्रमण कर उसे अपने वश में करलेना ही 'पराक्रम' है। यह मनोबल है। पुरुष में इस की प्रधानता है। यह बल वीर्य से भी प्रबल है, अतएव पराक्रमी मनुष्य वीर्यशाली सिंह को भी एक पञ्जर (पींजरे) में बद्ध कर देता है। इस प्रकार बल-वीर्य-पराक्रम तीनों शब्द नियत अर्थों के वाचक हैं। आत्मा मन-प्राण-वाङ्मय माना जाता है। मन ज्ञानप्रधान, प्राण कर्मप्रधान, एवं वाक् अर्थप्रधान है। आत्मा की इन तीनों कलाओं के उपकारक क्रमशः ब्रह्म-क्षत्र-विट् नाम के तीन वीर्य हैं। ब्रह्मवीर्य ज्ञान का अनुयायी है, क्षत्रवीर्य कर्म का प्रेरक है, एवं विड्वीर्य अर्थशक्ति का संचालक है। ब्रह्मवीर्य का अग्नि से सम्बन्ध है, क्षत्रवीर्य का इन्द्र से, विड्वीर्य का विश्वेदेवों से सम्बन्ध है। जिस के रेतमें ब्रह्मवीर्य की प्रधानता है, उसकी सन्तान ब्राह्मण कहलाती है। क्षत्रवीर्य-प्रधान रेत क्षत्रियवर्ण का, विड्वीर्य प्रधान रेत वैश्यवर्ण का प्रवर्त्तक है। जिस के रेत में अवीर्यरूप, किन्तु सामान्यतः वीर्यरूप पूषा नाम से प्रसिद्ध पार्थिव तमोमय प्राणदेवता की प्रधानता रहती है, उस की सन्तान सच्छूद्र कहलाती है, इसी के लिए—'शूद्राश्चावरवर्णाश्च' यह कहा जाता है। इन चारों वीर्यों के विरोधी

चार ही मलभाग हैं । इन देवविरोधी मलभागों की क्रमशः जिनके रेत में प्रधानता होती है, उन से क्रमशः अन्त्यज, अन्त्यावसायी, दस्यु, म्लेच्छ इन चार असच्छूद्रों की उत्पत्ति होती है । यह चारों ही अवर वर्ण हैं । यही असच्छूद्र निरवसित कहलाते हैं ।

देवभाग→→————मलभाग

(दैवीसंपत्) (आसुरीसंपत्)




१—ब्राह्मणवर्णः (अग्निः)→————→अन्त्यजः

२—क्षत्रियवर्णः (इन्द्रः)————→अन्त्यावसायी

३—वैश्यवर्णः (विश्वेदेवाः→————→दस्युः

४—अवरवर्णः पूषा)→————→म्लेच्छः

वर्णसृष्टिः→————→अवर्णसृष्टि



स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः

१-मनः (ज्ञानशक्तिः) ज्ञानोदयोपपादकं-ब्रह्मवीर्यम्→तत्प्रधानाः-ब्राह्मणाः

२-प्राणः (क्रियाशक्तिः) कर्मोदयोपपादकं-क्षत्रवीर्यम्→तत्प्रधानाः-क्षत्रियाः

३-वाक् (अर्थशक्तिः) अर्थोदयोपपादकं-विड्वीर्यम्→तत्प्रधानाः-वैश्याः



इस निदर्शन से पाठकों को यह मान लेना पड़ता कि [illegible] शुक्र और रेत में [illegible] है । रेत में [illegible] रहने वाला [illegible] भी है । रेत में शुक्र से [illegible] भी [illegible] है । अतएव 'मलभाग' का अर्थ [illegible] मान लिया जाता है ।

अब चलिए शुक्र–रेत की ओर। पुरुष के रेत का नाम शुक्र नहीं है, अपि तु अग्नि का नाम शुक्र है। शुक्राग्नि स्त्री में रहता है, रेत रूप सोम पुरुष में रहता है। शुक्र का प्रधान आयतन स्त्री का रज है, रेत का प्रधान आयतन पुरुष का सोमभाग है। पुरुष के रेत में जैसे उक्त वीर्य रहते हैं, एवमेव स्त्री के रज में भी वीर्य प्रतिष्ठित रहते हैं। दोनों के वीर्य शुद्ध रहते हैं, तभी वर्णानुरूपा सृष्टि (सन्तान) होती है। वर्णरक्षा के लिए वीर्य रक्षा आवश्यक है। वर्णवीर्य के यथार्थ स्वरूप को यत्किञ्चित् भी न जानता हुआ, परन्तु जानने का अभिमान करता हुआ एक वैश्यवर्ण का महान् नेता नेतृत्व के अभिमान में पड़कर अपने पुत्र का यदि एक ब्राह्मण वर्ण के नेता की कन्या के साथ विवाह करने में कोई हानि नहीं समझता तो यह उसका, एवं उसके देश का दुर्भाग्य है। हां यदि वह अपनी लड़की किसी ब्राह्मण पुत्र को देदे तो शास्त्र-दृष्ट्या उसका यह कार्य अनुचित न होगा, कारण ब्राह्मण इतरवर्ण की कन्या के साथ पाणि-ग्रहण कर सकता है। वीर्यरक्षा के लिए शास्त्रसिद्ध वैवाहिक मर्यादा आवश्यक है। इस मर्यादा का पालन न हुआ तो क्या होगा ? इसका उत्तर है भारतवर्ष की अधोगति। अस्तु प्रकृत में यही कहना है कि ब्रह्म की अवयवभूता योनि (अग्नि) शुक्र है, इस की प्रधान प्रतिष्ठा स्त्री है। सुब्रह्म का अवयव भूत रेत (सोम) रेत है, इसकी प्रधान प्रतिष्ठा पुरुष है। योनि में रेत का आधान होता है, इसका 'शुक्र में रेत का आधान होता है' यही तात्पर्य है। इसप्रकार वीर्यवत् रेत एवं शुक्र का पार्थक्य भी भलीभांति सिद्ध होजाता है।

रेत शब्द पुरुष के सौम्यभाग के लिए ही नियत हो यह बात नहीं है। वस्तुतः रेतत्व का अवच्छेदक उपादानद्रव्यत्व ही समझना चाहिए। प्रजा का उपादानद्रव्य न केवल पुरुष का सौम्यभाग है, न केवल स्त्री का आग्नेय शोणित भाग है, अपि तु दोनों का समन्वित रूप ही उपादान है। ऐसी अवस्था में हम दोनों को 'रेत' कह सकते हैं। स्त्री का आग्नेय भाग भी उपादान होने से रेत है, पुरुष का सौम्य भाग भी उपादान होने से रेत है। परन्तु एक आग्नेयरेत है, दूसरा सौम्यरेत है। इसी भेद को समझाने के लिए वैज्ञानिकोंने आग्नेयरेत को 'शुक्र' शब्द से व्यवहृत किया है, एवं सौम्यरेत को पारिशेष्यात् रेत शब्द से प्रसिद्ध किया है।

घनरेत शुक्र है, तरल रेत रेत है। घनता [परिपाक] अग्नि का धर्म है, तरलता पानी का धर्म है। ब्रह्म सत्याग्नि है, सुब्रह्म ऋत आप है। वह घन है, यह तरल है। यह शुक्र-रेत दोनों ही क्रमशः वृषा-योषाप्राण से अनुगृहीत रहते हैं। हमने शुक्र-रेत रूप योनि-रेत के समन्वय से प्रजोत्पत्ति बतलाई है। परन्तु वस्तुतः सृष्टि के मूलाधार हैं-योषा-वृषाप्राण। शुक्ररूप स्त्री के आग्नेय भाग में रहने वाला चित्प्राण वृषा कहलाता है, पुरुष के सौम्यरेत में रहने वाला चित्प्राण योषा नामसे प्रसिद्ध है। इसी प्राण को भिषक् परिभाषा में 'भ्रूण' कहा जाता है। यदि शुक्रशोणित के भ्रूण जीवित हैं, तभी दोनों के समन्वय से प्रजोत्पत्ति होसकती है। यदि भ्रूण निर्बल हैं, मूर्च्छित हैं, नष्ट हैं तो ऐसी दशा में निरन्तर होने वाला भी शुक्रशोणित का मिथुनभाव प्रजोत्पत्ति का कारण नहीं बनसकता। इन भ्रूणों की निर्बलता के, एवं विनाश के **मातृदोष, पितृदोष, कर्मदोष, नाड़ीदोष, ग्रहदोष,** आदि आठ दोष हैं। इन आठों की चिकित्सा धर्मशास्त्र में प्रतिपादित है। सुप्रसिद्ध **श्राद्धकर्म** पितृदोष का निवर्त्तक माना जाता है। अतएव नित्यकोटि में प्रविष्ट रहते हुए भी श्राद्ध को धर्मशास्त्र में काम्यकर्म (पुत्रकामनासाधक) माना है। निष्कर्ष यही हुआ कि सारवद्रेत शुक्र है, प्रवाहित रस रेत है। दोनों में प्राण प्रतिष्ठित हैं, प्राणानुगृहीत यही दोनों जीवन के कारण हैं। इसी शुक्र-रेत-विज्ञान को लक्ष्य में रखकर अभियुक्त कहते हैं-

> "शुक्रं तु सारवद्रेतो, रसो रेतः प्रवाहि यत्।
> प्राणेनानुगृहीते ते (शुक्ररेतसी) प्राणिनां जीवनं विदुः॥"

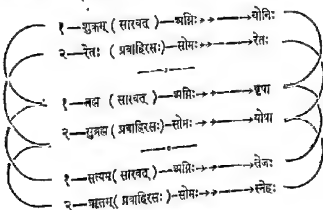
शुक्र आग्नेय पदार्थ है, इसके लिए प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। 'सम्राचिंदंशुना शुक्र' से कोशकार स्पष्ट ही शुक्र को अग्नि बतला रहे हैं। "अग्निः शोचति, रेतो रसति" से ही दोनों क्रमशः शुक्र-रेत नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। शुक्र ही शोक है, शोक संताप है, संताप ताप है, ताप अग्नि का धर्म है। इसलिए से शुक् (अग्नि) ही 'शुक्र' बना है। शुक्र साक्षात् अग्नि

१ इस विषय का विशद विवेचन "श्राद्धविज्ञान" में देखना चाहिए।

है, अतएव ग्रहयज्ञ में आहुत होनें वाले ४० ग्रहपात्रों में से अग्निमय सौरग्रह पात्र को 'शुक्र' कहा गया है। इसी आधार पर निम्नलिखित वचन प्रसिद्ध हैं—

१–"अत्ता वै शुक्रः" (शत० ५।४।२।८।)—"रेतो वा अन्नम्" (गो० ब्रा० पू० ३।२३)
२–"अग्निः शुचिः (शुक्रः)" (तै० ब्रा० १।१।६।२)–"रेतो वै सोमः"(शत. ३।८।५।२)

इसी शुक्र को हम आग्नेय होनें से 'तेज' कह सकते हैं–"तेजो वा अग्निः" (शत. २।-५।४।८।), एवं रेत को सौम्य होनें से 'स्नेह' कहा जासकता है। एक बात और–शुक्र में रेत, रेत में शुक्र अनुस्यूत है। शुक्र में अग्नि प्रधान है, तरल सोम गौण है। रेत में सोम प्रधान है, घन अग्नि गौण है। इसीलिए कहीं कहीं आप रेत को शुक्र कह दिया जाता है, जैसा कि प्रकरण के आरम्भ में शुक्र शब्द की व्याप्ति बतलाते हुए कहा गया है। एवमेव कहीं कहीं अग्निमय शुक्र को रेत बतला दिया जाता है। इन्हीं दोनों तत्वों के समन्वय से सृष्टि होती है, यह प्रत्येक दशा में निर्विवाद है।



दोनों के समन्वय से कैसे संसार बना है ! इस प्रश्नसमाधि के लीए निम्नलिखित प्रकरण पर दृष्टि डालिए। सृष्टि का मूलप्रवर्त्तकतत्त्व अमृत–ब्रह्म–शुक्र इन तीन भागों में विभक्त है।

इन में अमृत आत्मयोनि है, ब्रह्म प्रकृतियोनि है, एवं शुक्र विकृतियोनि है। दूसरे शब्दों में यो समझिए कि आत्मसृष्टि अमृत से होती है, प्रकृतिसृष्टि ब्रह्म से होती है, एवं विकृतिरूपा विश्वसृष्टि शुक्र से होती है। सृष्टि के यही तीन विवर्त्त हैं। इन में अमृततत्व अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर भेद से त्रिकल है, ब्रह्मतत्व प्राणादि भेद से पञ्चकल है, शुक्रतत्व यत्-जू भेद से द्विकल है। त्रिवृत् अमृत (३), पञ्चकल ब्रह्म (५), द्विकलशुक्र (२) की समष्टि ही दशिनीविराट् (दशकलविराट्) है, यही 'सर्वम्' है। कहने को अमृत ब्रह्म-शुक्र तीन पदार्थ हैं। वस्तुतः अमृत ही ब्रह्म है, ब्रह्म ही शुक्र है। सृष्टि से बहिर्भूत रहता हुआ वही तत्त्व अमृत कहलाता है, सृष्ट्युन्मुख बनकर वही 'ब्रह्म' कहलाने लगता है, एवं सृष्टि का उपादान बनकर वही शुक्र कहलाने लगता है। मूलावस्थापन्न वही तत्त्व अमृत है, तूलावस्थापन्न वही तत्त्व शुक्र है, मूल को तूलरूप में परिणत करने के समय वही ब्रह्म नाम से व्यवहृत होने लगता है। ऐसी दशा में हम कह सकते हैं कि अमृत एवं ब्रह्म यह दो आत्मविवर्त्त सृष्टि के मूल हैं, एवं शुक्र-विवर्त्त सृष्टि का 'बीज' है। जब तक अमृत एवं ब्रह्म सृष्टि के बीज नहीं बन जाते, तबतक तो दोनों अमृत ब्रह्म इन्हीं नामों से व्यवहृत होते हैं, परन्तु बीजावस्था में आकर इन्हीं दोनों की समष्टि वेदरूप में परिणत होती हुई (वेदावच्छिन्न बनती हुई) 'शुक्र' नाम धारण करलेती है।

विषयोपक्रम में हमनें कहा था कि सृष्टिसाक्षी अव्ययपुक्त, अतएव बीजावस्थापन्न अक्षरानुगृहीत आत्मक्षर को ही शुक्र कहा जाता है—(देखिए ई. नि. भा. पृ. सं १०)। वहीं यजुर्ब्रह्म को शुक्र बतलाते हुए विरोध का उत्थापन करते हुए इस के समाधान की प्रतिज्ञा की गई थी। अवसरप्राप्त उक्त विरोध का भी परिहार करलेना चाहिए। बीजावस्थापन्न अक्षर क्षर शुक्र है, एवं बीजावस्थापन्न अक्षर क्षर ही यजुर्ब्रह्म है। सारी सृष्टि मूर्तिप्रधान है। मूर्ति ही विश्व का स्वरूप है। सारा विश्व मूर्त है। मूर्ति पुर है। इस पुररूप विश्व के मूल वेद लोक-प्रजा आदि नामों से प्रसिद्ध पुरञ्जन ही हैं। यद्यपि इन पाचों पुरञ्जनों को ही हम विश्व के बीजभूत होने से 'शुक्र' कह सकते हैं, तथापि पाचों में प्रथमज एवं प्रतिष्ठारूप पहिला वेद नाम का ही

पुरञ्जन है, अतः इसी को शुक्र कह दिया गया है। यह वेदतत्व आत्मक्षर की सर्वप्रधाना एवं सर्वे प्रथम प्राणकला का विकार है, दूसरे शब्दों में वेदतत्व की उपादानभूमि आत्मक्षर है, एवं 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' के अनुसार कार्यरूप वेद कारणरूप आत्मक्षर से अभिन्न है। ऐसी स्थिति में शुक्ररूप वेद को आत्मक्षर कहा जासकता है। आत्मक्षर प्रकृति का मर्त्यभाग है, अक्षर अमृत भाग है। अक्षर और आत्मक्षर दोनों एक ही अमृतमृत्युमूर्ति प्रजापति के दो अवयव हैं, दोनों मिलकर एक वस्तु है। ऐसी दशा में यदि विकारक्षररूप वेदाभिन्न आत्मक्षर शुक्र है तो आत्मक्षराभिन्न अक्षर भी अवश्य ही शुक्र है। साथ ही में बिना अव्ययालम्बन के अक्षर क्षर भी बीजावस्था में परिणत नहीं होसकते, अतः अक्षर-क्षरवत् स्वयं अव्यय भी शुक्रकोटि में निविष्ट होजाता है। तभी तो-"वही अमृत है, वही ब्रह्म है, वही शुक्र है" यह कहने का साहस किया जाता है। अव्यय ही अक्षर बनता है, वही क्षर बनता है, वही वेदरूप में परिणत होता है। अक्षरतत्व अव्यय के विद्याभाग का विकास है, क्षरतत्व उसी के कर्मभाग का विकास है। वही अपने विद्या-कर्म भाग से वेदरूप से प्रकट होता है। वेद का यत्-(गतितत्व) भाग उसके कर्मभाग का विकास है, जू-(स्थितितत्व) भाग उसी के विद्याभाग का विकास है। कहीं विद्यारूप (अक्षररूप) से, कहीं कर्मरूप (क्षररूप) से, कहीं उभयरूप (वेदरूप) से वही सर्वत्र व्याप्त होरहा है। उससे शून्य कुछ नहीं है, सबकुछ वही है, सब कुछ उसी में है।

उपर्युक्त कथन से यह कहने में कोई आपत्ति नहीं की जासकती कि यजुर्ब्रह्मावच्छिन्न षोडशी पुरुष ही शुक्र है। विश्वसृट्-पञ्चजन-पुरञ्जन आदि बहिरङ्ग अव्यक्तप्रकृति षोडशी के बिना नहीं रह सकती। अव्ययावच्छिन्न अक्षर क्षर ही तो यजुरूप में परिणत होकर बहिरङ्गप्रकृतिरूप में परिणत होते हैं। इस परमार्थदृष्टि से विचार करने पर-"सृष्टिसाक्षी अव्ययगुक्त, अतएव सृष्ट्युन्मुख बीजावस्थापन्न अक्षरक्षर शुक्र है" "एजत् अनेजत् तत्व शुक्र है" इन दोनों वाक्यों में कोई विरोधी नहीं रहता। यही अक्षरावच्छिन्न यजुरूप शुक्र मातरिश्वा द्वारा होने वाले आप के आधान से विश्वरूप में परिणत होता है। विश्वावस्थापन्न वही शुक्रतत्व "अश्वत्थ"

नाम धारण कर लेता है। इस अश्वत्थ के अव्यय के विद्या-कर्मरूप ब्रह्म-कर्म के अनुग्रह से ब्रह्माश्वत्थ कर्माश्वत्थ यह दो भेद होजाते हैं। इनमें ब्रह्माश्वत्थ का निरूपण कठ एवं मुण्डक-भाष्य में द्रष्टव्य है, एवं कर्माश्वत्थ का निरूपण श्राद्धविज्ञान के कर्मगति प्रकरण में हुआ है। शुक्र की आहुति से ही (पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्यवल्शा) का जन्म होता है। शुक्र की सहस्राहुतियों से सहस्रवल्शा-युक्त अश्वत्थ का स्वरूप संपन्न होता है। अश्वत्थ संसार है, इस संसारमहीरूह का बीज शुक्र-तत्व है। शुक्र का अतिक्रमण करना ही मायोपाधिशून्या परामुक्ति है। निष्कामभाव से जो इस अश्वत्थ की उपासना करते हैं, वे ही धीर बुद्धानयोगी चिरकाल के उपासनायोग (बुद्धियोग) से शुक्रयोगी बनते हुए शुक्ररूप विश्वसीमा (मायासीमा) से बाहर निकलने में समर्थ होते हैं-"मामेव ते प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ये"। इसी रहस्य का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

स वेदैतत्परमं ब्रह्मधाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीराः॥

(मुण्डकोपनिषत् ३।२।१)।

अश्वत्थरूप महेश्वर को आप अव्ययादार दृष्टि से अमृत कह सकते हैं, अक्षरामक्षरदृष्ट्या ब्रह्म कह सकते हैं, अक्षरात्मक्षरावच्छिन्नप्रवृद्दृष्टि से शुक्र कह सकते हैं। वही अश्वत्थ अमृत है, वही ब्रह्म है, वही शुक्र है। कुछ भी कहिए-परन्तु उसे महामाया की अन्तिम परिधि तक व्याप्त समझिए। आप को विश्वास करना चाहिए कि शुक्र-ब्रह्म-अमृत इन तीन नामों से पुकारा जानेवाला यह तत्व (मायी महेश्वर) अपने उदर में अनन्त (सहस्र) प्राजापत्य वल्शाएं प्रतिष्ठित रखता हुआ एजदनेजत् रूप से खड़ा हुआ है। इसी 'तद्' विज्ञान का स्पष्टीकरण करते हुए ऋषि कहते हैं—

"ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तदु नात्येति कश्चन।
एतद्वै तत्" [कठ० ६।१।]।

उक्त वचन बीजरूप उसी यजुर्ब्रह्म का निरूपण करता है । वेद को हमनें सृष्टि का मूलाधार बतलाया है, एवं साथ ही में इसे क्षराक्षरात्मक भी कहा है । यद्यपि विश्व में अविद्यारूप (आवरणरूप) कर्मभाग की ही प्रधानता है, परन्तु विश्वनिर्माण बिना विद्या की सहायता के सर्वथा अनुपपन्न है । बिना ज्ञानरूप विद्याके कर्म संभव ही नहीं है। आनन्द-विज्ञान-मन विद्याभाग है, मन-प्राण-वाक् कर्मभाग है । आनन्द विज्ञान के बिना साधारण मनुष्य भी कर्म में प्रवृत्त नहीं होता । आनन्द ही कर्मप्रवृत्ति का मूलस्तम्भ है । यह विद्यारूप ज्ञान अक्षर है, अविद्यारूप कर्म क्षर है। दूसरे शब्दों में अव्यय के विद्याभाग का अनुग्रह अक्षर पर है, एवं कर्मभाग का अनुग्रह क्षर पर है । अतएव उपनिषदोंने अक्षर को विद्या शब्द से, क्षर को अविद्या शब्द से व्यवहृत किया है । दोनों का ईश अव्यय अपनें दोनों भागों से दोनों पर शासन करता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है-

> द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे ।
> क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥
> (श्वेता० उ० ५ । १ ।) ।

-विद्यारूप अक्षर का विकास 'जू' है, कर्मरूप क्षर का विकास 'यत्' है । जूरूप विद्यातत्व अनेजत् है, यत्‌रूप कर्मतत्व एजत् है। एजद् अनेजत् की समष्टिरूप यजुर्ब्रह्म ही शुक्र है । सृष्टिकर्त्ता इस वेदमूर्ति शुक्र को सृष्टि के प्रधान अनुबन्ध का सहारा लेना पड़ता है। यह अनुबन्ध है 'चितिसम्बन्ध' । योग, विभूति, सहचर आदि १३ प्रकार के सम्बन्धों में से ग्रन्थिबन्धन नाम से प्रसिद्ध चितिसम्बन्ध ही सृष्टि का प्रधान अनुबन्ध है । एक वस्तु पर दूसरी वस्तु का चिनाव (लोकप्रसिद्ध'चेजा') ही चिति है । ईंट पर ईंट पर रखने से जैसे एक दुर्ग का स्वरूप बनता है, एवमेव उसी षोडशीरूप आत्मधरातल पर इष्टक (ईंट) रूप भौतिक विकारक्षरों की चिति से विश्वदुर्ग का निर्माण हुआ है । विश्वमूला यह शुक्रचितिबीज, देव, भूत, भेद से तीन भागों में विभक्त है । षोडशी आत्मा पर पहिली बीजचिति है,

बीजचिति पर देवचिति है, देवचिति पर भूतचिति है । तीनों चितियों की समष्टि विश्व है, विश्वचिति का आलम्बन षोडशी विश्वात्मा है, आत्मा और विश्व की समष्टि आत्मन्वी ईश्वर है, इन्हीं दो भावों की समष्टि प्रतिमाप्रजापति है । दोनों की समष्टि ही जीवप्रजापति है, एवं दोनों की समष्टि ही शिपिविष्टप्रजापति है, सर्वत्र प्रजापति का ही साम्राज्य है—"प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किंच" । "त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी" के अनुसार अव्यय (ज्ञानज्योति) अक्षर (कर्मज्योति) क्षर (भूतज्योति) इन तीनों ज्योतियों से वह षोडशी प्रजापति चितित्रयरूप विश्वप्रजा के साथ संयुक्त हो रहा है । महाविश्व ईश्वर का शरीर है हमारा (जीवात्मा) पाञ्चभौतिक शरीर हमारा विश्व है । विश्व सृष्टरूप है, आत्मा प्रविष्टरूप है । दोनों में सृष्टब्रह्म चित्यब्रह्म (मर्त्यब्रह्म) है, प्रविष्ट ब्रह्म चितेनिधेयब्रह्म (अमृतब्रह्म) है । जिसप्रकार प्रविष्टब्रह्म अव्यय-अक्षर-क्षरभेद से त्रिकल है, एवमेव चित्यसृष्टब्रह्म भी बीज-देव-भूत भेद से त्रिकल ही है । षट्कल की समष्टि ही ईश्वर है, षट्कल की समष्टि ही जीव है—"षाट्कौशिकमिदं सर्वम्" । बीजचिति पर अव्यय का अनुग्रह है, देवचिति पर अक्षर का अनुग्रह है, एवं भूतचिति पर क्षर का अनुग्रह है । बीजचिति ज्ञानज्योति है, देवचिति कर्मज्योति है, भूतचिति भूतज्योति है । इन विश्वरूप तीन चित्य ज्योतियों से वह विश्वात्मारूप षोडशी अपनी अव्यय-अक्षर-क्षररूप पूर्वोक्त तीनों ज्योतियों से युक्त होरहा है । वह षोडशी विश्वरूप तीनों ज्योतियों का आधार है, अतएव इसे—'ज्योतिषां ज्योतिः' (विश्व की बीज-देव-भूतरूप तीनों ज्योतियों की ज्योति) कहा जाता है ।

ज्योतिषां ज्योतिः षोडशी विश्वात्मा →→——→ विश्वम्

१-अव्ययः (ज्ञानज्योतिः) ++——→ १-बीजचितिः (ज्ञानज्योतिः)
२-अक्षरः (कर्मज्योतिः) ++——→ २-देवचितिः (कर्मज्योतिः)
३-क्षरः (भूतज्योतिः) ++——→ ३-भूतचितिः (भूतज्योतिः)

} षाट्कौशिकमिदं सर्वम्

(आत्मा) →→→——————→ (शरीरम्)

ईश्वर की अपेक्षा जीवसंस्था हमारे समीप है, अतः प्रथम उसी की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है । अध्यात्मसंस्था में आत्मा और शरीर यह दो विभाग हैं । इनमें आत्मा कौन है ? इसका उत्तर है 'षोडशीपुरुष' । शरीर कौन है ? इसका उत्तर है—'बीज देव—भूत समष्टि' । भूतग्राम, देवग्राम, बीजग्राम की समष्टि ही शरीर है । बीजग्राम को आत्मग्राम कहा जाता है । यह आत्मग्राम उस प्रधान आत्मा से भिन्न है । वह एक है, यह अनेक हैं । यही आत्मग्राम कारणशरीर है, देवग्राम सूक्ष्मशरीर है, भूतग्राम स्थूलशरीर है । कारणशरीर पर सूक्ष्मशरीर, सूक्ष्मशरीर पर स्थूल शरीर प्रतिष्ठित है । तीनों शरीर षोडशी आत्मा पर प्रतिष्ठित हैं । अनेक वस्तुओं के संघ को 'ग्राम' कहा जाता है । आस्तिकदर्शनानुयायी जिसे 'आत्मपरिग्रह' कहते हैं, गीताशास्त्र जिसे 'कूट' कहता है, श्रमणक जिसे 'पुद्गल' कहते हैं, बौद्ध जिसे 'स्तूप' कहते हैं, ज्योतिषी जिसे 'राशि' कहते हैं, लोकव्यवहार में जो 'ढेर' 'थोक'—आदि नामों से प्रसिद्ध है, वही विज्ञानभाषा में 'ग्राम' एवं 'पुर' नाम से व्यवहृत किया जाता है । सिंहादि वन्यपशु समुदाय बनाकर नहीं रहते, अपि तु एकाकी विचरण करते हैं, अत एव इन्हें 'अरण्यपशु' कहा जाता है । अरण्य शब्द जंगलका वाचक नहीं है, अपि तु एकाकी भाव का समर्थक है । इसीलिए एकाकीभाव से सम्बन्ध रखनें वाले उपासना प्रतिपादक वेदभाग को 'आरण्यक' कहा जाता है । उपासना 'अरतिर्जनसंसदि' पर ही निर्भर है । जंगल में शहर की तरह समुदाय नहीं रहता, अतएव जंगल को भी अरण्य कह दिया जाता है । वस्तुतः अरण्य एकत्वभाव का सूचक है । मृग आदि वन्य पशु समुदाय बनाकर रहते हैं, इसी समुदायरूप ग्रामभाव के कारण मृगादि को 'ग्राम्यपशु' कहा जाता है । बस्ती में समुदाय की प्रधानता रहती है, अत एव बस्ती को भी ग्राम कह दिया जाता है । वस्तुतः ग्राम 'संघ' का वाचक है । "पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये" (यजुः सं. ३१ अ. । ६ मं. ।) में आरण्य—ग्राम्यपशु का यदि कोई—"जंगल में रहनें वाले पशु, एवं ग्राम में रहनें वाले पशु" यह अर्थ करें तो विज्ञानदृष्टि से उक्त अर्थ सर्वथा अनर्थकोटि में गिना जायगा । "सिंहादि आरण्यपशु हैं, मृगादि ग्राम्यपशु हैं" यही अर्थ समीचीन होगा । बतलाना यही है कि

आध्यात्मिकसंघ के लिए 'ग्राम' शब्द प्रयुक्त हुआ है, एवं आधिदैविकसंघ के लिए 'पुर' शब्द प्रयुक्त हुआ है। महाविश्वरूप ईश्वर का शरीर 'पुर' कहलाता है। पुर के सम्बन्ध से ही वह 'पुरुष' कहलाता है। एवं क्षुद्रशरीररूप जीव का विश्व 'ग्राम' कहलाता है। इसी ग्राम के सम्बन्ध से इसे 'निकाय' किंवा 'काय' कहा जाता है। अनेक वस्तुओं की समष्टि 'ग्राम' है, एवं अनेक ग्रामों की समष्टि 'निकाय' है। भूत पांच हैं, अतएव इन भूतों की समष्टि को हम 'ग्राम' कह सकते हैं। इसी प्रकार पांच देवताओं की समष्टिरूप देवग्राम भी ग्राम है, आत्मग्राम भी ग्राम है। शरीर में तीन ग्राम हैं, अत एव इसे 'निकाय' कहा जासकता है। यही 'निकायछन्द' है-(देखिए शत. ब्रा. ८।५।१।१)। निकाय ही काय है, काय ही शरीर है। पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश यह सुप्रसिद्ध पांचोंभूत ही भूतग्राम है, यही स्थूलशरीर है। इसी का दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि कहते हैं—

> "पञ्चात्मकमिति कस्मात्? पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति। अस्मिन् पञ्चात्मके शरीरे का पृथिवी? का आपः? को वायुः? किमाकाशम्? इति। अस्मिन् पञ्चात्मके शरीरे तत्र यत् कठिनं सा पृथिवी, यद् द्रवं ता आपः यदुष्णं तत्तेजः, यत् संचरति स वायुः, यत् सुषिरं तदाकाशम्-इत्युच्यते"
>
> (गर्भोपनिषत्)

अस्थि-मांसादि घन धातु पृथिवी है, कफ-लाला-स्वेद-मूत्र-रुधिर-रस आदि तरल धातु पानी है, शरीर को छूने से जिस ऊष्मा (गरमी) का अनुभव होता है वह तेज है, श्वास प्रश्वास वायु है, शरीर में जितना रिक्त (पोल) भाग है, वह सब आकाश है, यही तात्पर्य है। इसी आकाशने एक दूसरे भूतों को पृथक् बना रक्खा है। यदि व्यवधान (अन्तर) न होता तो सारे धातु मिलकर एकरूप होजाते। यह हड्डी है, यह मांस है, यह त्वचा है, यह भिन्न भिन्न नाम-रूप-व्यवहार नष्ट होजाते। इसी अभिप्राय से—'आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता' यह कहा जाता है। वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्र-मन-इन पांचों इन्द्रियों की समष्टि ही देवग्राम

है। दार्शनिक ११ इन्द्रियों का इन्हीं वैदिक पांच इन्द्रियों में अन्तर्भाव है[1]। वाक् अग्निदेवता है, प्राण वायुदेवता है, चक्षु आदित्य है, श्रोत्र दिक्सोम है, मन भास्वरसोम है—(देखिए ऐ० उ० १ खं०)। इन देवताओं के सम्बन्ध से ही इन्द्रियग्राम देवग्राम कहलाता है, इसी को सूक्ष्मशरीर कहते हैं। तीसरा है बीजग्राम। यह सब में प्रधान है, यही हमारा सुपरिचित 'शुक्र' है। इस शुक्रग्राम किंवा बीजग्राम में विद्या-प्रज्ञा-कर्म यह तीन तत्व प्रतिष्ठित रहते हैं। ज्ञानजनित भावना संस्कार विद्या है, कर्मजनित वासना संस्कार कर्म है, चिदाधार तत्त्व प्रज्ञा है। यह भावना वासना संस्कार ही जन्म का हेतु है। अतएव एतद्रूप ग्राम को बीज-शुक्र आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है। यही जन्म स्थिति भंग का कारण है, अतएव शुक्ररूप इस बीजचिति को कारणशरीर कहा जाता है। इसी विद्याकर्मरूप शुक्र को जन्म का आरम्भक माना जाता है। इसी अभिप्राय से "तं विद्याकर्मणी अन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च" (शत० १४ कां० ७।२।३।) यह कहा जाता है। शुक्रगत प्रज्ञाभाग पर ही चिदंश का प्रतिबिम्ब पड़ता है। दूसरे शब्दों में चिदाभास (चित् का प्रतिबिम्ब) नाम से प्रसिद्ध जीवात्मा का जन्मदाता यही शुक्रगत प्रज्ञा (सोम) भाग है इसीलिए प्रज्ञामूर्त्ति इस शुक्र को आत्मग्राम कहा जाता है। पांच भूतों के सम्बन्ध से एक ही प्रज्ञा पांच भागों में विभक्त होजाती है। इस प्रकार ५ भूतमात्रा, ५ प्राणमात्रा, (इन्द्रिएं), ५ प्रज्ञामात्रा, २ विद्या और कर्म-इन १७ वस्तुओं की राशि से वह आत्मा नित्य युक्त रहता है, जैसा कि अभियुक्त कहते हैं।

> कर्म्मात्मारपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते।
> स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते च सः॥
> (म० शान्तिप० मो० ३५१ अ० १६ श्लो०)

बीज-देव-भूत की समष्टि आत्मप्रपत्ति का कारण बनती हुई 'पद्म'[2] नाम से प्रसिद्ध है।

१. इस विषय का विशद विवेचन शतपथविज्ञानभाष्य में देखना चाहिए।
२. 'यत्र आत्मा प्रपद्यो भवति तत् पद्मम्' इस निर्वचन के अनुसार आत्मा का प्रपत्तिस्थान (निवासस्थान) ही 'पद्म' नाम से व्यवहृत होता है।

आध्यात्मिकसंघ के लिए 'ग्राम' शब्द प्रयुक्त हुआ है, एवं आधिदैविकसंघ के लिए 'पुर' शब्द प्रयुक्त हुआ है। महाविश्वरूप ईश्वर का शरीर 'पुर' कहलाता है। पुर के सम्बन्ध से ही वह 'पुरुष' कहलाता है। एवं क्षुद्रशरीररूप जीव का विश्व 'ग्राम' कहलाता है। इसी ग्राम के सम्बन्ध से इसे 'निकाय' किंवा 'काय' कहा जाता है। अनेक वस्तुओं की समष्टि 'ग्राम' है, एवं अनेक ग्रामों की समष्टि 'निकाय' है। भूत पांच हैं, अतएव इन भूतों की समष्टि को हम 'ग्राम' कह सकते हैं। इसी प्रकार पांच देवताओं की समष्टिरूप देवग्राम भी ग्राम है, आत्मग्राम भी ग्राम है। शरीर में तीन ग्राम हैं, अत एव इसे 'निकाय' कहा जासकता है। यही 'निकायछन्द' है-(देखिए शत. ब्रा. ८।५।२।४)। निकाय ही काय है, काय ही शरीर है। पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश यह सुप्रसिद्ध पांचोंभूत ही भूतग्राम है, यही स्थूलशरीर है। इसी का दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि कहते हैं—

> "पञ्चात्मकमिति कस्मात्? पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति। अस्मिन् पञ्चात्मके शरीरे का पृथिवी? का आपः? को वायुः? किमाकाशम्? इति। अस्मिन् पञ्चात्मके शरीरे तत्र यत् कठिनं सा पृथिवी, यद् द्रवं ता आपः यदुष्णं तत्तेजः, यत् संचरति स वायुः, यत् सुषिरं तदाकाशम्-इत्युच्यते"
>
> (गर्भोपनिषत्)

अस्थि-मांसादि घन धातु पृथिवी है, कफ-लाला-स्वेद-मूत्र-रुधिर-रस आदि तरल धातु पानी है, शरीर को छूने से जिस ऊष्मा (गरमी) का अनुभव होता है वह तेज है, श्वास प्रश्वास वायु है, शरीर में जितना रिक्त (पोल) भाग है, वह सब आकाश है, यही तात्पर्य है। इसी आकाशने एक दूसरे भूतों को पृथक् बना रक्खा है। यदि स्पर्शस्थान (अन्तर) न होता तो सारे धातु मिलकर एकरूप होजाते। यह हड्डी है, यह मांस है, यह त्वचा है, यह भिन्न भिन्न नाम-रूप-व्यवहार नष्ट होजाते। इसी अभिप्राय से—'आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता' यह कहा जाता है। वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्र-मन-इन पांचों इन्द्रियों की समष्टि ही देवग्राम

है। दार्शनिक ११ इन्द्रियों का इन्ही वैदिक पांच इन्द्रियों में अन्तर्भाव है। वाक् अग्निदेवता है, प्राण वायुदेवता है, चक्षु आदित्य है, श्रोत्र दिक्सोम है, मन भास्वरसोम है–देखिए ऐ० उ० १ सं०)। इन देवताओं के सम्बन्ध से ही इन्द्रियग्राम देवग्राम कहलाता है, इसी को सूक्ष्मशरीर कहते हैं। तीसरा है बीजग्राम। यह सब में प्रधान है, यही हमारा सुपरिचित 'शुक्र' है, । इस शुक्रग्राम किंवा बीजग्राम में विद्या-प्रज्ञा-कर्म यह तीन तत्व प्रतिष्ठित रहते हैं। ज्ञानजनित भावना संस्कार विद्या है, कर्मजनित वासना संस्कार कर्म है, चिदाधार तत्व प्रज्ञा है। यह भावना वासना संस्कार ही जन्म का हेतु है। अतएव एतद्रूप ग्राम को बीज-शुक्र आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है। यही जन्म स्थिति भंग का कारण है, अतएव शुक्ररूप इस बीजचिति को कारणशरीर कहा जाता है। इसी विद्याकर्मरूप शुक्र को जन्म का आरम्भक माना जाता है। इसी अभिप्राय से "तं विद्याकर्मणी अन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च" (शत० १४ कां० ७।२।३) यह कहा जाता है। शुक्रगत प्रज्ञाभाग पर ही चिदंश का प्रतिबिम्ब पड़ता है। दूसरे शब्दों में चिदाभास (चित् का प्रतिबिम्ब) नाम से प्रसिद्ध जीवात्मा का जन्मदाता यही शुक्रगत प्रज्ञा (सोम) भाग है इसीलिए प्रज्ञामूर्त्ति इस शुक्र को आत्मग्राम कहा जाता है। पांच भूतों के सम्बन्ध से एक ही प्रज्ञा पांच भागों में विभक्त होजाती है। इस प्रकार ५ भूतमात्रा, ५ प्राणमात्रा, (इन्द्रियें), ५ प्रज्ञामात्रा, २ विद्या और कर्म–इन १७ वस्तुओं की राशि से यह आत्मा नित्य युक्त रहता है, जैसा कि अभियुक्त कहते हैं।

कर्म्मोन्मादपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते।
स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते च सः॥
(म० शान्तिप० मो० ३५१ अ० १६ श्लो०)

बीज-देव-भूत की समष्टि आत्मप्रपत्ति का कारण बनती हुई 'पद्म' नाम से प्रसिद्ध है।

१ इस विषय का विशद विवेचन शतपथविज्ञानभाष्य में देखना चाहिए।

२-'यत्र आत्मा प्रपन्नो भवति तत् पद्मम्' इस निर्वचन के अनुसार आत्मा का प्रपत्तिस्थान (निवासस्थान) ही 'पद्म' नाम से व्यवहृत होता है।

पुरुष
१–अव्यय.
२–अक्षरः .... आत्मा
३–आत्मक्षरः

——o——

महिमारूप पुनःपद को महतोमहीयान् कहा जाता है, एवं सर्वान्तरतम सूक्ष्मतम आत्मतत्त्व के लिए 'अणोरणीयान्' कहा जाता है। महिमयुक्त शरीरत्रयी कर्मप्रधान है, आत्मा ज्ञानप्रधान है। ज्ञान शान्त है, निष्क्रिय है। इस ज्ञानप्रधान आत्मा के लिए उपनिषदों में 'अकृत' शब्द प्रयुक्त हुआ है, एवं कर्मप्रधान शरीर के लिए 'कृत' शब्द प्रयुक्त हुआ है। जब तक कृत का (शरीर का) आश्रय है, तब तक अकृत (आत्मा) बन्धन में है। कृत अकृत को कभी उपकृत नहीं कर सकता, जैसा कि—'नास्त्यकृतः कृतेन' इत्यादि उपनिषद्वचनों से स्पष्ट है।

उक्त तीनों चितियों में से बीजचिति ही जीवसृष्टि का कारण है, एवं वही ईश्वरसृष्टि का कारण है, यह कहा जाचुका है। इसी कारणता को बतलानें के लिए ऋषिनें इस का नाम कारणशरीर रक्खा है। जबतक शुक्ररूप कारणशरीर है, तब तक न जीव की मुक्ति है, एवं न (मायाविमोकलक्षणा) ईश्वर की मुक्ति है। दूसरे शब्दो में शुक्र का अतिवर्त्तन ही मुक्ति का कारण है। विज्ञानदृष्टि से शुक्र का स्वरूप देखिए। कारण ही बीज है। इसे शुक्र, काम, कर्म इन तीन शब्दों से पुकारा जासकता है। क्योंकि काम-कर्म-शुक्र तीनों की समष्टि ही बीजचिति है। यह तीनों सृष्टि के साधारण अनुबन्ध है। दूसरे शब्दों में त्रिकल बीजचिति के बिना कोई भी सृष्टिकर्म सम्भव नहीं है। प्रत्येक सृष्टि में तीनों नित्य अपेक्षित हैं। सृष्टिकर्म का अव्यय के सृष्टिसाक्षी मन-प्राण-वाक् भाग से सम्बन्ध है। जब तक इन तीनों कलाओं का समन्वय नहीं होजाता, तबतक सृष्टि ही क्या, संसार का कोई भी कर्म नहीं होसकता। मन से काम का, प्राण से कर्म का, एवं वाक् से शुक्र का उदय होता है। इन तीनों में सृष्टि का पहिला बीज काम है, कर्म दूसरा बीज है, शुक्र तीसरा बीज है। ईश्वर जैसा चाहता है, वैसा कर्म करता है, एवं उस कर्म से वैसी ही वस्तु उत्पन्न हो जाती है। "कामस्तदग्रेसमवर्त्तताधि मनसो रेतः

प्रथमं यदासीत्" (नासदीयसूक्त) के अनुसार काम ही प्रथम बीज है । काम के होते ही कर्म [प्राणव्यापार] हो पड़ता है, कर्म से वाग्व्यापार होता है, नई वस्तु उत्पन्न होजाती है । काम ज्ञानशक्ति है, कर्म क्रियाशक्ति है, शुक्र अर्थशक्ति है । शुक्ररूप अर्थ ही पदार्थों का उपादान बनता है, अत: हम प्रधानबीज शुक्र को ही कहेंगे, काम कर्म को सहकारी कारण कहेंगे ।

पूर्व कथनानुसार दार्शनिकों ने भावनावासनारूप संस्कार को ही सृष्टि का बीज माना है । यह संस्कार जीवसृष्टि का बीज अवश्य होसकता है, परन्तु ईश्वरसृष्टि का नहीं । क्योंकि वह संस्कारलेप से पृथक् है । सतत ज्ञान-कर्मानुष्ठान में रत रहने पर भी उसपर (अनासक्तिभाव के कारण) संस्कारों का लेप (आवरण) नहीं होने पाता । उधर काम-कर्म-शुक्ररूप बीज जीववत् ईश्वर से भी सम्बन्ध रखता है, जैसा कि "सोऽकामयत, स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत्" इत्यादि से स्पष्ट है । ईश्वरवत् आधिकारिक जीवों के साथ भी संस्काररूप बीज घटित नहीं होता । ईश्वर-आधिकारिकजीव-यथाजातजीव-इतर अवान्तर सृष्टिएं इन सब के साथ समानरूप से युक्त रहने वाले बीज का तो-'काम-कर्म-शुक्रमयत्वं बीजत्वम्' यही लक्षण करना पड़ेगा । प्रकृतमन्त्र में शुक्र शब्द से यही सामान्य बीज अभिप्रेत है । जीवसृष्टि के लिए दार्शनिकों ने "भावना-वासना-संस्कारत्वं-बीजत्वम्" जो यह लक्षण माना है, वहां भी वैज्ञानिकों के काम-कर्म-शुक्र बीज का समन्वय हो रहा है। अपेक्षाबुद्धि से कर्म करने पर प्रज्ञानात्मा पर संस्कार हो जाता है । उस संस्कार के अभिक्रम-प्रक्रम दो विभाग है । तादर्थ्यकर्म प्रक्रम है, पुरुषार्थकर्म अभिक्रम है । आप अपने मकान से रामनिवास बाग जाते हैं । रामनिवास बाग पहुंच जाना पुरुषार्थकर्म है । इसकी सिद्धि के लिए आपको पिछला पैर उठाकर आगे रखना-इस क्रम से अवान्तर गतिरूप अनेक कर्म करने पड़ते हैं । यह सब अवान्तर गतिकर्म प्रक्रम हैं । लोकभाषा में जिसे 'पांवड़ा' (पैरों की गति की एक सीमा) कहते है, वही प्रक्रम है । यही प्रक्रम तादर्थ्यकर्म है । अनेक प्रक्रमों से एक अभिक्रम का स्वरूप संपन्न होता है । हम अपने जीवन में अनेक अभिक्रम संपादित कर देते हैं । खाना-पीना-सोना-चलना-द्रव्योपार्जन-अध्ययन-आदि सहस्रों अभिक्रम कर्म हैं । इन सब की समष्टि

पुरुषाः
१–अव्ययः
२–अक्षरः
३–आत्मक्षरः
} .... आत्मा

———o———

महिमारूप पुनःपद को महतोमहीयान् कहा जाता है, एवं सर्वान्तरतम सूक्ष्मतम आत्मतत्त्व के लिए 'अणोरणीयान्' कहा जाता है। महिमयुक्त शरीरत्रयी कर्मप्रधान है, आत्मा ज्ञानप्रधान है। ज्ञान शान्त है, निष्क्रिय है। इस ज्ञानप्रधान आत्मा के लिए उपनिषदों में 'अकृत' शब्द प्रयुक्त हुआ है, एवं कर्मप्रधान शरीर के लिए 'कृत' शब्द प्रयुक्त हुआ है। जब तक कृत का (शरीर का) आश्रय है, तब तक अकृत (आत्मा) बन्धन में है। कृत अकृत को कभी उपकृत नहीं कर सकता, जैसा कि—'नास्त्यकृतः कृतेन' इत्यादि उपनिषद्वचनों से स्पष्ट है।

उक्त तीनों चितियों में से बीजचिति ही जीवसृष्टि का कारण है, एवं वही ईश्वरसृष्टि का कारण है, यह कहा जाचुका है। इसी कारणता को बतलाने के लिए ऋषिने इस का नाम कारणशरीर रक्खा है। जबतक शुक्ररूप कारणशरीर है, तब तक न जीव की मुक्ति है, एवं न (मायाविमोकलक्षणा) ईश्वर की मुक्ति है। दूसरे शब्दों में शुक्र का अतिवर्तन ही मुक्ति का कारण है। विज्ञानदृष्टि से शुक्र का स्वरूप देखिए। कारण ही बीज है। इसे शुक्र,काम, कर्म इन तीन शब्दों से पुकारा जासकता है। क्योंकि काम-कर्म-शुक्र तीनों की समष्टि ही बीजचिति है। यह तीनों सृष्टि के साधारण अनुबन्ध हैं। दूसरे शब्दोंमें त्रिकल बीजचिति के बिना कोई भी सृष्टिकर्म संभव नहीं है। प्रत्येक सृष्टि में तीनों नित्य अपेक्षित हैं। सृष्टिकर्म का अव्यय के सृष्टिसाक्षी मन-प्राण-वाक् भाग से सम्बन्ध है। जब तक इन तीनों कलाओं का समन्वय नहीं होजाता, तबतक सृष्टि ही क्या, संसार का कोई भी कर्म नहीं होसकता। मन से काम का, प्राण से कर्म का, एवं वाक् से शुक्र का उदय होता है। इन तीनों में सृष्टि का पहिला बीज काम है, कर्म दूसरा बीज है, शुक्र तीसरा बीज है। ईश्वर जैसा चाहता है,वैसा कर्म करता है, एवं उस कर्म से वैसी ही वस्तु उत्पन्न हो जाती है। "कामस्तदग्रेसमवर्त्तताधि मनसो रेतः

प्रथमं यदासीत्" (नासदीयसूक्त) के अनुसार काम ही प्रथम बीज है । काम के होते ही कर्म [प्राणव्यापार] हो पड़ता है, कर्म से वाग्व्यापार होता है, नई वस्तु उत्पन्न होजाती है । काम ज्ञानशक्ति है, कर्म क्रियाशक्ति है, शुक्र अर्थशक्ति है । शुक्ररूप अर्थ ही पदार्थों का उपादान बनता है, अत. हम प्रधानबीज शुक्र को ही कहेंगे, काम कर्म को सहकारी कारण कहेंगे ।

पूर्व कथनानुसार दार्शनिकों नें भावनावासनारूप संस्कार को ही सृष्टि का बीज माना है । यह संस्कार जीवसृष्टि का बीज अवश्य होसकता है, परन्तु ईश्वरसृष्टि का नहीं । क्योंकि वह संस्कारलेप से पृथक् है । सतत ज्ञान-कर्मानुष्ठान में रत रहनें पर भी उसपर (अनासक्तिभाव के कारण) संस्कारों का लेप (आवरण) नहीं होनें पाता । उधर काम-कर्म-शुक्ररूप बीज जीववत् ईश्वर से भी सम्बन्ध रखता है, जैसा कि "सोऽकामयत, स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत" इत्यादि से स्पष्ट है । ईश्वरवत् आधिकारिक जीवों के साथ भी संस्काररूप बीज घटित नहीं होता । ईश्वर-आधिकारिकजीव-यथाजातजीव-इतर अवान्तर सृष्टिएं इन सब के साथ समानरूप से युक्त रहनें वाले बीज का तो-'काम-कर्म-शुक्रमयत्वं बीजत्वम्' यही लक्षण करना पड़ेगा । प्रकृतमन्त्र में शुक्र शब्द से यही सामान्य बीज अभिप्रेत है । जीवसृष्टि के लिए दार्शनिकों नें "भावना-वासना-संस्कारत्वं-बीजत्वम्" जो यह लक्षण माना है, वहां भी वैज्ञानिकों के काम-कर्म-शुक्र बीज का समन्वय हो रहा है। अपेक्षाबुद्धि से कर्म करनें पर प्रज्ञानात्मा पर संस्कार हो जाता है । उस संस्कार के अभिक्रम-प्रक्रम दो विभाग है । कर्त्तव्यकर्म प्रक्रम है, पुरुषार्थकर्म अभिक्रम है । आप अपनें मकान से रामनिवास बाग जाते हैं । रामनिवास बाग पहुंच जाना पुरुषार्थकर्म है । इसकी सिद्धि के लिए आपको पिछला पैर उठाकर आगे रखना-इस क्रम से अवान्तर गतिरूप अनेक कर्म करनें पड़ते हैं । यह सब अवान्तर गतिकर्म प्रक्रम हैं । लोकभाषा में जिसे 'पांवड़ा' (पैरों की गति की एक सीमा) कहते है, वही प्रक्रम है । यही प्रक्रम कर्त्तव्यकर्म है । अनेक प्रक्रमों से एक अभिक्रम का स्वरूप संपन्न होता है । हम अपनें जीवन में अनेक अभिक्रम संपादित कर देते हैं । खाना-पीना-सोना-चलना-द्रव्योपार्जन-अध्ययन-आदि सहस्रों अभिक्रम कर्म हैं । इन सब को समष्टि

व्यूह' (कर्मव्यूह) नाम से प्रसिद्ध है। अनेक प्रक्रमों से एक अभिक्रम का, अनेक अभिक्रमों से एक व्यूह का स्वरूप बनता है। यह कर्मव्यूह संस्काररूप से आत्मा में प्रतिष्ठित रहता है। निवृत्तिकर्म से प्रारब्ध अभिक्रम कर्म को छोड़कर शेष सारा कर्मव्यूह निवृत्त होजाता है। प्रारब्धकर्मरूप अभिक्रम कर्म की भोग से ही निवृत्ति होती है—"नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति"। कहना यही है कि कर्मासक्त मनुष्य कर्मव्यूह से उत्पन्न कर्मसन्तान के आवापोद्वापरूप धारा-बल से जन्म मरण के चक्र में फंसा रहता है। ऐसे ही जीव—**आभवस्थिक** जीव कहलाते हैं। दूसरा विभाग '**आधिकारिकजीव**' का है। इनके **ब्रह्माश्वस्थिक-नियतकर्माश्वस्थिक** भेद से दो भेद हैं। ब्रह्माश्वस्थिक जीव जड हैं। सूर्य-परमेष्ठी-चन्द्रमा-पृथिवी-नक्षत्र आदि ईश्वराङ्गभूत जड आधिकारिक जीव '**ब्रह्माश्वस्थिक**' हैं। यह अपनें अपनें नियत अधिकार से अधिष्ठित हैं। नियतकर्माश्वस्थिक जीव चेतन हैं। इन के भी नित्य-सामयिक भेद से दो विवर्त हैं। ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र-इन्द्र-वरुण-कुबेर-अग्नि-वायु-सोम-गन्धर्व आदि चेतन देवता (जो कि देवताविज्ञान के अनुसार-आत्माभिमानीदेवता[1] नाम से प्रसिद्ध हैं) नित्य नियतकर्माश्वस्थिक जीव हैं। इन देवताओं के अवतार, एवं राम-कृष्ण आदि अवतार सामयिक नियतकर्माश्वस्थिकजीव हैं। जिस उद्देश्य से अवतार होता है, उद्देश्य समाप्ति के अनन्तर अवतार-पुरुष लीलासंवरण कर जाते हैं, इसी अभिप्राय से नारायणावतार भगवान् व्यास कहते हैं-"यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्" (शा० सू० ३। ३। ३२।)।

प्राकृतिक नियमों में मनुष्यसमाज के प्रज्ञापराध से जब परिवर्तन होनें लगता है तो प्रकृति क्षुब्ध हो पड़ती है। इस क्षोभ के आघात से तत्सम्बद्ध व्यापक चिदात्मा का एक भाग प्रवर्ग्य बनकर क्षुब्ध वातावरण को शान्त करनें के लिए जीव बनजाता है। वही आधिकारिकजीव अवतार कहलाता है। प्रकृति देवभेद से विभक्त है। यद्विषयक क्षोभ होता है, तत्प्रधान ही

[1] 'अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्,, (शा० सू० २।१।५)। इस विषय का विशद विवेचन ब्रह्मसूत्र विज्ञानभाष्य में देखना चाहिये।

अवतार होता है। प्राकृतिक नियमसंघ ही धर्म है, धर्मविप्लव ही अवतार का कारण है। इसी अवतारविज्ञान को लक्ष्य में रखकर पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध अव्ययपुरुष के अवतारभूत अतएव पुरुषोत्तम नाम से ही उपगीत, अतएव पूर्णावतार भगवान् कृष्ण कहते हैं—

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत !
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहं ॥
> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
> धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ (गीता० ४।७-८)।

अस्तु इस अप्राकृत विषय को हम अधिक बढ़ाना नहीं चाहते। यहां हमें कर्माश्रयिक चेतन जीवों के विषय में कहना है। संस्कार कर्मरूप हैं, कर्म बिना कामना के असंभव हैं। कामना से कर्म होता है, तज्जनित संस्कारपुञ्ज ही शुक्र है, यही बीज है। पूर्वसंचितशुक्र [कर्म] का भोग होता रहता है, आगे आगे नवीन नवीन संचय होता रहता है। आसक्तिभावना से जीव बंधन में आजाता है, अनासक्तयोगी ईश्वर 'कुर्वन्नपि न लिप्यते'। मनप्राणवाक् की समष्टि अविद्यात्मय है। काम-कर्म-शुक्र कहो, अथवा अविद्या कहो, एक ही बात है। इसी आधार पर काम-कर्म-शुक्रमूल विश्व को अविद्यामूल कहा जाता है। अक्षर विद्या है, क्षर अविद्या है—(देखिए रवे० उ० ५। १)। क्षर की प्राण कला ही यजुरूप में परिणत होती है, ऐसी स्थिति में अन्ततोगत्वा शुक्रतत्व का ब्रह्माग्निरूप यजुर्ब्रह्म पर ही पर्यवसान मानना पड़ता है। शुक्र को पूर्व के चितिप्रकरण में हमने वाक्प्रधान बतलाया है। यह वाक् ही आगे जाकर आप-अग्निरूप में परिणत होती हुई त्रिकल बनजाती है। इसी आधार पर पूर्व की शुक्र-निरुक्ति में शुक्र शब्द से वाक्-आप-अग्नि तीनों का ग्रहण किया है।

१—मनः—काममयम् (इच्छाशक्तिः)—कामः (इच्छा)	अविद्यात्मकं शुक्रम्
२—प्राणः—कर्ममयः (क्रियाशक्तिः)—क्रिया (तपः)	
३—वाक्—शुक्रमयी (अर्थशक्तिः)—आवरणम्(श्रमः)	

१. इस विषय का विशद विवेचन गीताविज्ञानभाष्य के आचार्य रहस्य में देखना चाहिए।

आपके सर्वाङ्ग शरीर में काम है, कर्म भी है, शुक्र भी है। परन्तु इन तीनों के अवयव ही कार्यरूप में परिणत होते हैं, इच्छा-कर्म-शुक्र तीनो का नियत भाग ही उपादान बनता है। यही परिस्थिति मायावच्छिन्न महेश्वर के शरीर में समझिए। ईश्वर के किसी नियत प्रदेश में ही सृष्टिमूला कामना का उदय होता है, उसी प्रदेश में कर्म का उदय होता है, एवं वही शुक्र विश्व का उपादान बनता है। ईश्वर का शरीर गोलाकार है, वह सर्वतः पाणिपाद, सर्वतोऽक्षिशिरोमुख है। जहा तक महेश्वर व्याप्त है, वहीं तक ब्रह्मरूप शुक्र, एवं सुब्रह्मरूप रेत व्याप्त है। वह कामनाओं का समुद्र है। कामभेद से कर्म, कर्मभेद से शुक्रभेद होजाता है। नियतकाम-कर्मावच्छिन्न नियतशुक्र नियतविश्व का उपादान बनता है। उस में कामभेद से अनन्त शुक्र हैं। जितने शुक्र हैं, उतने ही विश्व हैं। एक एक विश्व का उत्पादक एक एक शुक्र है। अनन्त ब्रह्माधिष्ठाता महेश्वर अश्वत्थ प्रजापति है। उसका पञ्चपर्वा एक एक विश्व एक एक पद्मपुण्डीरा प्राजापत्य वल्शा है। व्यापक अमायी परात्पर में माया के उदय से अश्वत्थेश्वर का उदय होता है। माया अनन्त हैं, अतएव मायीमहेश्वर भी अनन्त हैं। प्रत्येक मायी महेश्वर (अश्वत्थ) के उदर में अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। परात्पर एक है, आगे का सारा प्रपञ्च अनन्त है। यद्यपि परात्पर भी अनन्त है, परन्तु इस की अनन्तता दिग्देशकालानवच्छेद से सम्बन्ध रखती है, महेश्वरादि की अनन्तता सङ्ख्या से सम्बन्ध रखती है। इस प्रकार यह सर्वविभूति अनन्त है, सत्य है, ज्ञानमूर्त्ति है-"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"। परात्पर असीम है। इसी असीमभाव को सूचित करने के लिए उसे परात्पर (ससीम पर नामक अव्यय से भी पर-असीम) नाम से व्यवहृत किया जाता है। जिस प्रकार एक पट (वस्त्र) में ससीम अनन्त गोलाकार विन्दुएं प्रतिष्ठित रहतीं हैं, एवमेव उस असीम परात्पर धरातल में गोलाकार अनन्त मायी महेश्वर प्रतिष्ठित हैं। इस विषय का विशद विवेचन ईशभाष्य प्रथम खण्ड में विस्तार से किया जाचुका है-(देखिए ई. भा. प्र. २५५ से २६४)। प्रत्येक मायी महेश्वर अश्वत्थमूर्त्ति है। अश्वत्थ ऊर्ध्वमूल माना जाता है। वर्तुलवृत्त का केन्द्र प्रधि (परिधि) से ऊर्ध्व माना जाता है। उस ऊर्ध्वमूलरूप केन्द्र विन्दु से चारों ओर प्रधि पर्यन्त सहस्र शाखाएं निकलीं

हैं। प्रत्येक शाखा में स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, पृथिवी, चन्द्रमा यह पांच पांच पुण्डीर (पर्व-पोर) हैं। उपक्रम में पुण्डीर स्वयम्भू है, उपसंहार में चन्द्रमा है, अतएव चान्द्रब्रह्म को 'निधन' (अवसानस्थानीय) कहा जाता है। यही सब भाव मायी महेश्वर के स्वरूप परिचायक हैं। यही परिस्थिति इतर महेश्वरों की समझनी चाहिए। तीसरा विवर्त्त क्लेशेश्वर का है। स्वयम्भू की महिमा में समहिम परमेष्ठी, परमेष्ठी की महिमा में समहिम सूर्य, सूर्य की महिमा में समहिम पृथिवी, एवं पृथिवी की महिमा में समहिम चन्द्रमा प्रतिष्ठित है। यही स्वयम्भू सप्तलोकाधिष्ठाता ईश्वर प्रजापति है—(देखिए ई. वि. प्र. ३७८)।

अब तक के सन्दर्भ से यह भलीभांति सिद्ध होजाता है कि मायी महेश्वर में सर्वत्र एकरूप से यजुर्महाग्नि भरा हुआ है। महेश्वर का कोई भी प्रदेश इस से शून्य नहीं है। एवमेव उसी प्रदेश में सुब्रह्म आप (सोम) भरा हुआ है, इससे भी कोई स्थान रिक्त नहीं है। दोनों ही मायावच्छेदेन महेश्वर की तरह व्यापक हैं। इस व्यापक महेश्वर के धरातल पर प्रतिष्ठित व्यापक ब्रह्म-सुब्रह्म के जिस प्रदेश में कामना का उदय होता है, उतने प्रदेश में कर्मजनित क्षोभ से एक नया सीमाभाव उत्पन्न होता है। महामाया के उदर में उत्पन्न होनें वाले इसी सीमाभाव को 'योगमाया' कहा जाता है। इसकी जननी अशनाया (बुभुक्षा) है। अशनाया के अधिष्ठाता विष्णु हैं, अतएव तन्मूलिका योगमाया को—"योगमाया हरेश्चैतव तथा संमोह्यते जगत्" इत्यादि रूपसे विष्णुमाया कहा जाता है। कामजनित सीमावच्छिन्न (योगमायावच्छिन्न) उस नियत प्रदेश से परिच्छिन्न वह यजुर्ब्रह्म (यजुर्ब्रह्म का अंश) ही सृष्टि की योनि बनता हुआ शुक्र नाम धारण करलेता है, एवं उसी सीमित प्रदेश का सुब्रह्म (आप) भाग रेत नाम धारण करलेता है। ब्रह्मात्मकशुक्र में इसी सुब्रह्मात्मकरेत का रेतोधा मातरिश्वा द्वारा आधान होता है।

'अनेजदेकम्॰' का अर्थ करते समय हमनें सुब्रह्म (आप) युक्त ब्रह्म को शुक्र बतलाया था, यहां केवल यजुर्ब्रह्म को तो शुक्र, एवं सुब्रह्म को रेत बतलाया जारहा है। वहां शुक्र-रेतरूप ब्रह्म में सुब्रह्म की समष्टि को शुक्र बतलाने का कारण यह था कि साधारण मनुष्य शुक्र

को ही उत्पत्ति का कारण समझते हैं। इन की दृष्टि में शुक्र शब्द का अर्थ उपादानकारण है, एवं यह दृष्टि किसी सीमा तक ठीक भी कही जासकती है। उपादान न केवल ब्रह्म है, न केवल सुब्रह्म। अपि तु दोनों की समष्टि उपादान है। इसी साधारण दृष्टि का सम्मान करते हुए, शुक्र का उपादान अर्थ मानते हुए हमनें दोनों के समुच्चय को यहां शुक्रशब्द से व्यवहृत करदिया था। वस्तुतः विज्ञानदृष्ट्या शुक्र केवल ब्रह्माग्नि का वाचक है, एवं रेत केवल सुब्रह्म का वाचक है। इस रेत का आधान हुआ, इससे स्वयम्भू का स्वरूप निष्पन्न हुआ। यही शुक्रमूला सृष्टि का पहिला रूप है। यह योगमायावच्छिन्न पुण्डीर स्वयम्भू है, 'अनेजदेकम्०' वाला महामायावच्छिन्न, महेश्वर के रूप से समतुलित व्यापक स्वयम्भू था। वह एक है, पुण्डीर स्वयम्भू अनन्त (सहस्र) हैं। इस योगमायावच्छिन्न ससीम पुण्डीर स्वयम्भू से ही परमेष्ठी का उदय होता है। यही शुक्रमूला सृष्टि का दूसरा रूप है। अव्यक्त स्वयम्भू में यद्यपि आप भी है, परन्तु वहां प्रधानता प्राण की ही है। प्राण असंगतत्त्व है, असंगप्राण मैथुनीसृष्टि का कारण नहीं बनता। ऐसी परिस्थिति में प्राणमय स्वयम्भू को भी वास्तविक उपादान नहीं माना जासकता। सृष्टि का वास्तविक उपादान तो संसर्गधर्मा आपोमय परमेष्ठी ही है। अतएव शुक्र (उपादान कारण सूचक) शब्द का पर्य्यवसान परमेष्ठी पर ही मानना पड़ता है। यही इस शुक्रमूर्त्ति परमेष्ठी की महत्ता है। इसे 'महान्' कहा जाता है। यदि सृष्टि पर्वों की महत्ता का विचार किया जाता है तो सामान्य दृष्टि से अव्यक्त स्वयम्भू को ही सब पर्वों की अपेक्षा महान् (सबसे बड़ा) मानना युक्तिसंगत होता है। परन्तु वैज्ञानिकों नें अव्यक्त को महान् न कहकर परमेष्ठी को महान् कहा है। सचमुच परमेष्ठी ही सब पर्वों की अपेक्षा महान् है। प्राणमूर्त्ति स्वयम्भू प्रजापति प्राण की सर्जना-महत्ता इसी प्राजापत्य परमेष्ठी पर निर्भर है। परमेष्ठी के दर्भपुञ्जमास से ही पुण्डीर स्वयम्भूका स्वरूप निष्पन्न होता है। पहिले आपतत्त्व सर्जनता है, अनन्तर प्राण को सर्जना का अवसर मिलता है। पानी ही प्राण की प्रतिष्ठा है- 'आपोमयः प्राणः'। अध्यात्मसंस्था में जबतक शरीरमें अप्तत्त्व प्रतिष्ठित रहता है, तभी तक प्राण सम्यक्रूप से प्रतिष्ठित रहता है, जैसा कि-"यावद्वै प्राणेष्वापो भवन्ति तावद्वा

वदति" (शत० ५।२।५।१६।) इत्यादि श्रौतवचन से स्पष्ट है । प्राणापेक्षया पानी की यही महत्ता है । पानी के गर्भ में प्राण प्रतिष्ठित रहता है, पहिले "आपो वा इदं सर्वम्" है, अनन्तर 'प्राणो वाईदं सर्वम्' है,-(देखिए ई० वि० भा० पृ० १५) । मातरिश्वा वायु के वेष्टन से ही अव्यक्त स्वयम्भू का उदय हुआ है । यह मातरिश्वा वायु-आप का ही एक अंश है । इसलिए भी प्राणमय स्वयम्भू की अपेक्षा आपोमय परमेष्ठी को महान् कहा जासकता है । वैकारिक विश्व का उपादान भी यही है, इसलिए विश्वापेक्षया भी यही महान् है । अव्यक्त अमूर्त था, यह मूर्त है (मूर्तिरेव रयिः-प्रश्नो. १) । सारी मूर्तिएं, दूसरे शब्दों में मूर्त जगत् इसी रयिप्रधान परमेष्ठी के गर्भ में उत्पन्न हुआ है । आप कहेंगे मायी महेश्वर सब की अपेक्षा महान् है, ऐसी अवस्थामें विश्वसीमा में महेश्वर को छोड़कर परमेष्ठी आदि को कैसे महान् कहा जा सकता है ? हम कहेंगे आप भूलते हैं । केवल माया से ही महेश्वर (अव्यय) का विकास नहीं होता, सृष्टिधारा में आते समय उसे भी इसी का आश्रय लेना पड़ता है । आत्मपुरुष इसी में गर्भधारण करता है, इसी से आगे की मूर्तिसृष्टि होती है । आप के आप-वायु-सोम यह तीन विवर्त्त हैं । चेतना आगमन के यही तीन द्वार हैं । अतएव विश्व में आप्य-वायव्य-सौम्य तीन ही प्रकार की जीवसृष्टि उपलब्ध होती है । इस जीवसृष्टि का अधिष्ठाता भी आपोमय परमेष्ठी ही है । इसप्रकार ईश्वर-जीव-विश्व सब कुछ इसी के आश्रित हैं-'सर्वमापोमयं जगत्'। परमेष्ठी के इसी महत्त्व को लक्ष्य में रखकर ऋषियों ने इसे 'महानात्मा' नाम से व्यवहृत किया है । इसी महद्ब्रह्म की महत्ता का-निरूपण करती हुई स्मृति कहती है—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ (गीता१४।३-४)।

पञ्चपर्वा विश्व के अमृत-मृत्यु भेद से दो विभाग हैं । सूर्य से ऊपर का प्रपञ्च अमृत विभाग है, सूर्य से नीचे का प्रपञ्च मृत्यु विभाग है । अक्षरपुरुष स्वयं अमृतरूप है । इस का विकास सूर्य पर्यन्त रहता है । दूसरे शब्दों में अक्षर की प्रधानता सूर्य तक (सूर्य के अमृताग्नि नामक प्राणाग्नि तक) है । सूर्यपिण्ड से आरम्भ कर नीचे के सारे मर्त्य विश्व में क्षर का साम्राज्य है । क्षर को 'ब्रह्म' कहा जाता है । यह ब्रह्मक्षर अनेकधा विभक्त है, विविध भावों से आक्रान्त है । इस बहुरूप क्षरकूट पर एक अक्षर प्रतिष्ठित है । विशुद्ध अक्षर नहीं, अपि तु महद्ब्रह्म युक्त अक्षर । क्योंकि क्षरसृष्टि का उपादान शुक्ररूप परमेष्ठी नामक महद्ब्रह्म ही है । यह सूर्य से ऊपर रहता हुआ अमृत प्रधान बनकर अमृताक्षर कोटि में प्रविष्ट मान लिया जाता है । इस विभाग के अनुसार षोडशीपुरुष, अव्यक्त (स्वयम्भू), महान् (परमेष्ठी) इन तीन का एक स्वतन्त्र अमृत विभाग होजाता है। एवं सूर्यपिण्ड-चन्द्रपिण्ड-पृथिवीपिण्ड इन तीन का एक स्वतन्त्र मर्त्य विभाग होजाता है । । इस प्रकार एक ही शुक्र तत्व अमृत मृत्यु भेद से दो भागों में विभक्त होजाता है, जैसा कि पूर्व की शुक्रनिरुक्ति में बतलाया जाचुका है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर—"भूतं भविष्यत् प्रस्तौमि महद्ब्रह्मैकमक्षरं, महद्ब्रह्मैकमक्षरम्" यह कहा जाता है ।

१—षोडशीपुरुषः २—अव्यक्तः स्वयम्भूः ३—परमेष्ठी महान्	अमृतम्—१	प्रजापतिः
—०—		
१—सूर्यपिण्डम् २—चन्द्रपिण्डम् ३—भूपिण्डम्	मर्त्यम्—२	

हमारा 'स पर्यगात्०' मन्त्र शुक्ररूप इसी महद्ब्रह्म का निरूपण करता है । शुक्रपदार्थ बड़ा जटिल है, यह पूर्व के शुक्रनिरूपण से विदित हुआ होगा । इस की यह जटिलता यहीं

समाप्त नहीं होजाती। अभी इस संबन्ध में और भी कुछ वक्तव्य है। यजुर्ब्रह्म शुक्र है, यह पहिला पत्त है। काम-कर्म-शुक्ररूप अविद्यातत्व शुक्र है, यह दूसरा पत्त है। ब्रह्म-सुब्रह्म की समष्टिरूप महद्ब्रह्म शुक्र है, यह तीसरा पत्त है। वाक्-आप-अग्नि-अग्नि-आप-वाक् भेद से शुक्र द्द हैं, यह चौथा पत्त है। अपेक्षा भेद से चारों भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं, परन्तु परमार्थतः सब अभिन्नार्थक हैं। पूर्व की शुक्रनिरुक्ति में हमनें चौथे पत्त को ही प्रधानता दी है, एवं इस प्रकरण में शेष तीनों पत्तों को प्रधान माना गया है। अब इन चारों का समन्वय कर इस अधिकरण को समाप्त करना है।

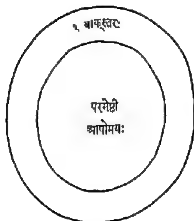
सब का मूल विद्या-कर्ममय अव्ययपुरुष है, यह निर्विवाद है। आनन्द-विज्ञान-मन का समुच्चय विद्याभाग है, यही अमृत है। मन-प्राण-वाक् का समन्वितरूप कर्मभाग है, यही अविद्या है, यही मृत्यु है। दोनों की समष्टि विश्व है। विश्व का मूल शुक्र (उपादान) विद्याकर्म ही है, यही अविद्यारूप पहिला शुक्र है। परन्तु कैसा विद्याकर्म ? विशुद्ध नहीं, अपि तु वेदरूपद्वारावच्छिन्न विद्याकर्म। यत् रूप मृत्यु, जू रूप अमृत ही (यजुर्ब्रह्म) ही संसार का शुक्र है। यह शुक्र पूर्वकथनानुसार मन-प्राण-वाङ्मय सृष्टिसाक्षी अव्यय के वाक् भाग का ही विकास है। अव्ययवाक् ही वेदरूप में परिणत होती है। मूलावस्थापन्न वाक् वाक् है, तूलावस्थापन्न वाक् वेद है, अतएव अव्ययाधिकरण में इस वेद को 'ब्रह्मनिःश्वसित' कहा है। निष्कर्ष यही हुआ कि अव्ययवाक् का विकासरूप, अतएव वाक् नाम से प्रसिद्ध अमृत-मृत्युरूप स्वायम्भुव ब्रह्मनिःश्वसित वेद ही (जिसे कि इस शुक्रप्रकरण में 'वाक्शुक्र' कहा गया है) प्रथमज एवं प्रतिष्ठारूप शुक्र है। यही इस की दूसरी अवस्था है। इसी पर प्रतिष्ठित होकर ब्रह्म (क्षर) एवं अक्षर सृष्टि के अधिष्ठाता बननें में समर्थ होते हैं, जैसा कि मुण्डकोपनिषत् के—'ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव' इत्यादि मन्त्रभाष्य में स्पष्ट किया गया है। वेदरूपा वाक् पहिला शुक्र है। "एकाकी न रमते तद् द्वितीयमैच्छत्,पतिश्च पत्नीच", के अनुसार वाक् का (यत् का) ही कुछ भाग पानी बन जाता है। यही आप (जिस में कि आप-वायु आदि षड्ब्रह्म

हैं) पत्नी है । वह सत्य था, यह ऋत है । इन दोनों की समष्टि ही शुक्र की तीसरी अवस्था है । 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' के अनुसार ब्र. नि. वेद अमृतत्व को उत्पन्न कर इस के भीतर प्रविष्ट हो जाता है । इसी से पुण्डीरस्वयम्भू का जन्म होता है । चारों ओर आपोमय पड्मल व्याप्त है, बीच में वेदत्रयी प्रतिष्ठित है । आप में जो अङ्गिराभाग है उस की अग्नि-वायु आदित्य यह तीन अवस्थाएं बतलाई गई हैं । यह अङ्गिरात्रयी आगेजाकर "गायत्रीमात्रिकवेद" रूप में परिणत होती है । अङ्गिराग्नि गायत्र नाम से प्रसिद्ध है, अतएव तद्रूप वेद को 'गायत्रीमा० कहना न्यायप्राप्त है । सृष्टि यज्ञमूला है । यज्ञ की प्रथम विकास भूमि आप शुक्र है । अपने ही अङ्गिरा भाग से वह आपतत्व उक्त वेदरूप से प्रादुर्भूत होता है । अङ्गिरात्रयी अग्नि है, भृगुत्रयी सोम है । दोनों का समन्वित रूप यज्ञ है–"दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसाम लक्षणम्" ।यही यज्ञात्मक चौथा शुक्र है ।

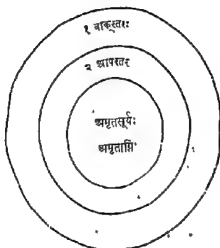
प्रकारान्तर से देखिए । स्वायम्भुवी वाक् पहिला शुक्र है, पारमेष्ठ्य आप दूसरा शुक्र है, और अग्नि तीसरा शुक्र है । तीनों ही अमृत मृत्यु भेद से दो दो भागों में विभक्त होते हुए षट्शुक्र संपत्ति के सम्पादक बनजाते हैं । उत्तर उत्तर की सृष्टि में पूर्व पूर्व के शुक्र अनुस्यूत रहते हैं। ऐसी अवस्था में सर्वत्र सब शुक्रों की सूक्ष्मावस्था मानने पर भी विकास क्रमिक ही माना जायगा । स्वयम्भु केवल वाङ्मय है । परमेष्ठी स्वयम्भू के उदर में है, इसलिए यह स्वस्वरूप से से आपोमय बनता हुआ वाक् के आगमन से वाङ्मय भी है । सूर्य में अमृताग्नि–मर्त्याग्नि के साथ साथ वाक्–आप का भी सम्बन्ध है, क्योंकि सूर्य परमेष्ठी के गर्भ है । दृष्टि क्रमानुसार पृथिवी और सूर्य के गर्भ में प्रतिष्ठित अन्तरिक्षस्थानीय चन्द्रमा में पांच शुक्र हैं । एवं दृष्टि क्रमानुसार (साथ ही में हम पार्थिव प्राणियों की अपेक्षा से स्थिति क्रमानुसार भी) सबसे अन्त में मानी जाने वाली पृथिवी में ६ ओं शुक्रों का भोग होरहा है , जैसा कि आगे के परिलेखों से स्पष्ट होजाता है ।



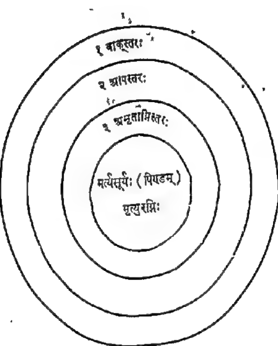
→ वाक्[१] —१— स्वयम्भूः



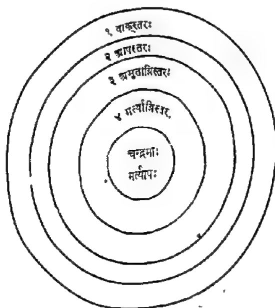
→ वाक्[१]-आपः[२] —२— परमेष्ठी



→ वाक्[१]-आपः[२]-अग्निः[३] —३— सूर्यः



१   २   ३   ४
वाक्-आपः-अग्निः-अग्निः-
४—सूर्य्यः



१   २   ३   ४   ५
वाक्-आपः-अग्निः-अग्निः-आपः-
५—चन्द्रः

१ वाक्स्तरः
२ श्रापस्तरः
३ श्रमृताग्निस्तरः
४ मर्त्याग्निस्तरः
५ मर्त्यापस्तरः
पृथिवी
मर्त्यावाक्

१ २ ३
वाक्-श्रापः-श्रग्निः
४ ५ ६
श्रग्निः-श्रापः-वाक्
} ६—पृथिवी

स्वयम्भूवाङ्मयः
परमेष्ठीवा.श्रापोमयः
श्र सूर्यः—वा.श्रा श्रमृताग्निमयः
म.ड. वा.श्रा.श्रमृ मर्त्याग्निमयः
वा श्रा श्र म.मर्त्यापोमयः
वाक्-श्रापः-श्रग्निः

→ → → ———→ समष्टिः

१–स्वयम्भूः–वाङ्मयः ।–वाक् १

२–परमेष्ठी–वाङ्मयः (1), आपोमयः (2) ।–आपः २

३–अमृतसूर्यः–वाङ्मयः (1), आपोमयः (2), अमृताग्निमयः (3)–अग्निः ३

४–मर्त्यसूर्यः–वाङ्मयः (1), आपोमयः (2), अमृताग्निमयः (3), मर्त्याग्निमयः (4),–अग्निः ४

५–चन्द्रमाः–वाङ्मयः (1), आपोमयः (2), अमृताग्निमयः (3), मर्त्याग्निमयः (4), मर्त्यापोमयः (5)-आपः ५

६–पृथिवी–वाङ्मयी (1), आपोमयी (2), अमृताग्निमयी (3), मर्त्याग्निमयी (4), मर्त्यापोमयी (5), मर्त्यवाङ्मयी (6)–वाक् ६

शुक्र में आप का भाग है, अन्तर्गर्भित अग्नि का भाग है, समष्टि महद्ब्रह्म है । महद्ब्रह्म में अव्यक्त स्वयम्भू प्रतिष्ठारूप से प्रतिष्ठित है । मातरिश्वा वायु इस शुक्र के चारों ओर व्याप्त है । अभी सृष्टि निर्माण नहीं हुआ है । केवल मातरिश्वा द्वारा सृष्टि के बीजभूत महद्ब्रह्मरूप शुक्र का आविर्भाव हुआ है । यही आगे विश्व बननें वाला है । हमारा औपनिषद मन्त्र इसी विशुद्ध शुक्र का निरूपण करता है । मन्त्रार्थ सम्बन्धी उपकरणों का निरूपण समाप्त हुआ । अब मन्त्रार्थ की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

मन्त्रार्थप्रकरण



"इस ब्रह्म की समष्टिरूप उस शुक्र को (सर्वव्यापक आदिस्वयम्भूरूप शुक्र को) मातरिश्वा वायुनें चारों ओर से घेर लिया । इस परिच्छेद से ही यह शुक्र (जिसे कि भार्गव वायु रूप, अतएव आपोमय महद्ब्रह्म के अंशभूत होनें से हम 'महद्ब्रह्म'-नाम से व्यवहृत करेंगे) सृष्टि का कारण बनता है । कुछ एक विजातीय धर्म, एवं कुछ एक सजातीय धर्मों के

सम्मिश्रण से ही शुक्र सृष्टि का कारण बनता है। कारण इन्हीं धर्मों के संसर्ग से शुक्र में कायत्व, व्रणत्व, स्नाविरत्व, अशुद्धत्व, पाप्मविद्धत्व आदि भावों का उदय होता है। सजातीय पदार्थों का संघात कायभाव है, विजातीय पदार्थों का योग होजाना ही व्रणत्व है, इन धर्मों का सम्बन्ध कराने वाला सूत्र स्नायु है। इन तीनों भावों से वह अपने शुद्धरूप से विकृतावस्था में आता हुआ पाप्मविद्ध बनजाता है। जबतक शुक्र में उक्त चारों भावों का उदय नहीं होता, तबतक वह सृष्टिमर्यादा से बाहर की वस्तु है। अध्यात्मसंस्था में आप शुक्र के उक्त चारों धर्मों का साक्षात्कार कर सकते हैं। पार्थिव-आन्तरिक्ष्य-सौर तीनों सजातीय अग्नियों की (शुक्र अग्निरूप है, इसलिए अग्नि सजातीय है) इसी शुक्र पर चिति हो रही है। यह अग्निचिति ही 'काय' (शरीर) है। काय की मूलभित्ति शुक्र ही है। शुक्र ही आधान के अनन्तर गर्भरूप में परिणत होकर क्रमश: वृद्धिगत होकर शरीररूप में परिणत होता है। इस लिए हम शुक्र को 'सकाय' कहने के लिए तय्यार हैं। विजातीय सोम का भी इस अग्निरूप शुक्र के साथ सम्बन्ध हो रहा है। सोम सम्बन्ध से ही तो योनि में आहुत शुक्र 'सुत' रूप में परिणत होता है। सोम से ही पुत्र 'सुत' कहलाता है। यह विजातीयभाव ही शुक्र का व्रणत्व है। सोम स्नेह तत्व है। स्नेहन द्रव्य में दूसरे के साथ चिपकने का स्वाभाविक धर्म है। जो सूत्र यह कर्म करता है (सोम में प्रतिष्ठित) वही सूत्र विज्ञानभाषा में-'श्रद्धा' नाम से प्रसिद्ध है। इसी तननभाव के कारण अपत्य को 'तनय' 'सन्तान' आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है। इसी सूत्र के आधार पर मृतप्राणी के शुक्ररूप महानात्मा के साथ अपने पुत्र-पौत्रादि के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। इसी के द्वारा पुत्र पितृलोकस्थ पितर को पिण्डदान द्वारा तृप्त किया करता है। 'सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम्' 'सपिण्डता तु पुरुष सप्तमे विनिवर्त्तते'[1] के अनुसार सातवें अपत्य पर यह एक सूत्रधारा विच्छिन्न होजाती है। इसी श्रद्धासूत्र के सम्बन्ध से यह शुक्र स्नायुयुक्त बनता हुआ 'स्नाविर' कहलाने लगता है। चौथी है

१ इस विषय का विशद विवेचन श्राद्धविज्ञान के 'ऋणमोचनोपायोपनिषत्' प्रकरण में द्रष्टव्य है।

संस्काररूपा अविद्या। इसी को 'पूर्वप्रज्ञा' भी कह सकते हैं। इससे यह शुक्र विद्ध रहता है। अविद्या पाप्मा (मल) है। इस अविद्यारूप पाप्मा से विद्ध होकर ही यह शुक्र प्रजोत्पत्ति का कारण बना है। जबतक कामना पूर्वक कर्म किया जाता है, तब तक यह वासनारूप अविद्यासंस्कार से युक्त रहता है, एवं तभीतक प्राणी शुक्र के चक्र से विमुक्त नहीं होता। ऋषि कहते हैं कि यद्यपि शुक्र कायत्वादि धर्मों से युक्त है, शुक्र का शुक्रपना कायत्वादि आगन्तुक धर्मों से ही चरितार्थ होता है, तथापि इसकी जो मौलिक-प्रारम्भिक प्रातिस्विक अवस्था है, वह कायत्वादि चारों धर्मों से रहित है। जिस समय सृष्टिकामुक प्रजापति की (सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति की) कामना से उस शुद्ध शुक्र को मातरिश्वा चारों ओर से घेरता है, उस समय वह अपने शुद्धरूप में है। अभी न उसमें सजातीय सम्बन्ध है, न विजातीयभाव का सम्बन्ध है, न स्नायु-भाव का उदय है, न अविद्यारूप पाप्मा का ही लेश है। यद्यपि मातरिश्वा की कृपा से आगे जाकर ही वह उक्त चारों सजातीय-विजातीय धर्मों से अवश्य ही युक्त होने वाला है, परन्तु आरम्भदशा में तो वह सर्वथा अकाय-अव्रण-अस्नाविर-अपापविद्ध-अतएव सर्वथा शुद्ध ही है। मातरिश्वा के सम्बन्ध से कायत्वादि धर्मों से क्यों युक्त होजाता है? इसका उत्तर मातरिश्वा से पूछिए। मातरिश्वा कवि है, परिभू है, स्वयम्भू है। मातरिश्वा वायु को हमने भार्गव (भृगु) वायु कहा है। भृगु कवि है, अतएव भार्गव मातरिश्वा को कवि कहा गया है। जन्ममरण-धर्म से आक्रान्त विविधभावमय विश्व इसी मातरिश्वा का काव्य (कृति) है। यदि रेतोधा मातरिश्वा अप्में (योनि में) आप (रेत) का आधान न करता तो विश्व का निर्माण असंभव था। कवि मातरिश्वा के द्वारा होने वाले रेत के आधान से ही सर्व विश्व की उत्पत्ति हुई है। कल तक जो मनुष्य हंसता खेलता था, वह आज मरणासन्न। अब त्रैलोक्य में उस स्वरूप का पता नहीं है। यही उस कवि का महाकाव्य है। वही संचर काल में उत्पत्ति का अधिष्ठाता बनता है, प्रति-संचरकाल में वही विनाश का अधिष्ठाता बन जाता है। मातरिश्वा कवि के इसी काव्य का निरूपण करते हुए महर्षि कहते हैं—

विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समानः ॥

(ऋक्सं० १० । ५५ । ५ ।) ।

भृगुतत्व स्नेहधर्मा है। स्नेह ही संसृष्टिलक्षणा सृष्टि का कारण है । यह स्नेहधर्म ही मार्गवमातरिश्वा कवि की कवित्वशक्ति है। इसी स्नेहधर्म से चितिभाव का उदय होता है। चितिसमष्टि ही 'काय' है। शुक्र का चितिलक्षण कायरूप में परिणत होजाना, मातरिश्वा की कवित्वशक्ति (स्नेहगुण) की ही महिमा है। 'एकोऽहं बहु स्याम्' यह कामना ही विजातीय-भाव के आगमन का कारण है। इस कामना का उदय मन से होता है । मन की कामना ही 'मनीषा' है। मनीषाभाव से विजातीय परिग्रहों का संग्रह होता है। विजातीय परिग्रह ही 'व्रण' है। भार्गव मातरिश्वा यद्यपि वायुरूप होनें से स्वयं क्रियाप्रधान है, परन्तु क्रिया विना मन की कामना के सम्भव नहीं है। सुतरां मातरिश्वा में अव्यय मन का अनुग्रह सिद्ध हो जाता है। इसी से यह 'मनीषी' बना हुआ है । यह मनीषीभाव ही कामनाओं का प्रवर्त्तक बनता हुआ, विजातीयधर्मों के आगमन का द्वार बनता हुआ शुक्र के व्रणभाव का कारण बनता है। अपिच-मातरिश्वा का सारा ज्ञान एक ज्ञानमयी कृति है । बड़े नियम से सृष्टिपर्वों का निर्माण हुआ है। सृष्टि मनमानी नहीं है। अपि तु जैसे एक बुद्धिमान शिल्पी बुद्धिपूर्वक मूर्तियों का निर्माण करता है, एवमेव यह भी अव्यय मन से युक्त बनता हुआ बुद्धिपूर्वक ही मूर्तिरूप (मूर्तरूप) विश्व का निर्माण करता है। जहां मातरिश्वा कवि (सृष्टिकर्त्ता) है, वहां यह बुद्धिमान् भी है। 'वायुर्वै गौतमतत्सूत्रम्' (शत० १४।६।७।६।के अनुसार मातरिश्वा सूत्रभाव का भी प्रवर्त्तक है। इसी सूत्रसम्बन्ध से यह उस शुक्र के चारों ओर व्याप्त होता हुआ शुक्र में सूत्रभाव के उदय का कारण बनता है। सूत्रसम्बन्ध से यह चारों ओर व्याप्त होता हुआ 'परिभू' (परि-चारों ओर-भू-व्याप्त रहनेंवाला) है। इस का यह परिभूभाव ही शुक्र के स्नाविरत्व का कारण है। व्यापक वस्तु में केन्द्र नहीं होता, विना केन्द्र कामभव

मन का उदय नहीं होता, बिना कामम्य मन के अशनाया का उदय नहीं होता, बिना अशनाया के विषय का आगमन नहीं होता, बिना विषय के लेप नहीं होता। लेप का कारण अशनाया है। अतएव अशनाया (भूख) को 'पाप्मा' कहा जाता है, जैसा कि श्रुति कहती है—

"नैवेह किञ्चनाग्र आसीत्-मृत्युनैवेदमावृतमासीत्-अशनायया।
अशनाया हि मृत्युः। तन्मनोऽकुरुत-आत्मन्वी स्याम्" इति
(शत० १०।६।५।१।)

इस अशनाया का प्रभव मन है। मन की प्रतिष्ठा हृदय है। हृदय सीमाभाव पर निर्भर है। यह सीमाभाव मातरिश्वा पर निर्भर है। मातरिश्वा ही उस शुक्र को स्वयम्भू नाम से प्रसिद्ध प्रथम पुण्डीररूप में परिणत करता है। इसी सीमा से स्वयम्भू 'हृचौजा' (गोलाकार) बनता है—देखिए मनु० १ अ० । ६ श्लो०) "स एष वायुः प्रजापतिः (मातरिश्वाख्यो वराहप्रजापतिः) अस्मिंस्त्रैष्टुभेऽन्तरिक्षे समन्तं पर्यक्तः" (शत. ८।३।४।१।२।) के अनुसार यह मातरिश्वा ही मायासीमातमा व्याप्त शुक्र के एक प्रदेश को चारों ओर से घेर कर इसे पुण्डीरस्वयम्भूरूप में परिणत करता है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। यही स्वयम्भूभाव सीमाभाव से सकेन्द्र, अतएव समनस्क बनता हुआ अशनायारूप पाप्मा के उदय का कारण बनता है। एवं इस स्वयम्भूभाव के उदय का कारण मातरिश्वा है, अतः ताच्छब्द्यन्याय से हम इसे भी स्वयम्भू शब्द से व्यवहृत कर सकते हैं। इस प्रकार अपने कवि-मनीषी-परिभू-स्वयम्भू इन चार स्वरूपधर्मों से युक्त यह मातरिश्वा, प्रथमावस्थापन्न अतएव अकाय-अव्रण अस्नाविर-अपापविद्ध, अतएव विशुद्ध शुक्र को क्रमशः काय-व्रण-स्नाविर-पापविद्ध बना डालता है। कविधर्म काय का, मनीषीधर्म व्रण का, परिभूधर्म स्नाविर का, एवं स्वयम्भूभाव पाप्मा का प्रवर्तक है। चतुर्धर्ममूर्ति मातरिश्वा शुक्र को उक्त चारों धर्मों से युक्त करने के पश्चात् ही, दूसरे शब्दों में कायत्वादि से युक्त शुक्र से ही वह वैकारिक विश्वनिर्माण में समर्थ होता है।

सृष्टि एक प्रकार का व्यापार है, व्यापार क्रिया है। अर्थरूप शुक्र विश्व का उपादान बनता हुआ भी जड़ है, क्रियाशून्य है। क्रिया सदागति मातरिश्वा वायु का ही धर्म है। अतः 'याथातथ्यतो०' इत्यादि रूप से श्रुतिनें मातरिश्वा को ही सृष्टिकर्त्ता बतलाया है। मातरिश्वा वायु ही अपनें स्नेहनरूप कविभाव से शुक्ररूप अर्थ को कायरूप में परिणत करता हुआ, मन से ज्ञानयुक्त बनकर कामना का अधिष्ठाता बनता हुआ, शुक्र को अव्रणरूप में परिणत करता हुआ, परिभूभाव से शुक्र को स्नायुरूप में परिणत करता हुआ, स्वयम्भूभाव से अशनाया द्वारा शुक्र को पाप्मविद्ध बनाता हुआ उक्त लक्षण अर्थमूर्त्ति शुक्र से सदा के लिए अर्थों का (विश्वपदार्थों का) यथापूर्व निर्माण कर रहा है—"याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः"

सृष्टिकर्त्ता मातरिश्वा ——————→ सृष्ट्युपादानद्रव्यं—शुक्रम्

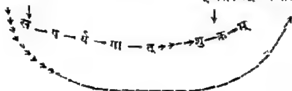
सः ——————→ तत्

कविः ——————→ पूर्वमकायं——पश्चात्—कायम्

मनीषी ——————→ पूर्वमव्रणं——पश्चात्—व्रणम्

परिभूः ——————→ पूर्वमस्नाविरं—पश्चात्—स्नाविरम्

स्वयम्भूः ——————→ पूर्वमपापविद्धं—पश्चात्—पापविद्धम्



जैसा (यथा) आज आप देख रहे हैं, सृष्टि के प्रारम्भ में मातरिश्वा नें वैसा (यथा) ही बनाया था, एवं 'यथापूर्वमकल्पयत्' इस सिद्धान्त के अनुसार सदा के लिये (शाश्वतीभ्य — समाभ्य) वह ऐसा ही बनाता रहेगा। उस मनीषी मातरिश्वा की निर्माण पद्धति सदा के लिए नियत है। अग्नि का ऊर्ध्वगमन, पानी का अधोगमन, वायु का तिर्यग्गमन, भूपिण्ड का

क्रान्तिवृत्त पर नियत परिभ्रमण, आदि आदि पदार्थों के जो नियत भाव पहिले थे वे ही आज हैं, एवं भविष्य में भी ऐसे ही रहेंगे। जिस परिस्थिति के लिए लोकव्यवहार में—"वह काम तो सालों साल ऐसा ही होता रहता है-सदा एकसार होता रहता है" यह कहा जाता है, ठीक इसी व्यवहार को सूचित करने के लिए 'याथातथ्यतो०' इत्यादि कहा गया है। हम सृष्टिप्रक्रिया का प्रत्यक्ष कर रहे हैं। श्रुति को सृष्टिप्रक्रिया का स्वरूप बतलाना है। इसीलिए स्थूलारुन्धति न्याय से 'तथा यथा' यह क्रम न रखकर 'यथा तथा' यह क्रम रक्खा गया है। श्रुति कहती है कि जैसा तुम आज देख रहे हो, सदा के लिए मातरिश्वानें वैसा ही बनाया है, वर्तमान में वैसा ही बना रहा है, एवं भविष्य में वैसा ही बनाता रहेगा। वर्त्तमान परिस्थिति तुम्हारे सामने है, इसी से तुम भूत—भविष्यत्—स्थिति का अनुमान लगा सकते हो।

मातरिश्वावच्छिन्न शुक्र अधिदैवत में 'परमेष्ठी' कहलाता है, अध्यात्म में यही 'महानात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। इसमें प्रकृतिरूप सत्य ब्रह्माक्षर की अप्कला की प्रधानता है। ब्रह्मसत्य के सम्बन्ध से ही हमनें इसे प्रकरण विभाग में 'ब्रह्मसत्याक्षर महान्' नाम से व्यवहृत किया है। भूपिण्ड के दर्शपूर्णमास से इस महान् में आकृतिभाव का उदय होता है, चान्द्र दर्शपूर्ण-से प्रकृतिभाव का, सौर दर्शपूर्णमास से अहंकृतिभाव का उदय होता है। पार्थिवभाग महत् के तमोगुण का प्रवर्त्तक है, सौरभाग रजोगुण का प्रवर्त्तक है, एवं स्वायम्भुवभाग सत्त्वगुण का प्रवर्तक है। ज्ञानप्रधान स्वयम्भू ब्रह्मा सत्त्वमूर्त्ति है, क्रियाप्रधान सौरविष्णु रजोमूर्त्ति है, अर्थप्रधान पार्थिव भूतेशशिव तमोमूर्त्ति है। इस त्रिमूर्त्ति के सम्बन्ध से महद्ब्रह्म त्रैगुण्य से युक्त होजाता है, जैसा कि 'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका' के 'क्या उपनिषत् वेद है'

१ यही महान् ८४००००० योनियों का प्रवर्त्तक है। यही श्राद्ध का एकमात्र अन्यतम अधिकारी है। अमी इस विषय में बहुत कुछ वक्तव्य है। परन्तु विस्तारभय से उपेक्षा की जाती है। आगे की उपनिषदों में, एवं विशेषतः श्राद्धविज्ञान में इन विषयों का विशद विवेचन हुआ है।

इस प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है। महान् को हमनें आपोमय कहा है। यह आपतत्व–आप–वायु–सोम–अग्नि–वायु–आदित्य भेद से षट्कल है। इनमें आप के साथ आकृतिभाव का, वायु (भार्गववायु) के साथ प्रकृतिभाव का, सोम के साथ अहंकृतिभाव का, अग्नि के साथ तमोगुण का, वायु (रुद्रवायु) के साथ रजोगुण का, एवं आदित्य के साथ सत्वगुण का सम्बन्ध है। इस प्रकार यह षट्कल महान्–षड्गुण बनकर पाट्कौशिक विश्व का प्रभव–प्रतिष्ठा परायण बनरहा है।

१–१–पार्थिवदर्शपूर्णमासाभ्यां	आकृतिभावोदयः	षड्गुणाको महान्
२–२–चान्द्रदर्शपूर्णमासाभ्यां	प्रकृतिभावोदयः	
३–३–सौरदर्शपूर्णमासाभ्यां	अहंकृतिभावोदयः	
४–१–स्वायम्भुवज्ञानमूर्तिब्रह्मणा	सत्वगुणोदयः	
५–२–सौरक्रियामूर्तिविष्णुना	रजोगुणोदयः	
६–३–पार्थिवार्थमूर्तिपशुपतिना	तमोगुणोदयः	

आपोमयो महानात्मा

भृगुः	१—१—आपः	आकृतिमयः	"आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्"
	२—२—वायुः	प्रकृतिमयः	
	३—३—सोमः	अहंकृतिमयः	
अङ्गिराः	४—१—अग्निः	तमोमयः	
	५—२—वायुः	रजोमयः	
	६—३—आदित्यः	सत्वमयः	

प्रत्येक सृष्टि में योनि-रेत-रेतोधा तीन भावों का सम्बन्ध नित्य अपेक्षित है। सुप्रसिद्ध प्राण-आप-वाक्-अन्न-अन्नाद-इन पांचों प्रकृतियों का स्मरण कीजिए। यही पांचों क्रमशः स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी इन पांचों पर्वों के 'रेत' हैं। व्यापक प्राण योनि था, व्यापक प्राण रेत था, व्यापक मातरिश्वा रेतोधा था, इससे व्यापक स्वयम्भू का उदय हुआ। परिच्छिन्नप्राण योनि था, परिच्छिन्नप्राण रेत था, परिच्छिन्न मातरिश्वा रेतोधा था, इससे परिच्छिन्न पुण्डीर स्वयम्भू का जन्म हुआ। प्राणमय पुण्डीर स्वयम्भू योनि बना, आपतत्व रेत बना, मातरिश्वा रेतोधा बना, इससे परमेष्ठी का उदय हुआ। अब आपोमय परमेष्ठी योनि बनेगा, तीसरा वाक्तत्व रेत बनेगा, मातरिश्वा रेतोधा रहेगा, इससे सूर्य उत्पन्न होगा। वाङ्मय सूर्य योनि बनेगा, मातरिश्वा रेतोधा रहेगा, इससे भूपिण्ड उत्पन्न होगा। अन्नादमय भूपिण्ड योनि बनेगा, अन्न रेत बनेगा, एवं वही मातरिश्वा रेतोधा बनेगा। इस से चन्द्रमा उत्पन्न होगा। यहां आकर सृष्टिक्रम समाप्त होजायगा। इस प्रकार सृष्टिक्रम में रेतोधा सर्वत्र मातरिश्वा ही रहता है। हाँ सृष्टिभेद से उसके नाम रूप अवश्य ही बदल जाते हैं, जैसा कि पूर्वाधिकरण में वराहस्वरूपनिर्वचन में बतलाया जाचुका है। पूर्व पूर्व प्रकृति (प्राणादि) उत्तर उत्तर की प्रकृति (अबादि) की योनि बनती है, उत्तर-उत्तर की प्रकृतिएं (अबादि) पूर्व पूर्व प्रकृतियों (प्राणादि) के रेत बनते हैं। अव्यक्तात्माधिकरण में व्यापक स्वयम्भू का निरूपण हुआ, इस प्रकृत महदात्माधिकरण में पुण्डीरस्वयम्भू, एवं परमेष्ठी की उत्पत्ति बतलाई गई है। इस आपोमय महान् को योनि (ममयोनिर्महद्ब्रह्म) समझिए, तीसरे वाक्तत्व को रेत समझिए, यज्ञवराह ति मातरिश्वा को रेतोधा समझिए। इस वाग्रेत के महद्योनि में आधान होने से विज्ञानघन, अतएव विज्ञानात्मा नाम से प्रसिद्ध सहस्रांशु भगवान् सूर्यनारायण का जन्म होगा। आगे का अधिकरण इसी जन्मोत्सव के लिए हमारे विज्ञानात्मा (बुद्धि) को प्रेरित कर रहा है।

इति-प्राकृतात्माधिकरणे

शुक्रात्मनिरूपणम्

२

प्राकृतात्माधिकरणे—

महदात्माधिकरणं समाप्तम्

२



पूर्णमदः →→——→ पूर्णमिदम्

३-सूर्य्यः →→——→ **विज्ञानवैभव** *२-विज्ञानात्मा*

अधिदैवतम् →→——→ अध्यात्मम्

ब्रह्मसत्याक्षरः—

विद्या-अविद्यामयः प्राकृतात्मा सूर्य्यः

विज्ञानात्मा

३

सूर्य्यः ←——←←← वाक् →→——→ विज्ञानात्मा

(प्राकृतात्माधिकरणे *विज्ञानात्माधिकरणं तृतीयम्*)

गायत्रीमात्रिकवेदावच्छिन्नः-विद्या-अविद्यामयात्मा

विश्वात्मा

१—अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥
२—अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदेवाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥
३—विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥

(ईशोपनिषद् ९, १०, ११, मन्त्र)

——o——



विज्ञानात्मस्वरूपनिदर्शन

१— एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले सन्निविष्टः ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ (श्वे० ६।१५) ।

२— स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः ।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥ (श्वेता० ६।१६) ।

३— स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता ।
य ईशेऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ॥ (श्वेता० ६।१७) ।

४ — यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः ।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी ॥ (श्वेता० ४।१८) ।

५— हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ (यजुः   ) ।

६— यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि ।
आगा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे ॥ (ऋक्.१।८३।५) ।
("तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्")

७— यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत् परम्
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि ॥ (कठ० १।३ २।) ।

८— विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र ।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेश ॥ (प्र० ४।११) ।

९ — एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथा कालं चाहुतयो ह्याददायन् ।
तन्नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥ (मुण्ड० १।२।५) ।

१०— मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय ।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥ (मु० २.२।७) ।

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥ (मु० २।२.९) ।

११— हंस शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥ (क० २।५।२) ।

॥ श्रीः ॥

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ॥
नीहारहारघनसारसुधाकराभां कल्याणदां कनकचम्पकदामभूषाम् ।
उत्तुङ्गपीनकुचकुम्भमनोहराङ्गीं वाणीं नमामि मनसा वचसा विभूत्यै ॥



अव्यक्त माया से स्वयम्भू प्रकट हुए, स्वयम्भूब्रह्मरूप योनि में सुब्रह्म रूप आप रेत का आदिवराहमातरिश्वा नाम के रेतोधा द्वारा आधान होनें से प्राजापत्य परमेष्ठी उत्पन्न हुए। अव्यक्त स्वयम्भू वेदाग्नि प्रधान होनें से सत्य था, व्यक्त परमेष्ठी अप्प्रधान होनें से ऋत है–"ऋतमेव परमेष्ठी" । ऋत-रूप यही महद्ब्रह्म 'अहं' भाव की प्रतिष्ठा है, इसी आधार पर–'अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यः' यह कहा जाता है। इस ऋतरूप महद्योनि में तीसरे वाक् नाम के रेत की यज्ञवराहमातरिश्वा नाम के रेतोधा द्वारा आधान हुआ। इस वाक् रेत के आधान से संवत्सर का जन्म हुआ। यही संवत्सराग्नि आगे जाकर 'सूर्य' रूप मे परिणत हुआ। संवत्सरात्मक सूर्य आपोमय परमेष्ठी समुद्र में (जो कि पारमेष्ठ्य समुद्र 'सरस्वान्' नाम से प्रसिद्ध है) विचरण करनें वाला एक सुपर्ण (सुनहरे पंखवाला पक्षी) है । दक्षिणायन इस का दक्षिणपक्ष है, उत्तरायण इसका उत्तरपक्ष है, विषुवद्वृत्त इसका आत्मा है । चन्द्रमा, पृथिवी, चान्द्रजीव, पार्थिवजीव यह चारों सुपर्ण इस संवत्सर सुपर्ण के उदर में प्रतिष्ठित रहते हैं, अतएव इसे 'महासुपर्ण' कहा जाता है। निखिल संवत्सरात्मक इसी महासुपर्ण का निरूपण करते हुए वेदपुरुष कहते हैं—

"अथ ह वाऽएष महासुपर्ण एव यत् संवत्सरः । तस्य यान्पुरस्ताद्विषुवतः षण्मासानुपयन्ति–सोऽन्यतरः पक्षः, अथ यान् षडुपरिष्टात् सोऽन्यतरः, आत्मा विषुवान्" (शत० ब्रा० १२।२।३।७)।

१—स्वयम्भूमूलासृष्टिः प्रथमा

१—य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यषीदत् पिता नः ।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आविवेश ॥
२—किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत् ।
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा विद्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥
३—विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
स बाहुभ्यां धमति सपतत्रैर्द्यावा भूमिं जनयन् देव एकः ॥
४—या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा ।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ॥
(यजु स० १७अ० । १७ १८-१९-२०-२१-२२-२३-२४—मन्त्र) ।



२—सूर्य्यमूलासृष्टिर्द्वितीया

१— हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ (यजु १३।४)।
२—चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्राद्यावापृथिवी अन्तरिक्ष सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥ (यजुः १३।४६)।
३—येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा येन स्वः स्तभितं येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
४—प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ।
यत् कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥
(ऋक् स० १० म । १२१ सू०) ।



३—पृथिवीमूलासृष्टिस्तृतीया

१—सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ (यजुः ३१।१) ।

२—अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥ (ऋ. १।८९।१०)

३—"इयं वै देव्यदितिर्विश्वरूपी" (तै० ब्रा० ।।७।६।७) ।

४—"इयं उ वाऽएषां लोकानां प्रथमासृज्यत" (शत० ६।५।३।१) ।

५—"इयं वै जगती, अस्यां हीदं सर्वं जगत्" (शत० ६।२।१।२९)।

६—"पृथिव्यामिमे लोकाः (प्रतिष्ठिताः)" (ज० उ० १।१० २) ।

———०:०:०———

इन तीनों सृष्टिविद्याओं का उपनिषदों में क्रमश. ओङ्कारविद्या (स्व० विद्या), उद्गीथविद्या (सूर्यविद्या), प्रणवविद्या (पृ० विद्या) इन नामों से निरूपण हुआ है । स्वयम्भू से आरम्भ मानकर पृथिवी पर अवसान मानना ओङ्कारविद्या है, सूर्य को आरम्भ स्थान मानकर उधर परमेष्ठी स्वयम्भू पर, इधर चन्द्रमा एवं पृथिवी पर पर्यवसान मानना उद्गीथविद्या है, पृथिवी को मूल मानकर स्वयम्भू पर अवसान मानना प्रणवविद्या है । स्वयम्भू विराट्पुरुष का मस्तक है, अतएव इस विद्या को 'शिरोमूलाविद्या' कहना चाहिए । सूर्य विराट्पुरुष का हृदय है, अतः इसे 'हृदयमूलाविद्या' समझना चाहिए। एवं पृथिवी पाद स्थानीया है, अतः इसे 'पादमूलासृष्टिविद्या' कहना चाहिए ।

पुराणों ने भी इसी तत्त्व का आधार मान कर तीन प्रकार से सृष्टिविद्या का उपबृंहण किया है । "ब्रह्मा से सारे विश्व का आरम्भ हुआ है, सारा विश्व ब्राह्म है" यह पुराण

● [illegible] के [illegible] में पृथिवी से ही सृष्टि का आरम्भ माना गया है—(देखिए-[illegible] [illegible]) ।

का एक मत है । "विष्णु से सारे विश्व का निर्माण हुआ है, सम्पूर्ण विश्व वैष्णव है" यह दूसरा मत है । एवं-"महेश्वर (महादेव) से ही विश्व का जन्म स्थिति भंग हुआ है, सारा विश्व माहेश्वर है" यह तीसरा मत है । आप ब्रह्मपुराण को अथ से इति तक देख जाइए, वहां विष्णु महेश्वर आदि इतर सम्पूर्ण देवताओं को गौण बतलाया गया है, ब्रह्मा को सब का आदिप्रवर्त्तक बतलाया गया है । इसी प्रकार विष्णुपुराणनें अथ से इति तक सब देवताओं की अपेक्षा विष्णु की प्रधानता का ही निरूपण किया है । शिवपुराण एकमात्र महेश्वर को प्रधान देवता मान रहा है । सृष्टिवाद के रहस्य को न समझने के कारण ही आज उक्त भिन्न भिन्न पुराणों के प्रमाणों को उपन्यस्त करते हुए शैव-वैष्णव मुष्टामुष्टि को ही परम पुरुषार्थ समझ रहे हैं । स्वायम्भुव ब्रह्मा ज्ञानमूर्त्ति है, सौर विष्णु क्रियामूर्त्ति है, पार्थिव शिव अर्थमूर्त्ति है । एक ही विराट् पुरुष के तीन अवयव हैं । त्रिमूर्त्ति की समष्टि ही प्रधान है ।

इस सम्बन्ध में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उक्त तीनों मतों में से किसे सच्चा कहा जाय ? सत्य एक हो सकता है । उधर तीनों ही मत वेदाभिमत होनें से मान्य हैं । परन्तु मान्य होते हुए भी संदेह के जनक अवश्य हैं । इस सदेह की निवृत्ति के लिए आपको उपवेदभूत आयुर्वेद की शरण में जाना चाहिए । संदेहरूप प्राणान्तकज्वर[1] को निवृत्त करना चिकित्सा-शास्त्र का ही कार्य है ।

रज-शुक्र के मिथुनभाव से गर्भस्थिति होती है । आगे जाकर गर्भ क्रमशः पुष्ट होता हुआ १० मास में सर्वावयव संपन्न बन जाता है । गर्भ के सम्बन्ध में प्रश्न उठाया जासकता है कि गर्भ में पहिले मस्तक बनता है ? अथवा पहिले हृदय का विकास होता है ? अथवा पहिले नाभि का उदय होता है ? किंवा पहिले पक्वाशयगुद का आविर्भाव होता है ? । इन प्रश्नों के सम्बन्ध में भिषग्वरों के भिन्न भिन्न मत हैं । कुमारशिराभरद्वाज के मतानुसार पहिले मुखाश्रय गर्भ का शिर बनता है, अनन्तर अन्य अवयवों का विकास होता है । "हृदय ही (हृद्-यस्य प्रज्ञान मन ही) सब इन्द्रियों का आलम्बन है । जब तक हृदय का विकास नहीं होता,

१—"संशयात्मा विनश्यति" (गीता) ।

तब तक चक्षु, श्रोत्र, प्राणादि इन्द्रियों का विकास कथमपि संभव नहीं है" इस कारण को आगे रखते हुए काङ्कायन वाह्लीक नाम के वैद्य गर्भ में सर्वप्रथम हृदय का विकास मानते हैं। भद्रकाप्य के मतानुसार नाभि पहिला भाग है। नाभि द्वारा ही मातृभुक्त रस से गर्भ की पुष्टि होती है। भद्रशौनक के मतानुसार आहार के आगमन का साधन बनता हुआ पक्वाशयगुद ही पहिले विकसित होता है। बडिश के मतानुसार पहिले हाथ पैरों का विकास होता है। वैदेह जनक के मतानुसार पहिले इन्द्रियों का विकास होता है। मरीचि महर्षि के पुत्र अतएव मारीचि, किंवा मारीच नाम से प्रसिद्ध महर्षि कश्यप का कहना है कि यह सब परोक्ष विषय है। गर्भ का कौनसा अङ्ग पहिले बनता है? यह इन्द्रियातीत विषय है, अतः इसके सम्बन्ध में-"इदमित्थमेव" इस प्रकार निश्चयरूप से कुछ नहीं कहा जासता। इस प्रकार इनके मतानुसार यह विषय ही अचिन्त्य है। भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं-सारे अङ्ग एक साथ बनते हैं। सभी अवयव परस्पर में अन्योऽन्याश्रित हैं। अतः इनका युगपत् ही सम्भव (उत्पत्ति) मानना ठीक होता है। इसी मत को सिद्धान्त पक्ष मानती हुई चरकसंहिता कहती है-

> "सर्वाङ्गनिर्वृत्तिर्युगपत्-इति धन्वन्तरिः। तदुपपन्नं-सिद्धत्वात्। न च तस्मात् पूर्वाभिनिर्वृत्तिरेषाम्। तस्माद्धृदयपूर्वाणां सर्वाङ्गानां तुल्यकालाभिनिर्वृत्तिः। सर्वभावा ह्यन्योऽन्यप्रतिबद्धाः, तस्माद्यथाभूतं दर्शनं साधु" (चरक सं० शारीरस्थान ६ शरीरविचयाध्याय-११ सं०)

इस प्रकार आयुर्वेद के मतानुसार आध्यात्मिकपुरुषोत्पत्ति में सभी अवयव एक साथ उत्पन्न होते हैं, तथापि सुश्रुतमतानुसार कुमारशिराभरद्वाज के मतानुसार पहिले मस्तक का ही विकास मानना पड़ता है। बीजरूप से सभी अवयव समानकालीन होते हुए भी अंकुरदशा में पहिले मस्तक की ही प्रधानता है। इसी प्रकार वार्कराक्ष्य महर्षि पहिले उदर का, अरुण के पुत्र पहिले हृदय का विकास मानते हैं (ऐ० आ० २।१।४।)। इस प्रकार श्रुतियों में भी मतवाद है। तथापि यहां सृष्टिविकासक्रममूलक मस्तकोत्पत्ति के प्राथम्य को ही प्रधान माना गया है, जैसा कि श्रुति कहती है—

"शिरो वा अग्रे सम्भवतः सम्भवति । चतुर्द्धा विहितं-
वै शिरः—प्राणश्चक्षुः श्रोत्रं वाक्" (तां० ब्रा० २२।६।४) ।
"शिरो हि प्रथमं जायमानस्य जायते" (शत० ८।२।४।१८) ।

विकास भी सबसे पहिले मस्तक का ही होता है, एवं "शीर्षतो वाऽग्रे-जायमानो जायते" (शत० ३।४।१।१८) के अनुसार प्रसवकाल में भी पहिले मस्तक ही अग्रणी बनता है। शिर सचमुच सृष्टिक्रम में अग्रणी है। तभी तो जरा का प्रकोप सबसे पहिले मस्तक पर ही होता है—"यस्माच्छीर्षण्येवाग्रे पलितो भवति" (शत. ११।४।१।६।) । इसी प्रथमभाव के कारण प्रथमश्रेणि के उत्कृष्ट मनुष्य को शिरस्थानीय 'मुख्य' माना जाता है। गर्भ की स्थिति हृदय से ही रहती है, हृदय ही जीवन की प्रतिष्ठा है। दृष्टिक्रम में पैरों की प्रधानता है । यही क्रम अधिदैवत में समझिए। बीजरूप से प्राण—आप वागादि पाचों प्रकृतिएं समकालीन हैं । परन्तु सृष्टि (उत्पत्ति) क्रमानुसार पहिले शिरस्थानीय स्वयम्भू का विकास होता है । इस सृष्टि-क्रम की अपेक्षा से स्वायम्भुव ब्रह्मा का ही सर्वप्रधानत्व है । ब्रह्मा ज्ञानप्रधान है। ज्ञान-अर्थ-क्रिया तीनों अन्योऽन्याश्रित हैं, तथापि प्राथम्य ज्ञान का ही मानना पड़ता है । विश्व की स्थिति सूर्य पर निर्भर है। सूर्य से ही महद्ब्रह्म में त्रैगुण्य भाव का उदय होता है । त्रिगुण-भावापन्न महत् जबतक है, तबतक सृष्टि है, जब तक सूर्य है, तभी तक गुणोदय है । फलतः सूर्य का विश्वस्थितिव्यापकत्व भलीभांति सिद्ध होजाता है । इस स्थितिक्रम के अनुसार सारे विश्व में सौर विष्णु का ही साम्राज्य है। हमारी दृष्टि पहिले पृथिवी पर पड़ती है, अनन्तर सूर्य-चन्द्रमा-परमेष्ठी की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है। इस दृष्टिक्रम के अनुसार सारे विश्व में पार्थिव महेश्वर का ही साम्राज्य है। ज्ञानप्रधान सृष्टिक्रम, कर्मप्रधान स्थिति-क्रम, अर्थप्रधान दृष्टिक्रम की अपेक्षा से उक्त तीनों सृष्टिविद्याओं में कोई विरोध नहीं है ।

१—स्वयम्भूमूलासृष्टिः—शिरोमूला——सृष्टिक्रमप्रधाना ब्रह्मविद्या (उत्पत्तिमूला ओङ्कारविद्या)
२—सूर्यमूलासृष्टिः——हृदयमूला——स्थितिक्रमप्रधाना विष्णुविद्या (स्थितिमूला—उद्गीथविद्या)
३—पृथिवीमूलासृष्टिः—पादमूला——दृष्टिक्रमप्रधाना महेशविद्या (नाशमूला—प्रणवविद्या)

संहिताकाण्ड | चिकित्साकाण्ड | विज्ञानकाण्ड | पुराणकाण्ड | उपनिषत्काण्ड

प्रकृत प्रकरण उक्त तीनों सृष्टिधाराओं में से हिरण्यगर्भ विद्या नाम से व्यवहृत किए जानें योग्य सूर्यविद्या का ही निरूपण करता है। उसी का उपबृंहण करना प्रकृत प्रकरणार्थ है। विद्याकर्ममय अव्यय पुरुष विश्व के पाचों पर्वों में व्याप्त है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि विश्व के सभी पदार्थों में ज्ञान एवं क्रिया (कर्म) की उपलब्धि होती है, जैसा कि पूर्व के प्रकरणों में विस्तार से बतलाया जाचुका है। अव्यय का विद्याभाग पदार्थों में ज्ञानरूप से प्रतिष्ठित है, कर्मभाग क्रियारूप से प्रतिष्ठित है। विश्वोपहित विद्या-कर्मभाग को 'ब्रह्म' 'कर्म' शब्दों से व्यवहृत किया जाता है, यही इसके दिव्यरूप हैं—'ब्रह्म कर्म च मे दिव्यम्'। सोपाधिक यही ब्रह्म-कर्म ज्ञान-क्रिया नाम से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार यद्यपि स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी विश्व के इन पाचों पर्वों में (प्रत्येक में) ज्ञान-क्रियारूप से अव्यय के विद्या-कर्म-दोनों भाग प्रतिष्ठित हैं, तथापि इन दोनों की पूर्ण विकासभूमि मध्यस्थ सूर्य ही माना जाता है। सूर्य विश्व का केन्द्र है, इतर पर्व परिधिस्थानीय हैं। केन्द्र में सब शक्तियों का पूर्ण विकास रहता है। सुतरां केन्द्रस्थानीय सूर्य में अव्यय के ज्ञानरूप विद्याभाग का, एवं कर्मरूप अविद्याभाग का पूर्ण विकास सिद्ध होजाता है। यही कारण है कि विश्व के और किसी पर्व के लिए 'विद्या चाविद्या च यस्तद्वेदोभय सह' यह न कह कर केवल सूर्य को ही विद्या-अविद्यात्मक माना गया है।

अपि च 'सहयज्ञाः प्रजाःसृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः' (गीता ३।१०) इस सिद्धान्त के अनुसार यज्ञ से ही विश्वप्रजा का निर्माण होता है। यह यज्ञ 'सुत्या' 'चित्या' भेद से दो मार्गों में विभक्त है। यही दोनों यज्ञ सवन-चयन नामों से प्रसिद्ध हैं। सुत्यायज्ञ सोमप्रधान है, सोम का ही सवन होता है। चित्यायज्ञ अग्निप्रधान है, अग्नि का ही चयन होता है। अग्नि में सोम की आहुति होने से अहोरात्ररूप अग्निहोत्र, कृष्ण-शुक्लपक्षरूप दर्शपौर्णमास, ग्रीष्म-वर्षा-शीतर्तुरूप चातुर्मास्य, उत्तरायण-दक्षिणायनरूप पशुबन्ध, संवत्सररूप ज्योतिष्टोम (सोमयाग-निरूढपशु) इस क्रम से सोमयज्ञ पांचभागों में विभक्त होजाता

है। इन पांच अवयवों के कारण ही सुत्यायज्ञ को 'पाङ्क्तो वै यज्ञः' (शत. १।१।२।१६) के अनुसार पाङ्क्त (पञ्चावयव) कहा जाता है। अग्नि में सोम की आहुति होने से आयतन वृद्धि नहीं होती, अपि तु स्थिति की रक्षामात्र होती है। इस प्रकार अग्नि में सोम की आहुति होने से पाङ्क्त सुत्यायज्ञ संपन्न होता है। निगरण किंवा विलयन इस सोमाहुतिरूप सुत्यायज्ञ किंवा सवनयज्ञ का स्वाभाविक धर्म है। अग्नि में सोम डाल दीजिए, अग्नि उसे 'निगल' जायगा, पी जायगा, हुत सोम का अग्नि में विलयन होजायगा, अब सोम कहीं ढूंढे से भी नहीं मिलेगा। दूसरा है चित्यायज्ञ। अग्नि में अग्नि की आहुति होने से इस अग्नियज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होता है। अग्नि अग्नि का निगरण (हजम) नहीं कर सकता। अतएव इस यज्ञ में आयतन की वृद्धि होती है। यह अग्नियज्ञ भी अग्नि-वायु-आदित्य-दो साध्य प्राणाग्नि के भेद से पांच ही भागों में विभक्त है। अग्निचिति से पृथिवी का, वायुचिति से अन्तरिक्ष का, आदित्यचिति से द्युलोक का स्वरूप निष्पन्न होता है। पृथिवी-अन्तरिक्ष की सन्धि में, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक की सन्धि में दो अग्नि और चित रहते हैं। इस प्रकार एक ही अग्नि अवस्था भेद से पञ्चचितिक बन जाता है। इस चितियज्ञ से तो वस्तु का स्वरूप निर्माण होता है, एवं उत्पन्न वस्तु की स्वरूप सत्ता सुत्यायज्ञ से होती है। प्रकारान्तर से यों समझिए कि उत्पत्ति सोमयज्ञ से होती है, पुष्टि अग्नियज्ञ से होती है, स्थिति सोमयज्ञ से होती है। आद्यन्त में सोम है, मध्य में अग्नि है। सूर्य अग्निमय है, इसके उस ओर पारमेष्ठ्य सोम है, इस ओर चान्द्र सोम है। अध्यात्मसंस्था में इस स्थिति का प्रत्यक्ष कीजिए। शुक्र (रेत) सोम है, शोणित (योनिरूप-आर्तव-रज) अग्नि है। इस रजरूप योनि में वीर्यरूप सोम की आहुति होने से गर्भ का उदय होता है। इसप्रकार उत्पत्तिकाल में सोमयज्ञ की प्रधानता है। आगे जाकर क्रमशः गर्भावयव बढ़ने लगते हैं, यही अग्निचिति है। अस्थि-मांसादि की चिति ही अग्निचिति है, यही वृद्धि का कारण है। अन्नरूप-सोमाहुति से इस चित्याग्निमय शरीरपिण्ड की स्थिति रहती है। प्रातः-सायं होने वाले अन्नाहुतिरूप इसी दैनिक सोमयज्ञ से शरीर स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। इसी चयन-रहस्य को लक्ष्य में रख कर वाजिश्रुति कहती है—

"तत्रैव पञ्च चितीश्चिनोति, एताभिरेवैनं तत्तनूभिश्चिनोति, यच्चिनोति- तस्माच्चितयः" (शत० ६।१।२।१७)। "पञ्चतन्वो व्यस्रंसन्त- लोम, त्वङ्, मांस, मस्थि, मज्जा। ता एवैता पञ्च चितयः" (शत०- ६।१।२।१७)। "पञ्च ह्येते अग्नयो यदेताश्चितयः" (शत० ६।- २।१।१६।)।

उक्त दोनों यज्ञों में सुत्या, क्रिया सोमयज्ञ का अधिष्ठाता आपोमय परमेष्ठी है, एवं चित्या क्रिया चयनयज्ञ का अधिष्ठाता वाङ्मय सूर्य है। परमेष्ठी सोमप्रधान है, सूर्य अग्नि- प्रधान है। सुत्या सोमप्रधान है, चित्या अग्निप्रधान है। उत्पत्ति का मूल आश्रय जहां परमेष्ठी- यज्ञ (सोमयज्ञ) है, वहां विकास का मूलप्रवर्त्तक सूर्ययज्ञ (अग्नियज्ञ) है। जब तक उत्पन्न वस्तु चित्यरूप में परिणत नहीं होजाती, तबतक उस की उत्पत्ति अनुत्पत्ति के समान है। पर- मेष्ठी की उत्पादकशक्ति का विकासस्थान सूर्य है। महत्परमेष्ठी ही गर्भधारण करनें वाली योनि है, परन्तु इस गर्भ का प्रजननरूप से विकास सौरसंस्था में ही होता है। इस से यह मान लेना पड़ता है कि सूर्य से ऊपर उत्पादक योनिरूप महद्ब्रह्म के रहनें पर भी चित्याग्नियज्ञ के अभाव से प्रजनन धर्म का नितान्त अभाव है। भौतिक मर्त्य प्रजा की उत्पत्ति का मूल उपक्रम सूर्य ही है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर चयनश्रुति कहती है—

"द्यौर्वाऽ उत्तमाः स्वयमातृण्णाः, आदित्य उत्तमा विश्वज्योतिः। अर्वाचीनं तावद्दिवश्चादित्याच्च-ऋतून् दधाति, तस्मादर्वाचीनमेवात ऋतव-अथो प्रजननम्। एतदर्वाचीनं तावद्दिवश्चादित्याच्च प्रजननं दधाति, तस्मादर्वाचीनमेवातः प्रजायते। स्थित (समाप्त) ह्येवातः पराक् प्रजननम्। यावन्तो ऽत्र सनामे देवास्तावन्तो देवाः"

(शत० ब्रा० ८ वां। ७ अ। १ ब्रा. १ क.)।

प्रजासृष्टि की उत्पत्ति समय (मौसम) पर होती है। समय का ही नाम ऋतु है। तत्तद् ऋतु विशेषों में ही तत्तद्विशेष पदार्थ उत्पन्न होते हैं। ऋतुसमष्टि ही संवत्सर है। संवत्सर

की मूलप्रतिष्ठा सूर्य है। सुतरां संवत्सरात्मक सूर्य से ही प्रजोत्पत्तिक्रम का आरम्भ सिद्ध होजाता है। चतुर्दशविध भूतसर्ग की प्रवृत्ति का आरम्भ स्थान सूर्य ही है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा। सूर्य से ऊपर ऋतुओं का अभाव है, अतएव ऋतुमूलक प्रजनन कर्म का भी वहां अभाव है। जिसप्रकार सूर्य से नीचे नवीन नवीन पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं, पुराने पदार्थ नष्ट होते रहते हैं, वैसे सूर्य से ऊपर यह जन्म-मरणचक्र नहीं है। यहां तो सृष्टि के आरम्भ में जिन मौलिक साध्य देवादि का विकास हुआ था, वही विकास आज तक उसी रूप से विद्यमान है। दूसरे शब्दों में वहां परिवर्तन का अभाव है, यही बतलाने के लिए श्रुतिनें—'यावन्तो हैव सनाग्रे देवास्तावन्तो देवाः (शत. ८।७।१।६) यह कहा है।

महद्ब्रह्म जिस चिदात्मा (अव्यय) को अपनें गर्भ में धारण करता है, उस का पूर्ण विकास चितिधर्मा सूर्य में ही आकर होता है। सूर्य से ऊपर परमेष्ठी में चिदात्मा आता है, परन्तु विलयनधर्मा सोमयज्ञ के प्रभाव से वह विलीन हो जाता है, वहां केवल गर्भसत्ता है। महद्ब्रह्म के गर्भ में रहनें वाले उस षोडशीपुरुष का विकास तो सूर्य में ही होता है। चिदात्मा की गर्भभूमि महद्ब्रह्म (परमेष्ठी) है, प्रजननभूमि सूर्य है। यही कारण है कि ब्रह्मा प्रकृतिक स्वयम्भू, विष्णु प्रकृतिक परमेष्ठी, सोम प्रकृतिक चन्द्रमा, अग्नि प्रकृतिक भूः, इन्द्र प्रकृतिक सूर्य इन पांचों में से इन्द्रप्रकृतिक सूर्य को ही 'षोडशी' कहा जाता है। क्योंकि षोडशीपुरुष नाम से प्रसिद्ध चिदात्मा का पूर्ण विकास केवल इन्द्रात्मक सूर्य में ही होता है—"असौ वै षोडशी योऽसौ (सूर्यः) तपति" (कौ.ब्रा.१७।१।)। इसी चिदात्मा के सम्बन्ध से इन्द्रतत्त्व इतर प्रकृतियों की अपेक्षा षोडशी प्रजापति की ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ सन्तान कहलाती है। पिता का वही पुत्र ज्येष्ठ-एवं श्रेष्ठ (सुपूत) कहलाता है, जो पिता के यश को द्विगुणित करता है। जिस पुत्र से पिता का यश संसार में फैलता है, वही पुत्र श्रेष्ठ माना जाता है। ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–अग्नि–सोम भेद से षोडशी प्रजापति के पांच पुत्र हैं। इन पांचों में सर्वज्येष्ठ ब्रह्मा है, सर्वकनिष्ठ सोम है, बिचला पुत्र इन्द्र (सूर्य) है, इसी पुत्रनें चिदात्मारूप पिता का यश मर्त्यत्रिलोकी में फैलाया है। सूर्य के द्वारा ही विश्व में आत्मज्योति का प्रसार

हुआ है—"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" । इसी सुपुती के कारण प्रजापतिनें विश्व के सबसे ऊंचे आसन पर (हृदय सबसे ऊर्ध्व कहलाता है, एवं विश्व के हृदय में ही सूर्य प्रतिष्ठित है) प्रतिष्ठित किया है । यही इन्द्र पुत्र का सर्वज्येष्ठत्व, एवं सर्वश्रेष्ठत्व है. इसी अभिप्राय से महाब्राह्मण श्रुति कहती है—

"सः (षोडशीप्रजापतिश्चिदात्मा) ऽकामयतेन्द्रो मे प्रजायां श्रेष्ठः स्यादिति । तामस्मै स्रजं (विजयमालां) प्रत्यमुञ्चत् । ततो वा इन्द्राय प्रजाः श्रैष्ठ्यायातिष्ठन्त–तच्छिल्पं पश्यन्तः" (ता० ब्रा० १६।४।३।) । "इन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो, बलिष्ठः, सहिष्ठः, सत्तमः, पारयिष्णुतमः" (ऐं० ब्रा० ७।१६।) । सर्वं वाऽइदमिन्द्राय तत्स्थानमास यदिदं किञ्च" (शत. ३।६।१।१४)। "हृदयमेवेन्द्रः" (शत० १२।६।१।१५।) ।

त्रैलोक्य क्या है, किसी चतुर शिल्पी का सर्वोत्कृष्ट शिल्प (कारीगरी) है । वह शिल्पी वही इन्द्र है । अपनें इन्द्रपुत्र के इस उत्कृष्ट शिल्प पर प्रसन्न होकर ही तो प्रजापतिनें इसके गले में विजयमाल डाली है। इसके इसी शिल्प से प्रभावित होकर (इसका लोहा मानते हुए) ही तो प्रजानें इसे श्रेष्ठ माना है–"प्रजाः श्रैष्ठ्यायातिष्ठन्त तच्छिल्पं पश्यन्तः" । (१६।४।३।) । सचमुच इन्द्र ऐसी ही वस्तु है । सारा विश्व इन्द्र से पूर्ण है । त्रैलोक्य में ऐसा कोई स्थान नहीं, जहां 'शुन' नाम से प्रसिद्ध इन्द्र का साम्राज्य न हो । जिसनें मध्यबिन्दु को पहिचान लिया, उसनें सब कुछ समझ लिया । इसी लिए काशिराजप्रतर्दन को इन्द्र के अभिमानी देवतानें कहा है—"एतदेवाहं मनुष्याय हिततमं मन्ये यन्मां विजानीयात्" (मैं मनुष्य के लिए यही परम हित समझता हूं जो कि वह मुझे (इन्द्र को) समझजाय) (कौ.उ.३।१) । इन्द्र की इसी सर्वव्यापकता, एवं सर्वोत्कृष्टता का दिग्दर्शन कराती हुई मन्त्रश्रुति कहती है–

१.—यद्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमिरुत स्युः ।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥ (ऋक्० ८।७०।५।) ।

२—सूर्यस्येव रश्मयो द्रावयित्नवो मत्सरासः प्रसुपः साकमीरते ।
तन्तुं ततं परिसर्गास आशवो नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन॥ (ऋ. ९।६९।६)
३—इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र इत् पर्वतानाम्।
इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधिराणामिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः॥ (ऋ. १०।८९।१०)
४—नकिरिन्द्र त्वदुत्तरो न ज्यायां अस्ति वृत्रहन्।
नकिरेव यथा त्वम् (ऋ० ४।३०।१)।

प्रकारान्तर से इन्द्र की श्रेष्ठता का विचार कीजिए। अव्यय-अक्षर-क्षर की समष्टि षोडशीपुरुष है। इनमें अव्यय ज्ञानप्रधान है, अक्षर क्रियाप्रधान है, क्षर अर्थप्रधान है। ज्ञान-प्रधान अव्यय, अर्थप्रधान क्षर दोनों का मध्यपतित क्रियाप्रधान अक्षर के साथ समन्वय है। अत. अक्षर ज्ञान–क्रिया–अर्थ तीनों विभूतियों से युक्त होजाता है। पर नाम से प्रसिद्ध अव्यय केवल ज्ञानप्रधान ही है, ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध क्षर केवल अर्थप्रधान ही है, परन्तु मध्यस्थ अक्षर ज्ञान—अर्थ के संदश में पतित होता हुआ त्रिमूर्त्तिप्रधान है, जैसा कि कठश्रुति कहती है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म (क्षरः) एतद्ध्येवाक्षरं परम् (अव्ययः)।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥ (कठ० १।२।१६)।

स्वयम्भू परमेष्ठी अव्ययप्रधान हैं, चन्द्रमा पृथिवी क्षरप्रधान हैं, किन्तु मध्यस्थ सूर्य अक्षरप्रधान बनता हुआ परधाम में प्रतिष्ठित अव्यय, अवमधाम में प्रतिष्ठित क्षर दोनों का समाहक बनता हुआ षोडशी बन रहा है। केवल अव्यय की दृष्टि से विचार कीजिए। अव्यय का विद्याभाग अमृत है, सूर्य के ऊपर इस की प्रधानता है। कर्मभाग मृत्यु है, सूर्य से नीचे इस की प्रधानता है। परन्तु मध्यस्थ सूर्य में दोनों का समन्वय है। विद्या–अविद्या दोनों के यदि आपको एक साथ दर्शन करने है तो इसके लिए विज्ञानघन सूर्य की ही शरण में जाना पड़ेगा। सौर कर्मभाग ही आगे जाकर आवरणरूप में परिणत होता हुआ धाम-

च्छद् बनकर 'अर्थ' नाम से व्यवहृत होने लगता है। इस प्रकार सूर्य में ज्ञान (विद्या), क्रिया (कर्म), अर्थ तीनों की सत्ता सिद्ध होजाती है। तीनों शक्तियों का सूर्य में पूर्ण विकास है। ज्ञानशक्तिमय होने से—'धियो यो नः प्रचोदयात्' (यजु. २२।६) यह कहा जाता है। क्रियाशक्तिमय होने से—'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः (प्र. उ. १।८) यह कहा जाता है। एवं अर्थशक्तिमय होने से इस के लिए—'नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः अयन्नर्थानि कृणवन्नपांसि' (ऋ.,७।६३।४) यह कहा जाता है। इन तीनों में अर्थ का कर्म में अन्तर्भाव है, अत परमार्थ में ज्ञान—कर्म भेद से दो भाग ही रह जाते हैं। ससार के जितने भी कर्म हैं, सब सूर्य के कर्म भाग से सम्बन्ध रखते हैं। एवं ससार में जितनी भी ज्ञानशक्तिए हैं, वे सब सौरज्ञान के आश्रय से सञ्चालित हैं। इस प्रकार त्रैलोक्य विधाता, सहस्रांशु, विद्या—अविद्यात्मक सूर्य भगवान् विश्व के मध्य में प्रतिष्ठित होकर प्रजापति का यश फैला रहे हैं। जिस दिन इन का लय होजायगा, उस दिन सब कुछ अनुपाख्यतम के गर्भ में विलीन होजायगा। सूर्याभावकाल राज्यागम (प्रलयागम) है, सूर्यसत्ता अहरागम (सृष्ट्यागम) है। यही प्रजापति का पुण्याह है। सर्वशास्ता सूर्य उत्पन्न कैसे हुआ ? यह प्रश्न बच जाता है। इस के समाधान के लिए निम्न लिखित सवत्सरविद्या प्रकरण पर दृष्टि डालनी चाहिए।

स्मरण कीजिए उस स्थिति का, जब कि न पृथिवी थी, न चन्द्रमा था, न सूर्य था। उस समय यदि था तो क्या था ? इस प्रश्न का समाधान करती हुई ब्राह्मणश्रुति कहती है—

> "आपो वा इदमग्रे सलिलमेवास। ता अकामयन्त—कथं नु प्रजायेमहीति। ता अश्राम्यँस्तास्तपोऽतप्यन्त। तासु तपस्तप्यमानासु हिरण्मयमाण्ड सम्बभूव। अजातो ह तर्हि सवत्सर आस। तदिदं हिरण्मयमाण्डं यावत् सवत्सरस्य वेला, तावत् पर्यप्लवत। ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत। + + +। स इदं हिरण्मयाण्ड व्यरुजत्। नाह तर्हि काचन प्रतिष्ठा-आस। तदेनमिदमेव हिरण्मयाण्डं यावत् सवत्सरस्य वेलासीत्तावद्बिभ्रत् पर्यप्लवत। तानि वा एतानि

पश्चात्राथि तान् पञ्चर्वेनकुरुत, तऽइमे पञ्चर्तवः। स एवमिमाँल्लोकान् जातान् संवत्सरे प्रजापतिरभ्युदतिष्ठत्। स सहस्रायुर्जज्ञे। + + +। स आत्मन्येव प्रजातिमधत्त। + + +। स ऐक्षत प्रजापतिः–सर्वं वाऽअत्सारिषं–य इमा देवता असृक्षीति–स सर्वत्सरोऽभवत्। सर्वत्सरो ह वै नामैतद्–यत् संवत्सर इति"

(शत० ११ कां० १।६)।

"पृथिवी–चन्द्रमा–सूर्यादि की उत्पत्ति से पहिले सलिल (नाम से प्रसिद्ध) पानी ही था। पानियों नें इच्छा की कि अपन कैसे उत्पन्न होवें। इच्छानुसार उन पानियों ने तप किया, श्रम किया। इस तप–श्रम से तप्यमान पानियों में सुनहरी अण्डा उत्पन्न हुआ। उस समय तक संवत्सर उत्पन्न न हुआ था। उस समय वह हिरण्मयाण्ड वहां तक व्याप्त,जहां तक कि आज संवत्सरचक्र की सीमा है। एक वर्ष में वह (पुरभाव से युक्त होता हुआ) पुरुष बन गया। उस (आपोमय प्रजापति) नें हिरण्मयाण्ड की ओर दृष्टि डाली। उस समय (उस अण्ड में) कोई प्रतिष्ठा न थी। केवल संवत्सर की सीमातक प्रजापति उस हिरण्मयाण्ड को लिए हुए फिरता रहा। आगे जाकर पांच अक्षरों से ऋतुएं उत्पन्न कीं। इन ऋतुओं के सहारे आपोमय प्रजापति एक वर्ष में उठ खड़ा हुआ। आगे जाकर उसनें अपनी आयु के हजार वर्ष तक यज्ञ किया। (इस से प्रजा उत्पन्न हुई) प्रजाति नाम से प्रसिद्ध उस प्रजा को प्रजापति नें अपनें ही शरीर पर प्रतिष्ठित किया। आगे जाकर प्रजापति नें विचार किया कि अरे! इस प्रजनन कर्म में) अपन तो अपना सब कुछ खो बैठे!' प्रजापति के इसी भावनमय मण्डल का नाम "**सर्वत्सर**" हुआ। यह सर्वत्सर ही आज "**संवत्सर** नाम से प्रसिद्ध है"।

सर्वत्र आपोमय पानी का साम्राज्य है। रस को "इरा" कहा जाता है। यह इरा नाम का रस ही अग्नि सम्बन्ध से घन बन जाता है। अभी प्रतिष्ठाग्नि उत्पन्न नहीं हुआ है, केवल

प्राणमूर्त्ति ब्रह्माग्नि का साम्राज्य है। उस समय पानी का रस भाग सर्वथा प्रवहणशील है, घनप्रतिष्ठा का अभाव है। अतएव "सरिद्भावमयी-(प्रस्रवणशीला) इरा -(रसभागः) यस्याः" इस निर्वचन से पानी की वह प्राथमिक अवस्था "सरिर" नाम से प्रसिद्ध थी। पानी उस समय "सलिल" था, इसका तात्पर्य यही है कि उस समय पानी का रस भाग सरिर था। सरिर ही सलिल का द्योतक है। इधर उधर बहते रहना, यह ऋततत्त्व का स्वाभाविक धर्म है। आपोमय परमेष्ठी स्वयं ऋतरूप है, अतः इसे न्यायतः सलिल ही माना जासकता है। अभी "वह आप सर्वथा ऋत है, सत्य (पिण्ड)-भाव का उदय अभी नहीं हुआ है" यही बतलानें के लिए- 'आपो वा इदमग्रे सलिलमेवास' यह कहा गया है। इस आपोमय महद्ब्रह्म के गर्भ में मनप्राणवाङ्मय सृष्टिसाक्षी अव्यय गर्भी बन रहा रहा है। कामना इस का निजधर्म है। इसी की कामना से मातरिश्वा की कृपा से वायुरूप पानी में संघर्ष होता है। बात यह है कि ऋत परमेष्ठी का पानी वायुरूप है। यह चलवायु स्थिर मातरिश्वा-वायु से घिरा हुआ है। इस स्थिर वेष्टन के भीतर गतिधर्मा वायु अपना व्यापार करता रहता है। मातरिश्वा की सीमा तक जाकर वह वापस लौटता है। यदि सीमा न होती तो वायुको इधर-उधर निकल जानें के लिए पर्याप्त धरातल मिल जाता। उस समय संघर्ष का अवसर न आता। परन्तु पिण्डसम्पत्समर्पक मातरिश्वा के वेष्टन से वायु को निकलनें का अवसर नहीं मिलता। वह अपनें गतिसमाव से परस्पर में टकरा जाता है। वायु के इसी संघर्ष से आग्नेयपरमाणु उत्पन्न होजाते हैं। वायु का सायंरूप बलप्रयोग ही-'सहोबल' नाम से प्रसिद्ध है। यह अग्नि इसी बल से उत्पन्न हुआ है, अतएव इसे 'सहोजा' कहा जाता है। इसी सहोजा अग्नि की बीजावस्था 'वाक्' नाम की तीसरी प्रकृति है। यह वाक्तत्व वही आपका सुपरिचित, पृथ्वीस्वरूपसमर्पक गायत्रीमात्रिकवेद है। इसी वाग्रेत की उस आपोयोनि में आहुति होनें से उक्त सहोजा अग्नि उत्पन्न हुआ है। 'अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत' इत्यादिरूप से मनुनें जिस बीज का उल्लेख किया है, वह यही वाग्ब्रह्म है। बीजावस्थापन्न वाग्रेत आप में आहुत होकर संघर्ष से अभिव्यक्त से विकसित हुआ। सारे पारमेष्ठ्य समुद्र में अग्नि परमाणुरूप

से व्याप्त होगया। मातरिश्वा द्वारा अण्ड का स्वरूप बन चुका था। इस आपोमय अण्ड में चारों ओर अग्नि ऋतरूप से भरगया। अभी पिण्ड नहीं बना, केवल अग्निपरमाणुओं का उदय हुआ, यही हिरण्मयाण्ड कहलाया। यही अग्निपुञ्ज 'धूमकेतु' नाम से प्रसिद्ध हैं। यही धूमकेतु सूर्यपिण्ड के जनक हैं। इसी धूमकेतु का निरूपण करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

(१)*—हरयो धूमकेतवो वातजूता उप द्यवि।
यतन्ते वृथगग्नयः॥ (ऋक् सं० ८।४३।४)।

(२)—एते त्ये वृथगग्नय इद्धासः समदृक्षत।
उषसामिव केतवः॥ (ऋक्सं० ८।४३।५)।

(३)—अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनुरुध्यसे।
गर्भे सञ्जायसे पुनः॥ (ऋक्सं० ८।४३।९)।

(४)—यदग्ने दिविजा असि, अप्सुजा सहस्कृत।
तं त्वा गीर्भिर्हवामहे॥ (ऋक् सं० ८।४३।२८)।

(५)—स नो महाँ अनिमानो धूमकेतुः पुरुश्चन्द्रः।
धिये वाजाय हिन्वतु॥ (ऋक् सं० १।२७।११)।

(६)—यदयुक्था अरुषा रोहिता रथे वातजूता वृषभस्येव ते रवः।
आदिन्वसि वनिनो धूमकेतुनाग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥ (ऋ. १।९४।१०)।

* (१)—वायु से प्रेरित धूमकेतुरूप अग्नि अन्तरिक्ष में पृथक् पृथक् मार्ग से जा रहे हैं।

(२)—पृथक् पृथक् विचरण करने वाले यह (धूमकेतुरूप) अग्नियें होताओं द्वारा समिद्ध बनकर (यज्ञ में) प्रकट होरहे हैं।

(३)—हे अग्ने! आप का निवासस्थान पानी में है। ऐसे आप ओषधियों पर अनुग्रह कर उनके गर्भ में प्रविष्ट होकर (ओषधिरूप से) उत्पन्न होते हैं।

(४)—हे अग्ने! आप द्युलोक में, एवं पानियों में उत्पन्न होने वाले हैं। सहोबल से आप (नित्य) युक्त हैं। ऐसे आप की हम वाणी से स्तुति कर रहे हैं।

(५)—(पिण्डात्मक न होने से अनिमान—परिच्छेदरहित-ऋतरूप- इतस्ततः व्याप्त), चन्द्रकान्ति के समान प्रकाशित वह धूमकेतु नाम का अग्नि हमारी बुद्धि एवं कर्म (ज्ञान-कर्म के लिए प्रसन्न बनें।

वैदिक वैज्ञानिक तत्वों का बड़ी ही प्रसाद भाषा में स्पष्टीकरण करनें वाले, अपान्तरतमा महर्षि के अवतार भगवान् कृष्णद्वैपायन (वेदव्यास) नें अपनें सुप्रसिद्ध महाभारत ग्रन्थ में वक्त धूमकेतुओं की उत्पत्ति का बड़ा स्पष्ट प्रतिपादन किया है, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट है—

पुराऽस्तिमितमाकाशमनंतमचलोपमम् ॥
नष्टचन्द्रार्कपवनं प्रसुप्तमिव संबभौ ॥१॥
ततः सलिलमुत्पन्नं तमसीवापरं तमः ॥
तस्माच्च सलिलोत्पीडादुदतिष्ठत मारुतः ॥२॥
यथा भाजनमच्छिद्रं निःशब्दमिव लक्ष्यते ॥
तच्चाम्भसापूर्यमाणं सशब्दं कुरुतेऽनिलः ॥३॥
तथा सलिलसंरुद्धे नभसोऽन्ते निरन्तरे ॥
भित्त्वार्णवतलं वायुः समुत्पतति घोषवान् ॥४॥
स एष चरते वायुरर्णवोत्पीडसम्भवः ॥
आकाशस्थानमासाद्य प्रशान्तिं नाधिगच्छति ॥५॥
तस्मिन् वाय्वम्बुसंघर्षे दीप्ततेजा महाबलः ॥
प्रादुरभूदूर्ध्वशिखः कृत्वा निस्तिमिरं नभः ॥६॥

(६)—हे अग्ने ! जिस समय आप वायुरूप सम (वायुरूप ही) घोड़ों से युक्त रथ पर सवार होकर वनों को जलाते हुए निकलते हैं, उस समय आप का शब्द एक महा बलिष्ठ वृषभ गर्जन जैसा होता है । अनन्तर आप वनस्पति सारे पदार्थों में (वृक्षादि में) अपने धूमकेतु रूप से व्याप्त होजाते हैं । हे अग्ने ! आप के साथ मित्रता होजाने पर हम कभी दुःख न पावें । 'हम सदा आप के हैं' (आप को ऐसी दृष्टि रख कर सदा हमारी रक्षा करनी चाहिए)।

१-धूमकेतु को अंग्रेजी में पुच्छल (...) कहा जाता है । इसी को ऊर्ध्वशिखा कहा है । यह ... पुच्छ आकाश में ... होता हुआ अत्यन्त ज्योतिष्मान् रहता है । इसी अभिप्राय से "कृत्वा निस्तिमिरं नभः" यह कहा है ।

अग्निः पवनसंयुक्तः खं समाक्षिपते जलम् ॥
सोऽग्निर्मारुतसंयोगाद् घनत्वमुपपद्यते ॥७॥
तस्याकाशं निपतितः स्नेहस्तिष्ठति यो परः ॥
स संघातत्वमापन्नो भूमित्वमनुगच्छति ॥८॥
रसानां सर्वगन्धानां स्नेहानां प्राणिनां तथा ॥
भूमिर्योनिरिह ज्ञेया यस्यां सर्वं प्रसूयते ॥९॥

(महा० शान्तिप० मोक्षध० १८३ अ०।२श्लो -९७श्लो.पर्यन्त)

उक्त मन्त्रवर्णन एवं व्यासवचन से पाठकों को विदित होगा कि आपोमय (वायुमय) महासमुद्र में इतस्ततः दोलायमान प्रदीप्त, सौरप्रकाशवत् प्रकाशमान ऋताग्निपुञ्ज ही धूमकेतु है । 'धूमकेतूनामेकसहस्रसंख्येति-शशिवद्भासमानास्तीव्राः' के अनुसार धूमकेतु संख्या में एकसहस्र माने जाते हैं। यही सहस्र धूमकेतु पूर्वश्रुत-'स सहस्रायुर्जज्ञे' प्रजापति की आयु के सहस्र विभाग हैं। यही अग्निपुञ्ज सूर्यपिण्ड के उत्पादक हैं । कोई एकसा धूमकेतु (राशिभूत अग्नि) क्रमशः केन्द्र में संघातभाव को प्राप्त होता हुआ सूर्यपिण्डरूप में परिणत होगया है। वह अग्निपुञ्ज परिभ्रमणशील था, अतएव तदुत्पन्न सूर्य भी स्वस्थान पर घूमता हुआ अपने प्रभव परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है, एवं इतर धूमकेतु सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगा रहे हैं। उच्चावच स्थान भेद से इन की परिक्रमा का काल अनन्तवर्षों में विभक्त है। घूमते घूमते धूमकेतु जब सूर्य के समीप जाता है, तभी वह हमारे दृष्टिपथ में आता है। यही इस का उदय काल माना जाता है। परिभ्रमणशील धूमकेतु से उत्पन्न सूर्य के परिभ्रमण से ही प्रवर्ग्यांशों से आगे जाकर शनि-मंगल-बृहस्पति-देवसेना-पृथिवी-बुध-मारर-कपिल-दण्ड-आदि पृथक् पृथक् अनेक अग्निगोल उत्पन्न हुए हैं। यह सब सूर्य के हैं। सूर्य पानी के गर्भ में उत्पन्न हुआ है, अतएव इन गोलों में केन्द्र में अग्नि है, बाहर

पानी है। केन्द्रस्थ अग्नि प्रजापति है। यह अस्मदादि प्रजानिर्माण में क्रमशः निरस्त (खर्च) होता हुआ कम होरहा है। जिस दिन अग्नि निःशेष होजायगा, इन गोलों का आयु समाप्त होजायगा। इसी क्रम से एक दिन सूर्य भी नष्ट होजायगा, रह जायगा वही सलिलावस्थापन्न केवल आपोमय समुद्र। धूमकेतु उत्पन्न होगा, फिर नया सूर्य, नया विश्व बनेगा। विश्वेश्वर के इस विश्वचक्र के अनाद्यनन्त प्रवाह को कौन जानसकता है।

सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पाश्चात्य जगतने "तेजोमेघविचार" (Nebular Hypothesis) को प्रधानता दी है। इस सिद्धान्त के आविष्कर्ता केन्ट और लाप्लास का कहना है कि "किसी समय सारा विश्व उष्ण वायुमय था। उस समय वायुरूप विश्व चक्र की तरह चारों ओर घूम रहा था। आगे जाकर क्रमशः मध्यभाग में घनभाव का उदय होने लगा। बाहर के भाग के सम्बन्ध विच्छेद होजाने के कारण ज्योतिर्गोल टूट टूट कर पृथक् पृथक् होगए। ये तप्त गोले जैसे जैसे ठंडे होते गए, वैसे वैसे पिघलते गए, आगे जाकर यह घन बनगए। इनका बाह्यभाग तो कठिन होगया, एवं भीतर का भाग उष्णावस्था में रहा। इस प्रकार अन्तरिक्ष में भूगोलों की उत्पत्ति हुई"।

तुलना कीजिए पूर्व—पश्चिम विज्ञान की। दोनों में से कौन यथार्थ में प्रथम द्रष्टा है। "पहिले वायु था, वह पिण्ड बना, पिण्ड पिघल गया, फिर कठिन होगया" इस रहस्य का क्रमिक विश्लेषण जिसने सब से पहिले संसार के सामने रक्खा! उन्हीं वेदमहर्षियोंने। आकाश से वायु, वायु से घन अग्नि, घन अग्नि से तरल पानी, तरल पानी से पुनः घन (पृथिवी) भाव—इस क्रम के (तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नं, अन्नात् पुरुषः) प्रथम आविष्कर्ता हैं, हम पुत्रों के पिता पितामह। जिन की कि सन्तानें वेद का तिरस्कार कर आज के विज्ञान युग में उन विज्ञानाभिमानियों से पददलित हो रही है। व्याकरण–न्याय–भाष्य का उद्धार नहीं कर सके, उदाहरण है—हम वेद! वैदिक विज्ञान!! "वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः"।

प्रकृत का अनुसरण कीजिए। आपोमय (वायुमय) प्रजापति के गर्भ में धूमकेतुरूप हिरण्मयाण्ड से आगे जाकर पिण्डात्मक सूर्य का जन्म हुआ, ऋतुओं का विकास हुआ, प्रजापति-प्रजानिर्माण में युक्त होकर 'संवत्सर' रूप संवत्सररूप में परिणत होगए। गायत्रीमात्रिक-वेदघन, प्रकृतिवाक्मय, इन्द्राक्षरमय संवत्सराधिष्ठाता यही सूर्य सत्य का अवतार है। पिण्डाग्निमय होने से ही यह सत्य है। आपोमय परमेष्ठी सर्वप्रथम इसी सत्य को अपने गर्भ में धारण करता है। सूर्य पानी की गहराई में प्रतिष्ठित है—"अपां गभस्सीद" (शत०७।५।१।८)। इसी सत्य सूर्य का निरूपण करते हुए निम्न लिखित श्रौतवचन हमारे सामने आते हैं—

१.—"तद्यत् तत् सत्यं त्रयी सा विद्या" (शत० ६।५।१।१८)।

२—"सत्यं वाचः सत्यमेव ब्रह्म" (शत० २।१।४।१०)।

३—"सत्यमेव य एष तपति" (शत० १४।१।२)।

४—"आपो वै (सौर)-देवाना प्रियं धाम" (तै० ब्रा० ३।२।४।२)।

उत्पन्न होकर यह हिरण्मयाण्ड चारों ओर समुद्र में घूमने लगा। आगे क्या हुआ! सुनिए। आजदिन 'संवत्सर' शब्द को कालवाचक समझा जा रहा है। यदि किसी विद्वान् से 'संवत्सर' शब्द अर्थ पूछा जाता है तो वह उत्तर में ३६० दिन के वाचक 'वर्ष' शब्द को प्रश्नकर्त्ता के सामने रख देता है। वस्तुतः संवत्सर शब्द काल का वाचक नहीं है, अपितु अग्नि का वाचक है। इस संवत्सराग्नि के ही पञ्चर्तुरूप पाच विवर्त हैं। जिस मार्ग पर पृथिवी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगाती है, वह मार्ग क्रान्तिवृत्त नाम से प्रसिद्ध है। इस क्रान्तिमण्डल में व्याप्त जो सौर अग्नि है, उसी का नाम संवत्सर है। यह क्रान्तिवृत्त ही संवत्सर की वेदी (परिधि—तट—अन्तिम सीमा) है। सूर्य से पृथिवी उत्पन्न होती है। उत्पन्न होकर सूर्य के चारों ओर घूमने लगती है। ऐसी परिस्थिति में अग्नि उत्पन्न हो तब तो सूर्य का स्वरूप सम्भव हो, सूर्य हो तब पृथिवी बने, पृथिवी हो तब संवत्सराग्नि की सीमा हो। इसी अभिप्राय से सूर्योत्पत्तिकाल की स्थिति को लक्ष्य में रखकर पूर्वश्रुति ने "उस समय संवत्सर न था,

आज जो तुम संवत्सर की वेलों देख रहे हो, वहाँ तक केवल अग्नि भरा हुआ था, एवं वह बड़े वेग से घूम रहा था" यह कहा है। पृथिवी एक वर्ष में इस अग्न्यात्मक संवत्सर के चारों ओर घूम आती है, इसलिए संवत्सर शब्द वर्ष का वाचक बनता हुआ काल का वाचक बन गया है। वस्तुतः संवत्सर अग्नि का ही वाचक है।

सूर्य का जन्म हुआ, विद्या–कर्ममय चिदात्मा का विकास हुआ। सारा विश्व आलोकित एवं पुलकित होगया। सूर्य में जो इन्द्रभाग है वह तो कर्म है, एवं चेतना भाग विद्या है। सौर इन्द्र रूपज्योति का (प्रकाश का) अधिष्ठाता है। इसी ज्योति को भूतज्योति कहते हैं। विद्याभाग ज्ञानज्योति है। दोनों में अनुग्राह्य–अनुग्राहक सम्बन्ध है। भूतज्योति ज्ञानज्योति पर प्रतिष्ठित है, ज्ञानज्योति भूतज्योति के आधार पर विकसित है।

हमारी बुद्धि जैसे अध्यात्मसंस्था को प्रकाशित करने वाला सूर्य है, एवमेव वह सूर्य आधिदैविकसंस्था को प्रकाशित करने वाली (ईश्वर की) बुद्धि है। इस में अविद्या-विद्या दोनों भावों का साम्राज्य है, अत एव इस में ज्योति और तम का उदय होजाता है। दोनों भाव (प्रत्येक) चार चार भागों में विभक्त हैं। ज्योतिर्लक्षण विद्या भाग धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, इन चार भागों में विभक्त है, एवं तमोलक्षण अविद्याभाग अधर्म–अज्ञान–आसक्ति–अनैश्वर्य इन चार भागों में विभक्त है। यही सांख्याभिमत 'अष्टौ बुद्धयः' है। विद्या का चतुर्धा विभक्त ज्योतिर्भाग अव्यय के विद्याभाग का, एवं अविद्या का चतुर्धा विभक्त तमोभाग अव्यय के अविद्याभाग का अनुग्राहक है।

प्राकृतिक नित्य नियमसंघ का ही नाम धर्म है, जैसा कि पुरुषात्माधिकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है—(देखिए ई० वि० भा० पृ० ....) प्राकृतिक विश्व को प्रकाशित रखने वाली चेतना ज्ञान है। उस चिज्ज्योति का सारे भूतों के गर्भ में प्रविष्ट रहते हुए भी भूतलेप से असङ्ग है, यही वैराग्य है। सर्वत्र मानिरूप से विकसित रहने वाली नाम-रूप

* इस विषय का विशद विवेचन 'गीताविज्ञानभाष्य' में देखना चाहिए।

की समष्टि 'ऐश्वर्य' है। नियतधर्म को आवृत करनें वाला पाप्मा 'अधर्म' है। ज्ञानज्योति को आवृत करनें वाला पाप्मा अज्ञान है। पदार्थों में ग्रन्थिबन्धन डालनें वाला, रागद्वेष उत्पन्न करनें वाला पाप्मा आसक्ति है। आत्मज्योति को आवृत कर उसे जड़रूप में परिणत करदेनें वाला पाप्मा 'अनैश्वर्य' है। ईश्वर के शरीर में (सूर्य के सम्बन्ध से) दोनों का सम्बन्ध है। सूर्य अपनें प्राङ्प्राण से विद्याचतुष्टयीरूप दैवीसम्पत् का प्रवर्तक बनता है, एवं अवाङ्प्राण से अविद्याचतुष्टयीरूप आसुरीसंपत् का जनक बनता है, जैसा कि वाजसनेय श्रुति कहती है-

"स आस्येनैव (मुख्यप्राणात्मकप्राङ्प्राणेनैव) देवानसृजत। ते देवा दिवमभिपद्य-असृज्यन्त, तद्देवानां देवत्वं-यद्दिवमभिपद्यासृज्यन्त। तस्मै सृजमानाय दिवेवास। + + + +। अथ योऽयमवाङ् प्राणः-तेनासुरानसृज्यत। त इमामेव पृथिवीमभिपद्यासृज्यन्त। तस्मै सृजमानाय तम इवास"। + + + +। तस्मादेतदृषिणाऽभ्यनूक्तं—

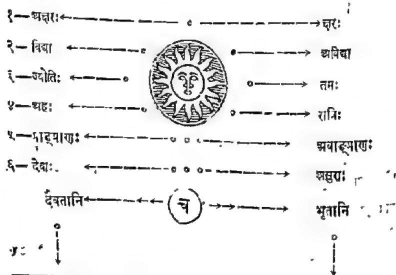
'न त्वं युयुत्से कतमच्चनाहर्नतेऽमित्रो मघवन् कश्च नास्ति।
मायेत् सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न नु पुरा युयुत्से॥"
(शत० ११ कां०। १।६।७-८)।

उक्त श्रुति इन्द्रात्मक सूर्य प्रजापति से ही देव-असुर सृष्टि की प्रवृत्ति बतला रही है। "देवता और असुर दोनों सूर्य (इन्द्र) की सन्तान हैं। ऐसी अवस्था में जो इन्द्र का असुरों के साथ युद्ध बतलाया जाता है, वह असंगत है" उक्त मन्त्रश्रुतिनें इसी अर्थ का स्पष्टीकरण किया है। पृथिवी के सम्बन्ध से सूर्य में अहोरात्रभाव का उदय होता है। अहःकाल में सौर प्राण नामक प्राण की प्रधानता रहती है, रात्रि में पार्थिव अपानप्राण की प्रधानता रहती है, इसी को अवाङ्प्राण कहा जाता है। पृथिवी सूर्य का ही उपग्रह है, अतः पार्थिव अवाङ्प्राण को

१—इस विषय का विशद विवेचन शतपथविज्ञानभाष्य के अष्टविधदेवता निरूपण प्रकरण के सौरदेवताप्रकरण में देखना चाहिए।

सूर्य का ही अवाङ्प्राण मान लिया जाता है। पृथिवी में अविद्यारूप क्षरभाग की प्रधानता है, यह पार्थिवभाग क्षरप्रधान बनता हुआ भूतप्रधान है। सूर्य में विद्यारूप अक्षरभाग की प्रधानता है। यह सौरभाग अक्षरप्रधान बनता हुआ प्राणप्रधान है। भूतमयी पृथिवी की परिक्रमा से प्राणप्रधान सूर्य तमोमय आसुरीविभूति का आरम्भक बनता है। संवत्सरात्मक ज्योतिर्मय प्राङ्-प्राण से वही सूर्य्य दैवीविभूति का स्वरूप समर्पक बनता है। दिन में सूर्य की दैवीविभूति का, एवं रात्रि में आसुरीविभूति का साम्राज्य है, जैसा कि श्रुतिने—"स यदस्मै देवान् सस्रजानाय दिवेवास, तदहरकुरुत। अथ यदस्मा असुरान् सस्रजानाय तम इवास, तां रात्रिमकुरुत। तेऽहोरात्रे" इत्यादि रूप से आगे जाकर स्पष्ट कर दिया है।

सम्पत्परिलेखः—



दैवीसम्पत् विद्याचतुष्टयी	देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः	आसुरीसम्पत् अविद्याचतुष्टयी

सूर्यगत विद्या (ज्ञान)–भाग स्वस्वरूप से एकरूप ही है । केवल पार्थिवभूत के संबन्ध से ही इसके चार विवर्त होजाते हैं । पार्थिवभूत पाप्मारूप होनें से अविद्याप्रधान है । यह भूतभाग ही आत्मा को नियति से च्युत करता हुआ अधर्म का कारण बनता है। यही चिज्योति का आवरक बनता हुआ अज्ञान का, राग-द्वेश का मूल बनता हुआ आसक्ति का, एवं आत्मविकास का प्रतिद्वन्द्वी होता हुआ अनैश्वर्य का प्रवर्तक बनता है । संसार में जितनें अधर्म होते हैं, जितना अज्ञान है, जितनी आसक्ति है, जितना विकासाभाव है, उन सब की जड़ सांसारिक अर्थसम्पत्ति ही है । इन चार उपाधियों के कारण स्वस्वरूप से सर्वथा निरुपाधिक वह विद्याभाग भी चार भागों में विभक्त होजाता है । इस प्रकार केवल भूत की कृपा से एक ही बुद्धि आठ स्वरूप धारण कर लेती है ।

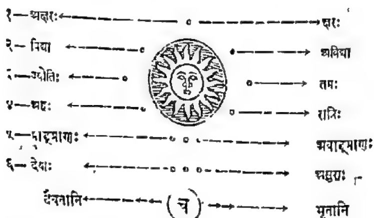
विद्याबुद्धयः		अविद्याबुद्धयः
१—धर्म	→→	१ अधर्म
२—ज्ञान	→→	२ अज्ञान
३—वैराग्य	→→	३ आसक्ति
४—ऐश्वर्य	→→	४ अनैश्वर्य



चार अविद्या विपर्ययों के मूल पांच हैं । अभिनिवेश से अधर्म का उदय होता है । जिसे हठ–दुराग्रह कहा जाता है, वही अभिनिवेश है । "गुरूपदेश–शास्त्र–लोकमर्यादा–आदि कुछ नहीं है । जो कुछ हम समझते हैं, वही ठीक है । हम भी मनुष्य हैं । हम अपना अच्छा बुरा स्वयं समझ सकते हैं" । इस प्रकार अपनें आपको सर्वे सर्वा समझ कर कल्पित सिद्धान्त बनाकर उत्पथ गमन करना अभिनिवेश है । संसार में और सब रोगों की चिकित्सा सम्भव है, परन्तु 'हम नहीं मानते' कहनें वालों की चिकित्सा स्वयं ब्रह्मा भी नहीं कर सकते- 'न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्" । अर्द्धज्ञान ही अभिनिवेश का जनक है ।

सूर्य का ही अवाङ्प्राण मान लिया जाता है। पृथिवी में अविद्यारूप क्षरभाग की प्रधानता है, यह पार्थिवभाग क्षरप्रधान बनता हुआ भूतप्रधान है। सूर्य में विद्यारूप अक्षरभाग की प्रधानता है। यह सौरभाग अक्षरप्रधान बनता हुआ प्राणप्रधान है। भूतमयी पृथिवी की परिक्रमा से प्राणप्रधान सूर्य तमोमय आसुरीविभूति का आरम्भक बनता है। संवत्सरात्मक ज्योतिर्मय प्राङ्प्राण से वही सूर्य्य दैवीविभूति का स्वरूप समर्पक बनता है। दिन में सूर्य की दैवीविभूति का, एवं रात्रि में आसुरीविभूति का साम्राज्य है, जैसा कि श्रुतिनें—"स यदस्मै देवान् ससृजानाय दिवेवास, तदहरकुरुत। अथ यदस्मा असुरान् ससृजानाय तम इवास, तां रात्रिमकुरुत। तेऽहोरात्रे" इत्यादि रूप से आगे जाकर स्पष्ट कर दिया है।

सम्पत्परिलेखः—



सूर्यगत विद्या (ज्ञान)-भाग स्वस्वरूप से एकरूप ही है । केवल पार्थिवभूत के सम्बन्ध से ही इसके चार विवर्त होजाते हैं । पार्थिवभूत पाप्मारूप होनें से अविद्याप्रधान है । यह भूतभाग ही आत्मा को नियति से च्युत करता हुआ अधर्म का कारण बनता है। वही चिज्ज्योति का आवरक बनता हुआ अज्ञान का, राग-द्वेश का मूल बनता हुआ आसक्ति का, एवं आत्मविकास का प्रतिद्वन्द्वी होता हुआ अनैश्वर्य का प्रवर्तक बनता है । संसार में जितनें अधर्म होते हैं, जितना अज्ञान है, जितनी आसक्ति है, जितना विकासाभाव है, उन सब की जड़ सांसारिक अर्थसम्पत्ति ही है । इन चार उपाधियों के कारण स्वस्वरूप से सर्वथा निरुपाधिक वह विद्याभाग भी चार भागों में विभक्त होजाता है । इस प्रकार केवल भूत की कृपा से एक ही बुद्धि आठ स्वरूप धारण कर लेती है ।

विद्याबुद्धयः		अविद्याबुद्धयः
१—धर्म	→	१ अधर्म
२—ज्ञान	→	२ अज्ञान
३—वैराग्य	→	३ आसक्ति
४—ऐश्वर्य	→	४ अनैश्वर्य

—o—

चार अविद्या विपर्ययों के मूल पांच हैं । अभिनिवेश से अधर्म का उदय होता है । जिसे हठ-दुराग्रह कहा जाता है, वही अभिनिवेश है । "गुरूपदेश-शास्त्र-लोकमर्यादा-आदि कुछ नहीं है । जो कुछ हम समझते हैं, वही ठीक है । हम भी मनुष्य हैं । हम अपना अच्छा बुरा स्वयं समझ सकते हैं" । इस प्रकार अपनें आपको सर्वे सर्वा समझ कर कल्पित सिद्धान्त बनाकर उत्पथ गमन करना अभिनिवेश है । संसार में और सब रोगों की चिकित्सा संभव है, परन्तु 'हम नहीं मानते' कहनें वालों की चिकित्सा स्वयं ब्रह्मा भी नहीं कर सकते- 'न तु मतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्" । अर्द्धज्ञान ही अभिनिवेश का जनक है ।

सर्वथा मूर्ख को समझाया जासकता है, विद्वान् सरलता से युक्तिसंगत बात को मान लेता है। परन्तु अर्द्धशिक्षितों का अनुरञ्जन असंभव है । ज्ञानलवदुर्विदग्ध अचिकित्स्य हैं। आज भारतवर्ष में इसी अभिनिवेश का साम्राज्य है। सभी शिक्षित माने जाते हैं, परन्तु सभी पूर्ण अभिनिविष्ट हैं। शास्त्र की मर्यादा भी यही समझते हैं। शास्त्रों में क्या है? इस के निर्णायक भी यही हैं, फिर चाहे संस्कृतवाङ्मय शास्त्र में इनका चञ्चुप्रवेश भी न हो। युगधर्म के रहस्य वेत्ता भी यही हैं। तभी तो देश क्रमशः उन्नति करता जारहा है । कहना यह है कि अभिनिवेश अधर्मवृद्धि का जनक है, अधर्म नाश का कारण है । शिक्षा का अभाव अज्ञान का कारण है । विना शास्त्राध्ययन के ज्ञान का आवरण नहीं हटता। रागद्वेष आसक्ति के जनक हैं, अस्मिता अनैश्वर्य की माता है । जो व्यक्ति निरन्तर 'हमारे पास कुछ नहीं है'-, कुछ नहीं है' करता रहता है, वह शीघ्र ही सारी विभूति खो बैठता है । विकास 'स्मित' (खिलना) भाव है। अपने आत्मा में सब कुछ विभूति समझना स्मितलक्षण ऐश्वर्य का कारण है। प्रत्येक दशा में अल्पता का अनुभव करना अस्मिता लक्षण अनैश्वर्य है।

१—अभिनिवेश से—अधर्म

२—अविद्या से —अज्ञान

३—रागद्वेष से —आसक्ति

४—अस्मिता से —अनैश्वर्य

पूर्व कथनानुसार ईश्वर के शरीर में पूर्वोक्त आठ विवर्त्त हैं । उस में दैवीसंपद् भी है, आसुरीसंपद् भी है। तथापि वह स्वस्वरूप से सदा विकसित रहता है। कारण इस का यही है कि यह समत्वयोग का अधिष्ठाता बना हुआ है। उसमें अविद्या है अवश्य, अन्यथा अविद्यामूलक संसार कैसे जिससे उत्पन्न होता। परन्तु समत्वयोग के प्रभाव से वह सर्वमय विश्व में लिप्त होता हुआ भी अलिप्त है। अविद्यायुक्त होता हुआ भी अविद्या से अपरामृष्ट (असंग) है- "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" (पातञ्जल–योगदर्शन)।

"सप्त वै देवस्वर्गाः" के अनुसार देवस्वर्ग सात भागों में विभक्त हैं। इन सातों देवस्वर्गों की प्रतिष्ठा सूर्य ही है, अतएव सूर्य के लिए–"मध्ये ह संवत्सरस्य स्वर्गो लोकः" (शत.६।७।४।११)"स्वर्गो वै लोकः सूर्यो ज्योतिरुत्तमम्"(यजुःसं.२०।२१–शत.१२।१।२१) इत्यादि कहा जाता है इन सात देवस्वर्गों के अतिरिक्त तीन विष्टपस्वर्ग और हैं। यह तीनों क्रमशः ब्रह्मविष्टप, विष्णुविष्टप, इन्द्रविष्टप नामों से प्रसिद्ध हैं। तीनों की समष्टि 'त्रिविष्टिपस्वर्ग' है। पृथ्वी के १७ वें अहर्गण से आरम्भ कर २५ वें अहर्गण तक जो एक प्राकृतिक यज्ञ होरहा है, वही नवाहयज्ञ (१/१७ २/१८ ३/१९ ४/२० ५/२१ ६/२२ ७/२३ ८/२४ ९/२५ इन अहर्गणों की समष्टिरूप) नाम से प्रसिद्ध है। इस नवाहयज्ञ के केन्द्र में (२१ वें अहर्गण में) नवाहयज्ञाधिष्ठाता सूर्य प्रतिष्ठित है। पृथिवी के ३३ अहर्गणों में से किस अहर्गण पर सूर्य प्रतिष्ठित है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए निम्नलिखित श्रौत वचन हमारे सामने आते हैं—

१—"एकविंशो वै स्वर्गो लोकः" (शत० १०।५।४।६)।

२—"एकविंशो वै इतः स्वर्गो लोकः" (तै० ब्रा० ३।१२।५।७)

३—"एष एवैकविंशो य एष (सूर्यः) तपति" (शत० ५।५.३।४)।

संवत्सरात्मक सूर्य्य की प्रतिष्ठा यही नवाहयज्ञ है। १७ तक पृथिवी का अपना प्राण है, १७-से २५ तक सौर संवत्सर का साम्राज्य है, इसी आधार पर–"नवाहो वै संवत्सरस्य प्रतिमा" (षड्विं. ब्रा.३।१२।) यह कहा जाता है। ४ अहर्गण सूर्य से नीचे हैं, एवं ४ अहर्गण सूर्य्य से ऊपर हैं। इन दोनों चतुष्टोमों की प्रतिष्ठा एकविंशस्तोमात्मक सूर्य्य ही है— "एकविंशो वै चतुष्टोमः स्तोमानां परमः" (कौ० ब्रा० ११।६) "प्रतिष्ठा वा एकविंशः स्तोमानाम्" (तां० ब्रा०१।३।७.२)। इन में १७ वां स्तोम ब्रह्मविष्टप कहलाता है। यहां तक पार्थिव अग्निप्रजापति की प्रधानता रहती है। यही सप्तदशस्तोमस्थ अग्नि–'प्रजापतिः सप्तदशः' (ऐ० ब्रा० ८।४) के अनुसार प्रजापति कहलाता है।- यही अग्नि 'आहवनीय' नाम से प्रसिद्ध है—(देखिए ऐ० ब्रा० ५।२४–२६)। सप्तदशस्तोमस्थ इस आहवनीय अग्नि में सोम

की आहुति होती है । इस आहुति से यह अग्नि प्रज्वलित होकर २१ एकविंश स्तोम तक व्याप्त होजाता है । इसी सोमाहुति के प्रभाव से पार्थिव यज्ञ की एकविंश तक व्याप्ति मानी जाती है । इस यज्ञात्मक विष्णु के- त्रिवृत (९), पञ्चदश (१५), एकविंश (२१) यह तीन विक्रम हैं । इन्हीं तीनों विक्रमों से (अवयवों से) वामनविष्णु ९–१५–२१ रूप पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ इन तीनो लोकों में व्याप्त हो जाते हैं । २१ पर विष्णु की व्याप्ति समाप्त है । यही २१ वां स्थान 'विष्णुविष्टप' कहलाता है—"तान् विष्णुरेकविंशेन स्तोमेनाप्नोत" (तै० ब्रा० २।७।१४।२) । इसी विष्णुविष्टप को ब्रध्नस्यविष्टप् स्वाराज्ययज्ञ आदि नामों से भी व्यवहृत किया जाता है-(देखिए तै० ब्रा० ३।८।१०।३) । यही स्वर्ग-नाकस्वर्ग नाम से भी प्रसिद्ध है । २१ से २५ तक इन्द्र विद्युत् का साम्राज्य है । इसी को **सौम्यविद्युत** कहा जाता है । यही सौम्यविद्युद् उपनिषदों में–'अमानवपुरुष' नाम से प्रसिद्ध है । यही तीसरा इन्द्रविष्टप है । दूसरे शब्दों में यों समझिए कि २५ से २१ तक इन्द्र की प्रधानता है, २१ से १७ तक विष्णु की प्रधानता है, एवं १७ से १ तक पार्थिव ब्रह्मा की प्रधानता है । पार्थिव ब्रह्मा की मूलप्रतिष्ठा १७ वां स्तोम है, विष्णु की मूलप्रतिष्ठा २१ वां स्तोम है, एवं सौम्यविद्युद्रूप इन्द्र की प्रतिष्ठा पञ्चविंशस्तोम है । इस प्रकार १७ से २५ तक के स्तोमों में से—१७–२१–२५ तीन तो विष्टपसर्गों में समाविष्ट हो जाते हैं । शेष रह जाते हैं—१/१८ २/१९ ३/२० ४/२२ ५/२३ ६/२४ यह ६ स्तोम । इन के साथ में २१ वें का सम्बन्ध माना जाता है । यह २१ वां भिन्न है, विष्णुविष्टप वाला २१वां भिन्न है । इस भिन्नता का कारण अग्नि और विष्णु है । १८ से २४ तक स्वर्ग्याग्नि नाम से प्रसिद्ध नाचिकेताग्नि का साम्राज्य है । सुतरां मध्यपतित २१ वें स्तोम में भी नाचिकेताग्नि की सत्ता सिद्ध होजाती है । इस नाचिकेताग्नि के सम्बन्ध से २१ वां स्वर्गगण देवसर्गकोटि में प्रविष्ट है । उधर २१ पर विष्णु का भी प्रभुत्व है । विष्णु के सम्बन्ध से यह २१ वां विष्टप सर्गकोटि में भी प्रविष्ट है । इस प्रकार २१ के दो स्वरूप हो जाते हैं । यही सात देवसर्गों की मूलप्रतिष्ठा है । १८–१९–२० यह तीन देवसर्ग २१ से इधर हैं, २२–२३–२४ यह तीन देवसर्ग २१ से उधर हैं, स्वयं २१ वां सातवां देवसर्ग है । यही तीन तीन स्तोम सामविद्या के

अनुसार 'स्वरसाम' नाम से प्रसिद्ध हैं । इन्हीं के कारण सूर्यग्रहण होता है, जैसा कि अन्य ग्रन्थों में स्पष्ट है । यही सप्त स्वर्गरात्रि 'त्रिणाचिकेतस्वर्ग' नाम से प्रसिद्ध है । यह सातों स्वर्ग क्रमशः अपोदक, ऋतधामा, अपराजित, नाक, अधिद्यौ, प्रद्यौ, रोचन, इन नामों से प्रसिद्ध हैं । १८ से २४ तक व्याप्त रहने वाले एक ही अग्नि की सात भिन्न भिन्न अवस्थाएं हो जाती हैं । अग्नि की वे ही सातों अवस्थाएं क्रमशः-अग्नि, वायु, इन्द्र, आदित्य, वरुण, मृत्यु, ब्रह्मा, इन नामों से प्रसिद्ध हैं । इस प्रकार सप्तदेवस्वर्ग-तीन त्रिष्टप स्वर्ग-इन सब की समष्टिरूप नवाहयज्ञ की प्रतिमारूप सौराग्निमय संवत्सर अचलरूप से खड़ा हुआ है । इस संवत्सर में सभी स्वर्गों का समावेश है । दूसरे शब्दों में यह स्वर्गों का टीला (पर्वत) है । अतएव इसे स्वर्गधरुण कहा जाता है । मिट्टी पाषाण आदि का जो एक उन्नत समूह होता है, उसे प्रान्तीय भाषा में टीला कहा जाता है । इसी के लिए वेद भाषा में 'धरुण' शब्द प्रयुक्त हुआ है । संवत्सर क्या है, स्वर्ग का धरुण है । प्रतिष्ठातत्व को ही धरुण कहा जाता है । सौर संवत्सर ही त्रैलोक्य की प्रतिष्ठा है । इस प्रतिष्ठा की भी मूलप्रतिष्ठा एकविंशस्थ आदित्य है, अतएव इसे भी 'धरुण' शब्द से व्यवहृत किया जाता है, जैसा कि वाजिश्रुति कहती है—

> "असावेवादित्यो धरुण एकविंशः। तद्यत्तमाह धरुणमिति, यदाह्येवैषो-ऽस्तमेति-अथेदं सर्वं ध्रियते" (शत० ८।४।१।१२)। "प्रतिष्ठा वै धरुणम्" (शत० ७।४।२।५)।

संवत्सर स्वर्गरूप धरुण (प्रतिष्ठा) है, इसलिए भी इसे स्वर्गधरुण कहा जासकता है । यही स्वर्गधरुण अथर्ववेद में 'स्कम्भ' (खम्भा) नाम से व्यवहृत हुआ है—"स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितं," (अथर्व सं० १०।४।७।३०)। यह अग्निस्कम्भ (संवत्सर) अविचाली रूप से खड़ा है। यही द्यावा-पृथिवी का आलम्बन है । इस स्कम्भरूप स्वर्गधरुण के ऊपर (केन्द्र में) स्थिररूप से सूर्य तप रहा है । संवत्सरचक्र आग्नेय है । यही एकचक्रात्मक (एक पहिए वाला) अग्निमय

मण्डल सूर्य का सुनहरी रथ है। गायत्री–उष्णिक्–अनुष्टुप्–बृहती–पङ्क्ति–त्रिष्टुप्–जगती नाम से प्रसिद्ध सात छन्द (सात पूर्वापरवृत्त, किंवा अहोरात्रवृत्त) रथ के सात घोड़े हैं। इन घोड़ों पर सूर्य सवार है। इस प्रकार नीचे स्वर्गधरुणरूप स्तम्भ, उस पर घोड़े, उस पर सूर्य प्रतिष्ठित है। इसी सूर्य को–'अश्मापृश्नि' कहा जाता है। अश्मा नाम के ध्रुव सोम की आहुति से ही सूर्य ज्योतिर्मय बन रहा है, जैसा कि मन्त्रश्रुति कहती है—

महत्तत् सोमो महिषश्चकारापां यद्गर्भोऽवृणीत देवान्।
अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत् सूर्ये ज्योतिरिन्दुः॥

(ऋक् सं० ९।९७।४१)।

इसी सोमाहुति से सूर्य में सप्तवर्णात्मिका रश्मियों का उदय होता है। सप्तवर्ण समष्टि ही (चित्र विचित्र वर्णों का समुच्चय ही) पृश्नि है। इसी अश्मा और पृश्नि भाव के कारण सूर्य को 'अश्मापृश्नि' कहा जाता है। अपि च जिस प्रकार एक अश्मा (पत्थर) स्थिर होता है, इसी प्रकार सूर्य स्वस्वरूप से अश्मावत् (पाषाणलोष्ठ) की तरह स्थिर है, सूर्य का रश्मिमण्डल पृश्नि है। पिण्डापेक्षया सूर्य अश्मा है, मण्डलापेक्षया पृश्नि है। इस अश्मापृश्नि सौरमण्डल के साथ उक्षा, समुद्र, अरुष, सुपर्ण इन चार भावों का सम्बन्ध है। उक्षा शब्द वृषभ (बैल) का वाचक है, समुद्र शब्द पानी का वाचक है, अरुष शब्द पुरुष का वाचक है, एवं सुपर्ण शब्द पक्षी का वाचक है। सूर्य साक्षात् वृषभ है–'वृषभो रोरवीति'। रस–उपरस–धातु–उपधातु–विष–उपविषादि की वृष्टि सूर्य से ही होती है, इसी वर्षण कर्म से इसे 'वृषभ' कहा जाता है। अपि च यही गौप्राण गोपशु का आरम्भक है। तात्पर्य यह है कि केवल वर्षणशील होने से ही सूर्य वृषभ नहीं है, अपि तु, गौप्राणावच्छेदेन सचमुच वृषभ (गौ) रूप है। सौर रश्मियों के संघर्ष से मरीचि नाम का पानी उत्पन्न होता है। सारा रोदसी त्रैलोक्य इस पानी से व्याप्त है। जैसे पारमेष्ट्य समुद्र सरस्वान् कहलाता है, तथैव संवत्सराधिष्ठाता यह सौर रोदसी समुद्र अर्णव नाम से प्रसिद्ध है—'ततः समुद्रो अर्णवः समुद्रादर्णवादधि संव-

रसरो अजायत' (ऋक्सं० १०।१९०।१-२)। अपि च वर्षा का अधिष्ठाता होने से भी आदित्य समुद्रात्मक है। सूर्य ही एकमात्र वृष्टि का अधिष्ठाता है, जैसा कि श्रुति कहती है—

> कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
> त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥
> (ऋक् सं० १ १६४ अस्यवामीय सूक्त ४७ मं०)

'यदा खल्वसावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्तते—अथ वर्षति' इत्यादि ब्राह्मणश्रुति, एवं 'आदित्याज्जायते वृष्टिः' इत्यादि स्मृति भी उक्त अर्थ का ही स्पष्टीकरण करती है। पुरुष शब्द षोडशी आत्मा का वाचक है। पूर्व में बतलाया जा चुका है कि विश्वकेन्द्रभूत सूर्य में ही पुरुष का विकास होता है। इसी आत्मपुरुष को लक्ष्य में रखकर 'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम्' यह कहा जाता है। त्रैलोक्य में जितना भी पुरुष (आत्म) वितर्त है, सब का अधिष्ठाता पुरुषावच्छिन्न सूर्य ही है। गरुड़ पक्षी का जैसा आकार होता है, ठीक वैसा ही आकार सौर संवत्सर का है। अतएव पूर्व में संवत्सर को—'महासुपर्ण' (त्रैलोक्य व्याप्त गरुड पक्षी) कहा गया है। आत्मा इसी सुपर्ण का अंश है, अतएव प्रयाणकाल में आत्मा भी सुपर्ण नाम से ही व्यवहृत होता है। यह प्रेतरूप सुपर्ण (जीवात्मा) लोकान्तर में पक्षिवत् संचरण करता है। सुप्रसिद्ध गरुड़पुराण इसी आत्मगति रहस्य का निरूपण करता है। इस प्रकार उक्षा—(वृषभ), समुद्र (अर्णव), अरुष (पुरुष) सुपर्ण—(संवत्सर) इन चार भावों से नित्य आक्रान्त वह अरमापृश्नि सूर्य द्युलोक में उसी प्रकार खड़ा हुआ है, जैसे कि आकाश में निराधार (किन्तु स्वशक्ति से आधारयुक्त) विमान (वायुयान) खड़ा रहता है। रोदसी त्रैलोक्य में व्याप्त इसी विमान का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

> विमान एष दिवो मध्य आस्ते आ प्रविवान् रोदसी अन्तरिक्षम् ।
> स विश्वाचीरभिचष्टे घृताचीरन्तरा पूर्वमपरं च केतुम् ॥ (यजुः सं० १७।५९)।
> उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुराविवेश ।
> मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा वि चक्रमे रजसस्पात्यन्तौ ॥ (ऋक्० ५।४७।३)।

"असौ वा आदित्योऽश्मा पृश्निः । रश्मिभिर्हि मण्डलं पृश्निः । एष इमौ लोकावन्तरेण तपति । स्थिरो वा अश्मा पृश्निः, अन्तरेमं च लोकममुं च । विक्रममाणो वा एष एषां लोकानामन्ताद् याति" (शत० ६।२।१७।) ।

उपर्युक्त आधिदैविक स्वर्गधरुण केवल ज्ञानगम्य है, मन से उपास्य है । चर्मचक्षु से अश्मापृश्निरूप सूर्य के अतिरिक्त आप स्वर्गधरुण के और किसी अवयव को नहीं देख सकते। जिस समय भूमण्डल पर देवयुग का साम्राज्य था, उस समय देवताओं ने (मनुष्यविध भौमदेवताओं ने–जिनकी कि सत्ता आज सर्वथा उच्छिन्न हो चुकी है) भौमस्वर्ग प्रदेश में उस प्राकृतिक (आधिदैविक) स्वर्गधरुण की नकल में ठीक वैसा ही एक स्वर्गधरुण बनाया था। इसी प्रकार विज्ञानतत्त्वों की परीक्षा के लिए सिन्धु नद के उस पार सरस्वती नदी के समीप के टीले पर (जहा पर कि वसिष्ठ महर्षि का आश्रम था) एक विज्ञानभवन बनाया था। यही विज्ञानभवन 'सूर्यसदन' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। 'द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः' (ऋक्० १०।८५।१६) इत्यादि रूपसे ऋग्वेद संहिता में इसका बड़ा विशद निरूपण है। यह भी प्रकृति की नकल पर ही बनाया गया था। विस्तारभय से इस का निरूपण प्रकृत में अनपेक्षित है । इस प्रकार उस समय की कलाओं में स्वर्गधरुण और सूर्यसदन को सर्वोच्च स्थान दिया जाता था। दुष्टबुद्धि असुरों की कृपा से आज भूमण्डल उक्त दोनों विभूतियों से वञ्चित हो गया है । थोड़े से शब्दों में स्वर्गधरुण की भी गाथा सुन लीजिए ।

जिस प्रकार प्रकृति में विष्टपादि सर्ग बतलाए गए हैं, इसी प्रकार भौम ब्रह्मा द्वारा इस भूपिण्ड पर विष्टपादि सर्ग व्यवस्था व्यवस्थित हुई थी । ईशानकोण में सौवीरराष्ट्र के अधिष्ठाता भौम इन्द्र का साम्राज्य था। जो भाग आज साइबीरिया (Siberia) नाम से प्रसिद्ध है, जिस भाग में आज तुषार वर्षण का (बर्फ का) साम्राज्य है, जहां नरहिंसक नितान्त असभ्य कुछ एक जंगली मनुष्य, एवं कुछ एक बर्फीले पशु पक्षियों को छोड़कर कुछ नहीं है, वही यह मध्य भाग किसी समय 'अमरावती' नाम से प्रसिद्ध था । यहीं देवाधिपति इन्द्र अपनी

सुधर्मासभा में निर्णय किया करते थे। यहीं भेरुण्ड नाम का दो मस्तक, एक ग्रीवा वाला अद्भुत स्वर्गीय पक्षी था, यहीं सवाछः हाथ वाले 'मेघाय' नाम के हाथी होते थे। इस प्रकार देवयुग में उक्त स्थान मानव सम्यता का सर्वोच्चतम स्थान बना हुआ था। ओर ओर सब देव स्थानों पर अधिकार करलेने पर भी असुर इस दिशा में आक्रमण न कर सके। अतः यह 'अपराजितादिक्' नाम से प्रसिद्ध हुई। यही ऐन्द्रग्राम पुराणयुग में 'इन्द्रविष्टप' था। भागेरु (पामीर) पर कान्तिमतीसभा युक्त प्राग्ज्योतिष नगर में ब्रह्मविष्टप था। एवं उत्तर दिशा में इन्द्र, ब्रह्म के मध्य में ध्रुव से नीचे के प्रदेश में भद्रगिरि–चन्द्रगिरि नाम से प्रसिद्ध दोनों पर्वतों के मध्य में विष्णुविष्टप था। इन तीनों की समष्टि ही उस समय 'त्रिविष्टपस्वर्ग' नाम से प्रसिद्ध थी। इनमें ब्रह्म और विष्णुविष्टप के मध्य में मेरु से उत्तर १७ अंश पर चौथा अग्न्यग्नविष्टप था। यही देवताओं की देवयजन भूमि थी। देवता यहीं यज्ञ किया करते थे। उत्तर रूस में जो झील आज के भुवनकोष (भूगोल) में 'बालकश' नाम से प्रसिद्ध है, यही देवयुग में 'प्राची सरस्वती' नाम से प्रसिद्ध थी। देवतालोग इसी नदी में अवभृथस्नान (यज्ञान्तस्नान) किया करते थे, यही स्थान अग्न्यग्नविष्टप था, यहीं स्वर्गधरुण था। यही स्वर्ग का परिचायक था। यहां से चारों ओर रास्ता जाता था। ईशान की ओर इन्द्रविष्टप का मार्ग, उत्तर की ओर विष्णुविष्टप का मार्ग, पश्चिम की ओर ब्रह्मविष्टप का मार्ग, एवं दक्षिण की ओर पितृमार्ग था। जिसे आज 'मंगोलिया' कहा जाता है, वही हमारा 'प्रद्यौ' नाम का पितृलोक था। इस प्रकार चारों ओर गमन के मार्गों से युक्त इसी (चतुष्पथ-चौराहा) में स्वर्गधरुण खड़ा था। चतुष्पथ के ठीक बीच में एक चोकोर ऊंचा चबूतरा बनाया गया, इस पर बड़े शिल्प से (नीचे से बड़ा, ऊपर से क्रमशः छोटा) एक पत्थर का स्तम्भ खड़ा किया गया, यही अश्मा था। इस अश्मा के सर्वोच्च धरातल पर प्रकृतिवत् (एको अश्वो वहति सप्तनामा—ऋक्० १।१६४।२) धातु का एक अश्व बनाकर उसके सुवर्ण के सात मस्तक बनाए गए।

इस सप्तमुख अश्व के पृष्ठ पर एक दण्ड खड़ा कर उस पर चमकता हुआ रश्मियुक्त सूर्य प्रतिष्ठित किया गया। रश्मिप्रसार के कारण ही इस का पृश्नि नाम रक्खा गया। यह बनावटी

सूर्य दिन-रात समान रूप से प्रकाशित रहता था। चारों मार्गों के पथिकों को मार्ग बतलाना इसका मुख्य काम था। सब से नीचे चबूतरे के चारों ओर एक चतुर्भद्र मण्डल बनाया गया था। इस मण्डल के चारों कोणों में क्रमशः उक्षा-समुद्र-अरुष-सुपर्णा यह चार वस्तुएं प्रतिष्ठित की गईं थीं। एक कोण में पाषाण का वृषभ (बैल) खड़ा किया गया था। दूसरे कोण में बैल से ठीक नीचे एक गरुड पक्षी था। इस की आकृति ऐसी बनाई गई थी, जैसे सोमापहरण के लिए यह झपाटा मार रहा हो। तीसरे कोणमें अश्व पर एक मनुष्य बनाया गया था। उस के हाथ में एक भाला था, और वह भाला भूगर्भ में प्रविष्ट था। जिस स्थान पर भाला गड़ा हुआ था, वहां से पानी निकल कर चौथे कोण में बने हुए समुद्र (सरोवर) में निरन्तर जाता रहता था। इसी पानी से वह तालाब सदा भरा रहता था। आश्चर्य यह था कि भाले से निकले हुए पानी के निरन्तर आने पर भी उस तालाब में से (और किसी मार्ग से पानी के बाहर निकलने का द्वार न होते हुए भी) पानी अपनी नियत सीमा का उल्लंघन नहीं करता था। देवाधिपति इन्द्र के इस शिल्प से उस समय सारा विश्व चकित था। आधिदैविक स्वर्गधरुण की इस प्रतिमा से इन्द्र का यश सर्वत्र व्याप्त होगया था। इसी प्रतिमारूप भौतिक धरुण का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

इन्द्रो दीर्घाय चक्षसे आसूर्यं रोहयद्दिवि ।
वि गोभिरद्रिमैरयत् । (ऋक्सं० १।७।३।) ।
इन्द्रो दिवः प्रतिमानं पृथिव्या विश्वा वेद सवना हन्ति शुष्णम् ।
महीं चिद्द्यामतनोत् सूर्येण चास्कम्भ चित्कम्भनेन स्कम्भनीयान् ॥
(ऋक्० सं० १०।१११।५।) ।

आगे के परिलेख से स्वर्गधरुण की प्रतिमा का उक्त स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इन्द्र के प्रतिमा शिल्प से तत्कालीन प्रजाने इन्हें सर्वश्रेष्ठ माना था, जैसा कि ' ततो वा इन्द्राय प्रजाः श्रैष्ठ्यायातिष्ठन्त-तच्छ्रियं परयन्तः ' इत्यादि रूप से पूर्व में कहा जाचुका है।

विज्ञानघनसूर्यप्रकरण के सम्बन्ध से तत् सम्बन्धी संसरसरात्मक स्वर्गधरुण का दिग्दर्शन

कराया गया, अब पुनः प्रकृत का अनुसरण करते हैं। यद्यपि विश्व की योनि महद्ब्रह्म ही है, तथापि जब तक वाङ्मय सूर्य का इस के साथ सम्बन्ध नहीं हो जाता, तब तक यह सृष्टि करने में असमर्थ ही रहता है। कारण इसका यही है कि सृष्टि की प्रवृत्ति सत्व-रज-तम-इन गुणों के आधार पर होती है। इन तीनों में भी सृष्टि का प्रधान मूल रजोगुण ही है। ज्ञानप्रधान सत्वगुण निष्क्रिय होने से, अर्थप्रधान तमोगुण जड़ होने से व्यापारमूला सक्रियसृष्टि में असमर्थ है। समर्थ है एकमात्र मध्यपतित क्रियाप्रधान रजोगुण। विश्व का मूल रज है। इस रज के साथ यदि सत्व की प्रधानता रहती है तो सात्विकी सृष्टि होती है, तम की प्रधानता से तामसी सृष्टि होती है, स्वयं रज की प्रधानता से रजोमयी सृष्टि होती है। ज्ञानतत्व ज्योतिर्मय होने से शुभ्र (शुक्ल) माना जाता है, तम आवरणरूप होने से कृष्ण माना जाता है, एवं मध्यपतित रज 'रक्त' है। यही सृष्टि में प्रधानरूप से अनुरक्त है-'रजोजुषे जन्मनि सत्वहत्तये'। महद् प्रकृति इन शुक्ल-रक्त-कृष्ण भावों से युक्त अज पुरुष की अजा है। दूसरे शब्दों में 'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' के अनुसार स्वप्रकृतिभूत, अतएव 'अजा' नाम से प्रसिद्ध इस महत् प्रकृति से युक्त होकर ही अजपुरुष सृष्टि किया करता है। जैसा कि-'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्वीः प्रजाः सृजमानाः सरूपाः' (श्वेता० ४।५) इत्यादि से स्पष्ट है। बतलाना यह है कि सृष्टि महद्ब्रह्म के त्रैगुण्यभाव पर निर्भर है, एवं यह त्रिगुणता सूर्य के दर्शपूर्णमास यज्ञ से उत्पन्न होती है, जैसा कि पूर्व के महदात्माधिकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। सूर्य ज्ञान-क्रिया-अर्थ-मूर्ति है। यही तीनों भाव महद्ब्रह्म में सत्व-रज-तम रूप से विकसित होते हैं। सत्व-रज-तम तीनों ही गुण हैं, विषमावस्था में जाते हुए तीनों ही दोष हैं। सत्व ज्ञानभाग को विकसित करता है, इस से (ज्ञानोदय से) आनन्द आता है। सत्व का प्रवर्त्तक सूर्य ही है, अतएव-'सत्वादपि महानात्मा' इत्यादि रूप से बुद्धिरूप सूर्य को, किंवा सूर्यरूपा बुद्धि को 'सत्व' कहा जाता है—(देखिए कठोप० ६।७)। जिस जीवात्मा में सत्व की प्रधानता रहती है, उसमें ज्ञान और आनन्द (आत्मानन्द) कला का विकास रहता है। सत्व (विद्यामात्र) अव्ययात्मा के विद्यारूप आनन्द

विज्ञान को विकसित करता है। जो धीर सदा प्रसन्न रहते हैं, विचारशील हैं, बुद्धिमान् हैं, उनमें सत्व की ही प्रधानता है। यह सदा ज्ञान से ही परिश्रम करते हैं। इनसे शरीरायास नहीं हो सकता। जिस में कर्मप्रवणता अधिक है, काम्य कर्मों में, सांसारिक धन्धों में जो रात दिन प्रवृत्त रहता है, उस में रजोगुण की प्रधानता समझिए। एवं प्रमाद-आलस्य-अतिनिद्रा-अतिभोजन-निरर्थक कालयापन-यह सब तमोगुण का चमत्कार है। (देखिए गीता० १४-अ०।६,७,८ श्लो०)। इस प्रकार उक्त तीनों गुण प्रकृति से (सौर दर्शपूर्णमास द्वारा) उत्पन्न होकर देहस्थित जीवाव्यय को बंधन में डाल देते हैं, जैसाकि स्मृति कहती है—

> सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
> निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ (गीता० १४।५।)।

इस प्रकार आपोयोनि में वाग्रेत से उत्पन्न, महद्ब्रह्म में त्रैगुण्य का उदय करने वाला, अक्षररूप, अव्यय-क्षर के विद्या-अविद्या से उभयरूप बने हुए लोकद्रष्टा सहस्रांशु भगवान् विश्व के केन्द्र में प्रतिष्ठित हो रहे हैं। अध्यात्मसंस्था में आने वाला वही सौर भाग 'विज्ञानात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। आधिदैविक विज्ञानात्मा (सूर्य) का निरूपण समाप्त हुआ, अब आध्यात्मिक सूर्य (विज्ञानात्मा) का दिग्दर्शन कराया जाता है।

विद्या-अविद्यात्मक यह सूर्य अध्यात्मजगत् में-'विज्ञानात्मा' 'बुद्धि' 'चाक्षुषपुरुष' 'क्षेत्रज्ञात्मा' आदि विविध नामों से प्रसिद्ध है। प्रत्येक आत्मा के साथ प्रभव, प्रतिष्ठा, योनि, आयतन, इन चार चार भावों का सम्बन्ध है। अध्यात्मसंस्था में जितने भी आत्मविवर्त हैं, सब के प्रभवादि भिन्न भिन्न हैं। आध्यात्मिक आत्माओं का उत्पत्तिस्थान प्रभव कहलाता है। जिस द्वार से यह शरीर में प्रविष्ट होते हैं, वह द्वार ही योनि है। आकर शरीर के जिस स्थान में यह उक्थरूप से प्रतिष्ठित होते हैं, वही प्रतिष्ठा है। एवं अर्क रूप से जहां तक यह व्याप्त रहते हैं, वही व्याप्ति स्थान आयतन है। प्रसंगागत इन का भी दिग्दर्शन करा देना अप्रासङ्गिक न होगा। सब से पहिले आध्यात्मिक षोडशी पुरुष पर ही दृष्टि डालिए। आध्यात्मिक



सर्गधरणम्

इन के आशय हैं। सातवां शरीर है। पाञ्चभौतिक शरीर के पांचों भूत प्रभव हैं, उत्पत्तिकाल में शुक्र-शोणित इन भूतों की योनि हैं। उत्पत्त्यनन्तर पञ्चभूतसमष्टिरूप पञ्चविध अन्न (अन्न–जल–गर्मी–वायु–शब्द) योनि हैं, इन्हीं के द्वारा भूतों का आगमन होता है। आशय सर्वाङ्गशरीर है। आठवां प्राणात्मा नाम से प्रसिद्ध कर्मात्मा है। इस की वैश्वानर तैजस प्राज्ञ यह तीन कलाएं हैं। इन में वैश्वानर का प्रभव त्रिवृत्स्तोमस्थानीय पार्थिव चितेनिधेयाग्नि है, योनि नाभि है, प्रतिष्ठा दक्षिणपार्श्व है, आशय सर्वाङ्गशरीर है। आन्तरिक्ष्य पञ्चदशस्तोमस्थानीय वायु तैजसात्मा का प्रभव है, हृदय से निकल कर कण्ठ तक व्याप्त रहने वाली तेजोनाड़ी योनि है, हृदय प्रतिष्ठा है, आशय सर्वाङ्गशरीर है। एकविंशस्तोमावच्छिन्न दिव्य आदित्य (इन्द्र) प्राज्ञ का प्रभव है, सुषुम्णानाड़ी योनि है, भ्रूसंधि प्रतिष्ठा है, आशय सर्वाङ्गशरीर है। इन सब में प्रतिष्ठा भिन्न भिन्न बतलाई गई है, परन्तु अन्न इन सब की सामान्य प्रतिष्ठा है–'सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम्'। कारण इस का यही है कि जब तक अन्नाहुति होती रहती है, तभी तक यज्ञसत्ता है, यज्ञसत्ता पर अध्यात्मजगत की सत्ता है—"अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर" (गीता ८।४)।

शरीर——सप्तम्

षोडशीपुरुषः——पुरुषः——षोडशी

१—अव्यक्तात्मा—अव्यक्त——स्वयम्भू

२—महानात्मा——महान्———परमेष्ठी

३—विज्ञानात्मा—बुद्धिः———सूर्य्यः

४—प्रज्ञानात्मा—मनः———चन्द्रमाः

५—{ कर्मात्मा——भोक्तात्मा, इन्द्रियाणि——भोगसाधनानि, शरीरम्——भोगायतनम् }—पृथिवी

इन्द्रियेभ्यः परार्था, अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तं, अव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥
(कठोपनिषत् १ अ. ३ व. १०-११)

उक्त आत्मप्रपञ्चों में से प्रकृत में केवल विज्ञानात्मा के ही प्रमवादि का विचार अपेक्षित है। सूर्य इस का उत्पत्ति स्थान है, उत्पन्न होकर यह केशान्तद्वार से अध्यात्मसंस्था में प्रविष्ट होता है। ब्रह्मरन्ध्र नाम से प्रसिद्ध केशान्तस्थान से सतत आते रहने वाले सौरदेवमय इसी विज्ञानप्राण को आसुरप्राणप्रधान लौहक्षुरिका से बचाने के लिए शिखा रखने का आदेश है। इस सुसूक्ष्मद्वार से विज्ञानशिव हृदयस्थ प्रज्ञानात्मा (मन) पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। यहां उक्थरूप से प्रतिष्ठित होकर, अर्करूप से विज्ञानप्रकाश सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त हो जाता है। हृदयबिन्दु से आरम्भ कर सूर्यकेन्द्र तक एक नियत मार्ग बना हुआ है। हृदय से नीचे पार्थिव अपानप्राण का साम्राज्य है, हृदय से आरम्भ कर ऊपर तक सौरप्राण की प्रधानता है। यह दोनों प्राण (पार्थिव अपानप्राण, सौर प्राणप्राण) क्रमशः पृथिवी और सूर्य केन्द्र से बद्ध हैं। यही स्थान क्रमशः अधःस्वस्तिक एवं खस्वस्तिक नाम से प्रसिद्ध हैं। खगोलीय सौर स्वस्तिक खस्वस्तिक है, भूगोलीय पार्थिव स्वस्तिक अधःस्वस्तिक है। इन दोनों स्वस्तिकों से उभयतः परिच्छिन्न बना हुआ यह अमूलपुरुष इतस्ततः विचरण किया करता है, जैसा कि श्रुति कहती है—

"अन्तरिक्ष वाऽअनु रक्षश्चरति-अमूलमुभयतः परिच्छिन्नम् ।
यथायं पुरुषोऽमूल उभयतः परिच्छिन्नोऽन्तरिक्षमनुचरति" ॥
(शत० ब्रा० १ । १ । २ । ४ ।)।

इस स्वस्तिक का दिग्दर्शन पुरुषात्माधिकरण में कराया जाचुका है—(देखिए ई. वि- मा. १४० पृ.)। प्रत्येक व्यक्ति के उक्त दोनों स्वस्तिक भिन्न भिन्न हैं। यही दोनों स्वस्तिक हमारे जीवन की प्रतिष्ठा हैं। सौर-पार्थिव रस से ही हम उत्पन्न हुए हैं, एवं इन्हीं रसों से जीवित हैं। जब तक वैयक्तिक स्वस्तिक शान्त रहता है, तभी तक उस व्यक्ति की स्वस्ति (शिव–कल्याण) है। स्वस्तिभाव की प्रवृत्ति के कारण ही इन्हें 'स्वस्तिक' कहा जाता है। यह स्वस्तिकवृत्त वृत्त के सम्बन्ध से चतुर्भुज बन जाता है। सृष्टिरहस्यवेत्ता जानते हैं कि प्रत्येक

प्राणी का खगोल एवं भूगोल नियत है। उन नियत मार्गों के रसों से ही तत्तद् प्राणियों के प्राण प्रतिष्ठित रहते हैं। इसी स्वस्तिकामना के लिए भारतीय देशधर्म में स्वस्तिक का पूजन किया जाता है। स्वस्तिक एक नहीं, दो बनाए जाते हैं। द्वार के दक्षिणोत्तर पार्श्वों में दोनों स्वस्तिक चित्र स्थापित किए जाते हैं। इन में दक्षिण स्वस्तिक अधःस्वस्तिक की, एवं उत्तर स्वस्तिक खस्वस्तिक की प्रतिमा है। इस से कहना यही है कि हृदय से नीचे रहनें वाला, ब्रह्मग्रन्थि (मूलद्वार) से प्रविष्ट होनें वाला पार्थिव अपानप्राण अधःस्वस्तिक की प्रतिष्ठाभूत भूकेन्द्र से नित्य बद्ध रहता है। एवमेव हृदय से ऊपर रहनें वाला, ब्रह्मरन्ध्र से प्रविष्ट होनें वाला सौरप्राण (विज्ञानात्मा) खस्वस्तिक की प्रतिष्ठाभूत सूर्यकेन्द्र से नित्य बद्ध रहता है। जैसे नियत स्थान पर जानें के लिए नियत मार्ग बना रहता है, एवमेव प्रत्येक प्राणी के हृदय से आरम्भकर सूर्यकेन्द्र तक खस्वस्तिकरूप स्वतन्त्र मार्ग बने हुए हैं। यही मार्ग उपनिषदों में 'महापथ' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। प्रत्येक प्राणी का विज्ञानात्मा अपनें अपनें खस्वस्तिकरूप नियत महापथों से प्रतिक्षण सूर्य में जाया करता है, एवं आया करता है। एक निमेष (पलक) में यह विद्युन्मय विज्ञानप्राण सूर्य में तीन बार जाकर लौट आता है। इस महापथ में विविधवर्णयुक्त सौर रश्मिएं व्याप्त रहती हैं। दूसरे शब्दों में इस मार्ग का स्वरूप सूर्यरश्मिएं ही हैं। व्यक्तिभेद से सर्वथा विभक्त इसी सुसूक्ष्म महापथ का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

> "अणुः पन्था विततः पुराणो मां स्पृष्टो ऽनुवित्तो मयैव।
> तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गलोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः ॥ १ ॥
> तस्मिन् शुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च।
> एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत् तैजसश्च ॥ २ ॥
> (शत. १४।७।२)।

हृत्प्रतिष्ठ प्रज्ञान (मन) को आप्यायित करता चन्द्रमा समझिए, तत्प्रतिष्ठ विज्ञान (बुद्धि) को सूर्य समझिए। विज्ञानात्मा की प्रतिष्ठा हृदयस्थ प्रज्ञान मन ही है। जिस प्रकार प्रकृति में

"प्रभव-योनि-प्रतिष्ठा-आशय-परिलेख"

१	१–प्रभवः–(उत्पत्तिस्थानम्)–ईश्वरात्मा, शुक्रं-योगमायाच २–योनिः–(प्रवेशद्वारम्)–महानात्मा (महत्सोमः) ३–प्रतिष्ठा–(स्थितिस्थानम्)–सर्वान्तरतमो दहराकाशः ४–आशयः–(व्याप्तिस्थानम्)–शरीरम्	"पुरुषान्न परं किञ्चित्, सा-काष्ठा सा परा गतिः" षोडशीपुरुषः→अमृतात्मा (अव्यक्तात् पुरुषः परः)
२	१–प्रभवः—स्वयम्भूः २–योनिः—शिरोगुहा ३–प्रतिष्ठा—हृदयम् ४–आशयः—शरीरम्	—अव्यक्तात्मा-(प्राकृतात्मा) १–अव्यक्तम्) महासत्यात्मा (महतः परं →→
३	१–प्रभवः—परमेष्ठी २–योनिः—शुक्रम् ३–प्रतिष्ठा—हृदयम् ४–आशयः—शरीरम्	—महानात्मा (प्राकृतात्मा) २–महान्) महासत्यात्मा (बुद्धेरात्मा (परः) →→
४	१–प्रभवः—सूर्यः २–योनिः—नान्दनम् ३–प्रतिष्ठा—हृदयम् ४–आशयः—शरीरम्	—विज्ञानात्मा (प्राकृतात्मा) ३–बुद्धिः) महासत्यात्मा (मनसस्तु परा →→
५	१–प्रभवः—चन्द्रमाः (अन्नम्) २–योनिः—शुक्रम् ३–प्रतिष्ठा—हृदयम् ४–आशयः—शरीरम्	—प्रज्ञानात्मा (प्राकृतात्मा) ४–मनः) महासत्यात्मा (इन्द्रियेभ्यः परं →→

६
१–प्रभवः—भास्वरसोमः
२–योनिः—प्रज्ञानम्
३–प्रतिष्ठा—ब्रह्मरन्ध्रम्
४–आशयः—पञ्चेन्द्रियाणि
} (इन्द्रियाणि (कर्म्मावच्छिन्न-शरीरतः) पराण्याहुः) संकल्पविकल्पात्मकमिन्द्रियं- } मनः–१

——0——

७
१–प्रभवः—दिक्सोमः
२–योनिः—प्रज्ञानम्
३–प्रतिष्ठा—श्रोत्रविवरे
४–आशयः—मनः (प्रज्ञानम्)
} श्रोत्रे २

——0——

८
१–प्रभवः—आदित्यः
२–योनिः—प्रज्ञानम्
३–प्रतिष्ठा—चक्षुर्विवरे
४–आशयः—मनः (प्रज्ञानम्)
} चक्षुषी ३

——0——

९
१–प्रभवः—वायु
२–योनिः—प्रज्ञानम्
३–प्रतिष्ठा—नासाविवरे
४–आशयः—मनः (प्रज्ञानम्)
} नासिके (प्राणः) ४

——0——

१०
१–प्रभवः—अग्निः
२–योनिः—प्रज्ञानम्
३–प्रतिष्ठा—जिह्वा
४–आशयः—मनः (प्रज्ञानम्)
} वाक् ५

पञ्चदेवात्मकानि—इन्द्रियाणि.

इन्द्रियाणि — पराण्याहुः

——०❋०——

वैश्वानरतैजसप्राज्ञमूर्त्तिः—

अग्निवाय्विन्द्रकृतात्मा प्राणात्मा वा कर्म्मात्मा देवसत्यः—

११ (१)
१—प्रभवः—एकविंश आदित्यः
२—योनिः—सुषुम्णानाडी
३—प्रतिष्ठा—हृदयम्
४—आश्रयः—शरीरम्

} प्राज्ञात्मा—आदित्येन्द्रः—देवसत्यः—१ प्राज्ञः



१२ (२)
१—प्रभवः—पञ्चदशो वायु
२—योनिः—तेजोनाडी
३—प्रतिष्ठा—हृदयम्
४—आश्रयः—शरीरम्

} तैजसात्मा—वायु—देवसत्यः—२ तैजसः



१३ (३)
१—प्रभवः—त्रिवृदग्निर्घनेनिर्धयः
२—योनिः—नाभिः
३—प्रतिष्ठा—जाठराग्निः
४—आशयः—शरीरम्

} वैश्वानरात्मा—अग्निः—देवसत्यः—३ वैश्वानरः

त्रिकलः——कर्म्मात्मा देवसत्यः



शरीरं — मूलप्रतिष्ठा

“पञ्चभूतात्मकं — शरीरम्”
“अ — म — स — त्य — म्”

१–प्रभवः—पञ्चीकृता पृथ्
२–योनिः—शुक्रशोणिते–अन्नश्च
३–प्रतिष्ठा—अग्निश्चित्यः
४–आशयः–शरीरम्
} अस्थिमांसादयो घनपदार्थाः १

—०—

१–प्रभवः—पार्थिवापःपञ्चीकृताः
२–योनिः—शुक्रशोणिते–आपश्च
३–प्रतिष्ठा—आपः
४–आशयः–शरीरम्
} असृग्रसादयस्तरलपदार्थाः २

—०—

१–प्रभवः—पञ्चीकृतोऽग्निः पार्थिवः
२–योनिः—शुक्रशोणिते–तेजश्च
३–प्रतिष्ठा–तेजः
४–आशयः–शरीरम्
} ऊष्मा ३

—०—

१–प्रभवः—पञ्चीकृतो वायुःपार्थिवः
२–योनिः—शुक्रशोणिते–वायुश्च
३–प्रतिष्ठा—वायुः
४–आशयः–शरीरम्
} धमन्यो वायुवाहिन्यः ४

—०—

१–प्रभवः—पञ्चीकृत आकाशःपार्थिवः
२–योनिः—शुक्रशोणिते–शब्दश्च
३–प्रतिष्ठा—आकाशः
४–आशयः–शरीरम्
} सुषिराणि ५

—०—

चन्द्रमा सूर्य से प्रकाशित रहता है, एवं इसी प्रकाश के तारतम्य से जैसे वहां अमावास्या, पूर्णिमा, कृष्णाष्टमी, शुक्लाष्टमी आदि भाव उत्पन्न होते हैं, ठीक इसी तरह यह प्रज्ञानचन्द्र विज्ञानसूर्य से प्रकाशित रहता है, एवं प्रकृतिवत् अध्यात्मसंस्था में भी अमा-पूर्णिमा आदि भावों का उदय होता है। अन्तर दोनों में केवल इतना ही है कि प्रकृति का मास (महिना) ३० दिन का होता है, एवं आध्यात्मिक मास एक अहोरात्र का है। अहःकाल शुक्लपक्ष है, रात्रिकाल कृष्णपक्ष है। प्रकृति में क्या होता है! पहिले इस का विचार कीजिए। सूर्य विश्वकेन्द्र में प्रतिष्ठित है। चन्द्रमा पृथिवी के चारों ओर परिक्रमा लगाता है। जब चन्द्रमा परिक्रमा लगाते लगाते पृथिवी के इस ओर आजाता है तो सूर्य का पूर्ण प्रकाश इस पर पड़ता है, इसी का नाम पूर्णिमा है। घूमते घूमते जब वह पृथिवी के उस ओर (सूर्य की ओर) चला जाता है तो चन्द्रमा का दृश्य भाग (पृथिवी की ओर का भाग) सौरप्रकाश से वञ्चित होजाता है। इस प्रकार सूर्य चन्द्रमा के संगम से दर्श (अमावास्या) का जन्म होता है—'दर्शः सूर्येन्दुसङ्गमः'। पृथिवी के केन्द्र से काटते हुए दक्षिणोत्तर एक रेखा लेजाइए। इन रेखाओं के प्रान्तभाग में जब चन्द्रमा आता है तो क्रमशः शुक्लाष्टमी, कृष्णाष्टमी का जन्म होजाता है। शुक्लाष्टमी में सायंकाल आधा (चतुर्थ) चन्द्रमा प्रकाशित रहता है, एवं कृष्णाष्टमी में रात्रि के १२ बजे आधा चन्द्रमा प्रकाशित रहता है। पूर्णिमा में सारा चन्द्रमा प्रकाशित नहीं रहता, एवं न अमावास्या में पूरा चन्द्रमा काला रहता। अपि तु प्राकृतिक स्थिति के अनुसार आधा चन्द्रमा ही प्रकाशित-अप्रकाशित रहता है। पूर्णिमा में दृश्य आधा भाग प्रकाशित है, अदृश्य आधा भाग अप्रकाशित है। अमा में पृष्ठभाग प्रकाशित है, पृथिवी की ओर का आधा भाग अप्रकाशित है, अतएव वह नहीं दीखता। इस स्थिति के अनुसार अष्टमी में चतुर्थ भाग को ही प्रकाशित अप्रकाशित मानना पड़ता है। वस्तुतस्तु सभी तिथियों में सदा ही आधा भाग प्रकाशित, एवं आधा भाग अप्रकाशित रहता है। हमारी दृश्यस्थिति के अनुसार हम एक कला-दो कला-तीन कला-इस प्रकार कलाविभाग मान लेते हैं। यह है आधिदैविक जगत की परिस्थिति।

वाक् पर थोड़ा सा प्रकाश रहता है। यही कारण है कि स्वप्नावस्था में मनुष्य न देख सकता, न सुन सकता, न सूंघ सकता, न स्वाद लेसकता, परन्तु वाग्व्यापार करता रहता है। चूंकि पर्याप्त प्रकाश नहीं है, अतएव यह स्वप्नवाक् अनर्गल होती है "सुप्तोऽहं किल विललाप" (उदयनाचार्य कृत कुसुमाञ्जलि)। स्वप्नावस्था में मनुष्य व्यर्थ वाक् का प्रयोग करता हुआ देखा जाता है। मन क्रमशः नीचे उतरता हुआ जब हृदयस्थ विज्ञान सूर्य के समधरातल पर आजाता है तो ऊपर के त्रैलोक्य मण्डल में घोर अन्धकार हो जाता है। यही सूर्येन्दुसंगमलक्षणा अमावास्या है, यही 'सुषुप्तिकाल' है। यहां वाग्व्यापार भी बंद हो जाता है। घोर निद्रा में सारी इन्द्रिएं (मुख्य प्राण को छोड़ कर) सर्वथा स्तब्ध बन जाती हैं। इस प्रकार चान्द्र मन की परिक्रमा से अध्यात्मजगत में भी दर्शादि का समन्वय सिद्ध हो जाता है।

उक्त प्रकरण से पाठकों को यह विदित होगया होगा कि मन में जो प्रकाश है, वह विज्ञानसूर्य की ही महिमा है। साथ ही में यह भी सिद्ध विषय है कि अन्नप्रधान आध्यात्मिक जगत् में प्रधानता 'मन' की ही रहती है। मन ही विज्ञान की प्रतिष्ठा है। जिस का मन मर-जाता है, उसकी बुद्धि भी नष्ट होजाती है। इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि मन पार्थिव अन्नाहुति से बनता है "अन्नमयं हि सोम्य मनः"। यदि दो चार दिन अन्न नहीं खाया जाता है तो मन निर्बल होजाता है, क्षीणकाय बन जाता है। उसी समय मन पर प्रतिष्ठित रहने वाला विज्ञान भी निर्बल होजाता है, विचार शक्ति नष्ट हो जाती है "बुभुक्षितं न प्रतिभाति किंचित्" * "स्वस्थे चित्ते बुद्धयः संस्फुरन्ति"। विज्ञान-प्रज्ञान दोनों सपरिष्वक्त (एक दूसरे से मिले हुए) रहते हैं। विज्ञानतत्व महद्गर्भित चिज्ज्योति (आत्मज्योति) से प्रकाशित है, प्रज्ञान चिद्घन विज्ञान से प्रकाशित है। इन्द्रिएं विज्ञानज्योतिर्मय प्रज्ञानज्योति से प्रकाशित हैं। विषयजात (भौतिक प्रपञ्च) प्रज्ञानज्योतिर्मय इन्द्रियज्योति से प्रकाशित हैं। इस प्रकार आत्म-ज्योति का भूतपदार्थों तक वितान करना विज्ञानयज्ञाधिष्ठाता एक मात्र विज्ञान का ही कार्य है।

उपनिषत् प्रेमियों को विज्ञानात्मा के सम्बन्ध में आज एक आश्चर्यमयी स्थिति बतलाते हैं। विज्ञानात्मा को तत्त्वरूप से जहां हमनें स्थिर बतलाया है, वहां अर्करूप से उसे सर्वाङ्गशरीर

अब आध्यात्मिकसंस्था का विचार कीजिए। हृदय से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त त्रैलोक्य की सत्ता समझिए। इस त्रैलोक्य का अधिष्ठाता हृदयस्थ विज्ञानसूर्य है। हृदय पर मनरूप चन्द्रमा प्रतिष्ठित है। हृदय विन्दु से आरम्भ कर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त सोमधरातल है। इसी को 'वाण' (स्थिर यष्टि) कहा जाता है–(देखिए प्रश्नोपनिषद् २। २।) मुखस्थान अग्निप्रधान पृथिवीलोक है। नासिकास्थान वायुप्रधान अन्तरिक्षलोक है। चक्षुस्थान आदित्यप्रधान द्युलोक है। श्रोत्रस्थान दिक्सोमप्रधान चौथा आपोलोक है। स्वयं ब्रह्मरन्ध्र मन की अन्तिम प्रतिष्ठा है। इस प्रकार इस सोमधरातल पर इन्द्रियरूप त्रैलोक्य, किंवा चारों लोक प्रतिष्ठित हैं। कण्ठस्थान में एक मांसपेशी अधर लटकी रहती है, इसी के लिए–'स्तन इवावलम्बे' यह कहा जाता है। यही गलस्तन लोकभाषा में 'कागली' नाम से प्रसिद्ध है। उपनिषद्भाषा में यही 'इन्द्रयोनि' नाम से व्यवहृत हुई है। इस की स्थिति वाक् (मुख) इन्द्रिय के समधरातल पर है। यही वास्तविक भूलोक है। ब्रह्मरन्ध्र से एक प्रादेश पर यह कण्ठविन्दु है, कण्ठ से एक प्रादेश पर हृदय-विन्दु है। यहां से मन ऊपर की ओर चलता है। चलते २ वाग्रूप पृथिवी लोक को पार कर जब यह अपनी अन्तिम सीमारूप ब्रह्मरन्ध्र पर पहुंच जाता है तो ऐसी अवस्था में इस पर हृदयस्थ विज्ञानसूर्य का पूर्ण प्रकाश पड़ता है। यही इस की पूर्णिमा है। इन्द्रियें इस समय प्रकाशित मन से नीचे हैं, अतएव मन के प्रकाश से सारी इन्द्रियें प्रकाशित हो पड़ती हैं। मानस प्रकाश को प्राप्त करते ही इन्द्रियें अपना कार्य आरम्भ कर देती हैं। इसी पूर्णिमाकाल का नाम 'जाग्रदवस्था' है। वहां से मन क्रमशः नीचे उतरता है। जब वाक्स्थान पर आता है तो ऊपर की इन्द्रियों में अन्धकार हो जाता है। श्रोत्र का शब्दश्रवण, चक्षु का रूपदर्शन, रसना का स्वादग्रहण सब अवरुद्ध हो जाते हैं। हां मुख्य (नासा)-प्राण इस समय भी, उस समय भी क्या 'प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति' (प्रश्नोप० ४। ३।) के अनुसार सदा ही जागता रहता है। श्वास–प्रश्वास घोर सुषुप्तिकाल में भी यथावत् चलते रहते हैं। वाक् सन्धि-स्थान है, यही अर्थर्षी है -"वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना"(शत० १४। २। ४।)। यही अर्थ की सन्धिस्थानीया 'स्वप्नावस्था' है। इस में और किसी इन्द्रिय पर तो प्रकाश नहीं रहता, परन्तु

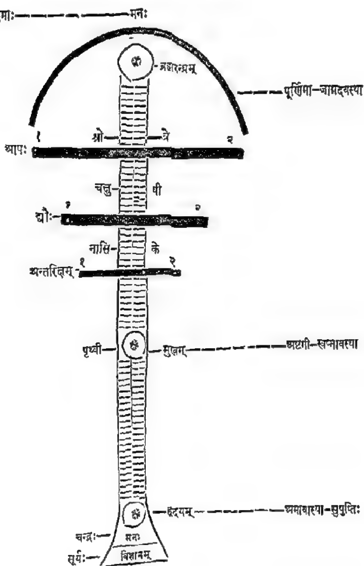
वाक् पर थोड़ा सा प्रकाश रहता है। यही कारण है कि स्वप्नावस्था में मनुष्य न देख सकता, न सुन सकता, न सूंघ सकता, न स्वाद लेसकता, परन्तु वाग्व्यापार करता रहता है। चूंकि पर्याप्त प्रकाश नहीं है, अतएव यह स्वप्नवाक् अनर्गल होती है "सुप्तोऽहं किल विललाप" (उदयनाचार्य कृत कुसुमाञ्जलि)। स्वप्नावस्था में मनुष्य व्यर्थ वाक् का प्रयोग करता हुआ देखा जाता है। मन क्रमशः नीचे उतरता हुआ जब हृदयस्थ विज्ञान सूर्य के समधरातल पर आजाता है तो ऊपर के त्रैलोक्य मण्डल में घोर अन्धकार हो जाता है। यही सूर्येन्दुसगमलक्षणा अमावास्या है, यही 'सुषुप्तिकाल' है। यहां वाग्व्यापार भी बंद हो जाता है। घोर निद्रा में सारी इन्द्रिएं (मुख्य प्राण को छोड़ कर) सर्वथा स्तब्ध बन जाती हैं। इस प्रकार चान्द्र मन की परिक्रमा से अध्यात्मजगत में भी दर्शादि का समन्वय सिद्ध हो जाता है।

उक्त प्रकरण से पाठकों को यह विदित होगया होगा कि मन में जो प्रकाश है, वह विज्ञानसूर्य की ही महिमा है। साथ ही में यह भी सिद्ध विषय है कि अन्नप्रधान आध्यात्मिक जगत् में प्रधानता 'मन' की ही रहती है। मन ही विज्ञान की प्रतिष्ठा है। जिस का मन मरजाता है, उसकी बुद्धि भी नष्ट होजाती है। इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि मन पार्थिव अन्नाहुति से बनता है "अन्नमयं हि सोम्य मनः"। यदि दो चार दिन अन्न नहीं खाया जाता है तो मन निर्बल होजाता है, क्षीणकाय बन जाता है। उसी समय मन पर प्रतिष्ठित रहने वाला विज्ञान भी निर्बल होजाता है, विचार शक्ति नष्ट हो जाती है "बुभुक्षितं न प्रतिभाति किंचित्" * "स्वस्थे चित्ते बुद्धयः स्फुरन्ति"। विज्ञान–प्रज्ञान दोनों सपरिष्वक्त (एक दूसरे से मिले हुए) रहते हैं। विज्ञानतत्त्व महद्गर्भित चिज्ज्योति (आत्मज्योति) से प्रकाशित है, प्रज्ञान चिद्घन विज्ञान से प्रकाशित है। इन्द्रिए विज्ञानज्योतिर्मय प्रज्ञानज्योति से प्रकाशित हैं। इस प्रकार आत्मज्योति का भूतपदार्थों तक वितान करना विज्ञानप्रज्ञाधिष्ठाता एक मात्र विज्ञान का ही कार्य है।

उपनिषत् प्रेमियों को विज्ञानात्मा के सम्बन्ध में आज एक आश्चर्यमयी स्थिति बतलाते हैं। विज्ञानात्मा को उक्थरूप से जहां हमनें स्थिर बतलाया है, वहां अर्करूप से उसे सर्वाङ्गशरीर

में व्याप्त बतलाया है। इस की व्याप्ति का पूर्ण विकास केवल दक्षिण चक्षु (दहिनी आंख) में ही होता है, क्या यह कम आश्चर्य है। हृदय से वितत विज्ञान दक्षिण आंख पर आकर आंख से बाहर निकलता है। बाहर एक प्रादेश तक ही इस की गति होती है। दृष्टि के अनूक और प्रतीक यह दो भेद हैं। सीधी दृष्टि अनूकदृष्टि कहलाती है, तिरछी दृष्टि प्रतीकदृष्टि कहलाती है। आप प्रतीकदृष्टि से इस चाक्षुष पुरुष को देख सकते हैं। इस के विविध प्रकार के २१ रूप होते हैं। यह सूर्य का अंश है, सूर्य स्वयं एकविंश है, अत एव तदंशभूत विज्ञानात्मा के २१ ही रूप होजाते हैं। इस पर आप दृष्टि नहीं ठहरा सकते। दक्षिण आंख के प्रतीकभाव से आप ज्यों ज्यों इसे देखते जायंगे, त्यों त्यों यह इधर उधर दौड़ता हुआ दिखाई देगा। इसे देखना विज्ञानात्मा की सर्वोत्कृष्ट उपासना है। यह इन्द्रात्मक है, पुरुष रूप है। दक्षिणाङ्ग पुरुष प्रधान है, अतएव दक्षिणचक्षु में ही इस का विकास होता है। वामचक्षु में भी प्रतीकदृष्टि से आपको एक बिन्दु के दर्शन होंगे, परन्तु यह इन्द्रपत्नी है। वामाङ्ग स्त्री प्रधान है, अतः इन्द्रपत्नी का विकास वामचक्षु में ही होता है। उक्त विज्ञान को आप सर्षप (सरसों) के आकार में देखेंगे। मक्षिका (मक्खी) के पर में जैसा विचित्र वर्ण (रंग) है, इस का ठीक वैसा ही रंग है। परन्तु इतना ध्यान रखिए कि आप इसे सूर्यप्रकाश (धूप) में न देख सकेंगे। यह जब भी दीखेगा, पार्थिव तमोमय पूषाप्राण के गर्भ में (छाया में) ही दीखेगा, जैसा कि आगे आने वाले 'हिरण्मयेन पात्रेण'० इत्यादि मन्त्रभाष्य में स्पष्ट होने वाला है। इस का चक्षु से प्रादेश मात्र (१०॥ अङ्गुल) बाहर निकलना बतलाया गया है। वस्तुतः यह चक्षु से बाहर नहीं निकलता, केवल बाहर निकला हुआ दिखाई देता है। आदर्श (काच—आइना) में आप अपना प्रतिबिम्ब देखते हैं। यदि आप आदर्श से दूर हटते जाते हैं तो आपको अपना प्रतिबिम्ब भी काच के भीतर पीछे हटता हुआ प्रतीत होता है, ज्यों ज्यों आप काच के समीप आते जाते हैं, त्यों त्यों ऐसा प्रतीत होता है, मानों आपका प्रतिबिम्ब समीप आता जाता है। वस्तुतः काच एक घन पदार्थ है, न उस में पीछे हटने के लिए स्थान है, न आगे आने के लिए स्थान है। प्रतिबिम्ब एक ही धरातल पर प्रतिष्ठित है। केवल काच की

आध्यात्मिक-अवस्थात्रयी-परिलेख



तीव्रता ही आगति-गतिभाव उत्पन्न कर देती है। ठीक यही स्थिति यहां समझिए। चक्षु-पटल एक प्रकार का काच है। इस पर हृदयस्थ विज्ञान का तेजोनाड़ी द्वारा प्रतिबिम्ब पड़ता है। वह जब रश्मिरूप से कण्ठस्थान में स्थित स्तयोनि (इन्द्रयोनि) पर आता है तो चक्षु के बाहर एक प्रादेश हटा हुआ मालूम होता है, क्योंकि इन्द्रयोनि हृदय से एक प्रादेश पर है। स्व-स्थान पर लौट आने से केवल चक्षु पर ही प्रतिबिम्बित रहता है। इस प्रकार अनेक रूप धारण करने वाला, इन्द्रमूर्ति यह विज्ञानात्मा चक्षु सम्बन्ध से-'चाक्षुषपुरुष', दक्षिणाक्षि सम्बन्ध से 'दक्षिणाक्षिपुरुष' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। सौर विज्ञानपुरुष की उपनिषत् (प्रतिष्ठा) 'अहः' (प्रकाशमण्डल) है, इस चाक्षुषपुरुष की उपनिषत् 'अहम्' (चिद्गर्भित महान्) है। दोनों का परस्पर में घनिष्ठ सम्बन्ध है। आदित्यपुरुष रश्मिरूप प्राणों से इसके साथ, विज्ञानपुरुष प्राणरूप रश्मियों के साथ उसी पूर्वोक्त महापथ में संयुक्त हो रहे हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

"तद्यत् तत् सत्यमसौ स आदित्यः। य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः,
यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः, तावेतावन्योऽन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ।
रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठितः, प्राणैरयममुष्मिन् (प्रतिष्ठितः)"।
(बृहदा० उप० ५।४।) इति।

इस की प्रतिष्ठाभूमि हृदयस्थ है। जिस प्रकार एक दीपशिखा स्थिररूप से प्रकाशित रहती है, एवमेव हृदय के अग्रभाग में दीपाचिंरूप विज्ञानप्रभु प्रकाशित हो रहा है, जैसा कि योगी याज्ञवल्क्य कहते हैं—

अनन्ता रश्मयस्तस्य दीपवद्यः स्थितो हृदि।
सितासिताः कर्बुरूपाः कपिला नीललोहिताः॥ १॥
ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्त्वा सूर्यमण्डलम्।
ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां गतिम्॥ २॥
(याज्ञ. स्मृ. प्रा. अ. यतिधर्मप्रकरण १६६-१६७ श्लो.)।

यह चाक्षुषपुरुष सौर होने से असंग है, उधर प्रज्ञानात्मा चान्द्र होने से ससंग है। सौर अग्नि जहां तेजःप्रधान बनता हुआ असंगभाव का प्रवर्त्तक है, वहां चान्द्रसोम स्नेह-प्रधान बनता हुआ ससंगभाव का प्रवर्त्तक है। चाक्षुषपुरुष विद्या-अविद्यात्मक सूर्य का अंश है, फलतः इस में भी विद्या-अविद्या दोनों मार्गों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। यदि यह विज्ञानात्मा प्रज्ञान-मन की ओर झुक जाता है तो इस का अविद्याभाग विकसित हो जाता है। कारण इस का यही है कि भौतिक विषय आवरणरूप हैं, जड़ हैं। इन विषयों में इन्द्रियों के द्वारा मन आसक्त रहता है। मन स्वभावतः विषयों की ओर अनुधावन करता रहता है-(दौड़ लगाता रहता है)। इस अनुधावन का कारण यही है कि मन की जीवनीय संपत्ति चिदानन्द है। विज्ञान द्वारा आया हुआ चिदानन्द (अव्ययानन्द) ही मन का स्वरूपनिर्माता है। एवं विज्ञानशास्त्र का यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि जिस तत्त्व से जिस वस्तु का उदय होता है, वह वस्तु उस प्रभव के आगमन से ही जीवन धारण करने में समर्थ होती है। मन का स्वरूपसंपादक चूंकि आत्मानन्द है, अतः मन को स्वरूपरक्षा के लिए प्रत्येक दशा में आनन्द (सुख) अपेक्षित है। सुख की चाह करना, सुख प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना मन का स्वाभाविक धर्म है। मन की इसी सुखैषणा (सुखेच्छा) का नाम है-'अशनाया', यही बुभुक्षा है। इसे शान्त करने के लिए मन बाहर निकलता है। इस के निकलने के द्वार इन्द्रिएं हैं। इन्द्रियों की गति पराक् (बाहर की ओर-विषयों की ओर) है। प्रजापति ने इन्द्रियों का रुख बाहर की ओर किया है। जो चक्षु बाहर के रूपों को देखा करता है, वह अपने ही स्वरूप देखने में असमर्थ है, फिर हृदयस्थ आत्मा पर उस का गमन कैसे संभव है। इसी प्रकार सभी इन्द्रिएं स्वस्वरूप को देखने में असमर्थ होती हुई, आत्मदर्शन में नितान्त असमर्थ बनती हुई, केवल विषयभोग में लीन रहती हैं, जैसा कि निम्नलिखित श्रुति वचनों से स्पष्ट है—

"पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

(कठोपनिषत् २।१।१)।

न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग्गच्छति, नो मनो, न विद्मो, न विजानीमो,
यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद् विदितादथो अविदितादधि" (केन० १ । ३ ।) ।

विषयों में जो आनन्द है, वह इन्द्रियों से आया हुआ है । विषय आनन्द का कारण नहीं हैं, अपि तु इन्द्रिएं आनन्द का कारण हैं । इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि जबतक इन्द्रिएं स्वस्थ रहतीं हैं, सबल रहतीं हैं, तभी तक विषय आनन्दमय मालुम होते हैं । इन्द्रियों के रुग्ण हो जानें पर, निर्बल होजानें पर, अथवा नष्ट होजानें पर वही विषय दुःखद बन जाते हैं । इन्द्रियों में जो चिदानन्द का विकास है, वह भी इन्द्रियों की निजी संपत्ति नहीं है, अपि तु मन के द्वारा यह आनन्द इन में आया है । फलतः इन्द्रिएं भी आनन्द का कारण नहीं हैं, अपि तु मन आनन्द का कारण है । जब तक मन स्वस्थ दशा में रहता है, तभी तक देखनें, सुनें, खानें, पीनें, बोलनें में आनन्द आता है । यदि मन किसी कारण से व्याकुल होजाता है तो इन्द्रिएं सर्वथा स्वस्थदशा में रहतीं हुईं भी दुःख का कारण बन जातीं हैं । उस समय कुछ अच्छा नहीं लगता । मन में जो आनन्द है, वह भी मन की प्रातिस्विक संपत्ति नहीं है । विज्ञानात्मा से ही इस में चिदानन्द का आगमन हुआ है । अतएव जिसमें विज्ञान (बुद्धि) का विकास रहता है, वही विषयजात से वास्तविक आनन्द उठा सकता है । बुद्धिमान् मनुष्य के लिए जहां चन्दनगंध आनन्द का कारण है, एक गर्दभ के लिए वह चन्दन सामान्य काष्ठ से अधिक मूल्य नहीं रखता–'यथा खरो चन्दनभारवाही, भारस्य वेत्ता न तु सौरभस्य' । विज्ञान में ही आनन्द है । बुद्धिनाश सर्वनाश का कारण है । जिस की अकल (अक्ल) मारी गई, वह क्या कर सकता है । इसी प्रकार विज्ञान का आनन्द भी खुद की संपत्ति नहीं है । अपि तु सत्य नाम से प्रसिद्ध, अहंभावप्रवर्त्तक महद्गर्भ में प्रतिष्ठित आत्मानन्द से ही विज्ञान आनन्दमय बना हुआ है । जब तक 'अहं' (आत्मा) है, तभी तक विज्ञान है । जब अहंभाव (आत्मा) मूर्च्छित हो जाता है, अथवा शरीर से उद्भ्रान्त होजाता है तो सारी अध्यात्मसंस्था उच्छिन्न हो जाती है । इस प्रकार अन्ततो गत्वा आत्मानन्द को ही मुख्य आनन्द मानना पड़ता है । बात है भी ठीक । जो धन उधार लिया जाता है, उस से वास्तविक आनन्द

नहीं आसकता। आनन्द तो दूर रहा, ऋणग्रस्त व्यक्ति तो उलटा चिन्ता में पड़ जाता है। आगन्तुक वस्तु यदि आई है तो–'संयोगा विप्रयोगान्ताः' इस सिद्धान्त के अनुसार वह कभी न कभी अवश्य वापस जायगी। विषय–इन्द्रियवर्ग–प्रज्ञान (मन)–विज्ञान (बुद्धि) इन सबमें हम जो आनन्द मात्रा देखते हैं, वह आगन्तुक है–'तस्यैव मात्रामुपादाय सर्वे उपजीवन्ति'। यह आगन्तुक आनन्द अस्थायी है, अतएव चिरशान्ति के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। साथ ही में विषयबद्ध इन्द्रियानन्द, इन्द्रियबद्ध मन का आनन्द, मन से बद्ध बुद्ध्यानन्द सब हृदयस्थ आत्मानन्द से पराङ्मुख बने हुए हैं। अतएव बुद्धिमान्, मनस्वी, शास्त्रों का पारंगत कोई भी वहां नहीं पहुंच सकता। इसी स्थिति का बड़े सुन्दर शब्दों में निरूपण करती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

> नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
> यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥
>
> (कठोपनिषत् । १ । २ । २२ ।

'सो जानें जेहि देहि जनाई' महात्मा तुलसीदास के इस सिद्धान्त के अनुसार जिस दिन आत्मा के ऊपर आया हुआ आवरण हट जाता है, उस दिन आदित्यवत् स्वतः एव वह प्रकाशित हो जाता है। जिस प्रकार वायु प्रकाश उत्पन्न नहीं करता, केवल मेघावरण हटा देता है, पहिले से ही विद्यमान सौर प्रकाश अपने आप प्रकट हो जाता है, तथैव शास्त्रोपदेश-उपासना–ज्ञानयोगादि आत्मानन्द को उत्पन्न नहीं करते, अपि तु आवरण मात्र हटा देते हैं। आत्मा तो स्वतःप्रकाशरूप है, उस के लिए अन्यसाधन सर्वथा अनपेक्षित हैं।

उक्त कथन से यह भी भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि विज्ञान आत्मा के समीप है, अतः इस में मन–इन्द्रियादि की अपेक्षा आनन्द की अधिक मात्रा है। तभी तो 'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः' यह कहा जाता है। इन्द्रियादि की अपेक्षा मन में अधिक आनन्द है, क्योंकि मन विज्ञान के समीप है। भौतिक विषयों की अपेक्षा इन्द्रियों में अधिक आनन्द है, क्योंकि

इन्द्रियें भौतिक विषयों की अपेक्षा मन के समीप हैं। इस प्रकार विषयों में जाकर आनन्द अत्यल्प मात्रा में रह जाता है। उधर आनन्द की खोज में मन इन्द्रियों के द्वारा बाहर निकल कर विषयों पर जाता है। परन्तु होता क्या है-सुनिए ! अपनी मात्रा से अधिक आनन्द मिलने पर ही आनन्द आता है-"यो वै भूमा तत् सुखं, नाल्पे सुखमस्ति, भूमानमित्युपास्व" के अनुसार भूमा (बहुत्व)-भाव में आनन्द है। यदि एक लक्षाधिपति को कहीं से १० रुपय्ये मिल जांय तो उसे आनन्द नहीं आसकता। दो लक्ष की प्राप्ति में ही वह आनन्द का अनुभव कर सकता है। जिस एक पैसे से २ वर्ष का बच्चा प्रसन्न हो जाता है, वही पैसा एक मनुष्य को आनन्द नहीं पहुंचा सकता। यही परिस्थिति यहां होती है। मन महोदय आनन्द की खोज में विषयों पर जाते हैं। परन्तु उन्हें यह मालुम नहीं है कि विषयों में जितनी सी आनन्द की मात्रा है, वह इन्द्रियों से आई है, इन्द्रियों में जो आनन्द आया है, वह मुझ से आया है। भूतापेक्षया इन्द्रियों में अधिक आनन्द है, इन्द्रियापेक्षा स्वयं मुझ में (मन में) सर्वाधिक आनन्द है। इस प्रकार विवेक बुद्धि से वञ्चित मन धोके से विषयों पर पहुंच जाता है। वहां जाकर उसे पछताना पड़ता है। किसी भी विषय पर मन चिरकाल तक प्रतिष्ठित नहीं रह सकता-'अतिपरिचयादवज्ञा'। थोड़े दिन रहता है, अभिलषित भूमानन्द मिलता नहीं, दूसरे विषय पर दौड़ता है। वहां भी आनन्द नहीं मिलता, तीसरे पर, चौथे पर, इस प्रकार विविध विषयों में दौड़ लगाता रहता हुआ मन क्षुब्ध होजाता है। यही मन का चाञ्चल्य है, यही क्षोभ है, क्षोभ अशान्ति का कारण है-'अशान्तस्य कुतः सुखम्'। "गए थे चौबेजी छब्बे बनने, दुब्बे जी रहने में भी सन्देह होगया" ठीक यह लोकोक्ति विषयासक्त मन पर बावन तोला पाव रत्ती चरितार्थ होती है। लेने गए थे आनन्द, मिला आवरणरूप दुःख, अशान्ति, क्षोभ। आनन्द की व्यर्थ लालसा से विषयासक्त इस अविवेकी मन को पुरस्कार में विषय संस्कार मिलते हैं। इन संस्कारों की कृपा से बजाय आनन्द के इसे मरणरूप महादुःखसागर में निमग्न रहना पड़ता है। संस्कार भूतप्रधान होते हुए दारप्रधान हैं। दार अविद्या है। अतएव इस संस्कारराशि को 'अविद्या' कहा गया है। इस अविद्यारूप आवरण से अविद्याक्रान्त मन

के सेवक बने हुए विज्ञानात्मा का ज्योति भाग (विद्या भाग) आवृत होजाता है, तमोमय भाग (अविद्या भाग) प्रबल बन जाता है। प्रवृद्ध अविद्याबुद्धि के योग से आत्मा का अविद्या भाग उपकृत होता हुआ आत्मा के विद्या भाग को आवृत कर लेता है। सर्वत्र अज्ञानान्धकार का साम्राज्य हो जाता है। यही मोह का जनक है—"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः" इस सिद्धान्त को कौन नहीं जानता।

इस प्रकार विषयासक्त मन से युक्त बुद्धि अपने अविद्या भाग की प्रबलता से मोह की जननी बन जाती है। इसी को 'मोहकलिला' बुद्धि कहा जाता है। सारासारविवेकता, अविमृश्यकारिता का नाम ही मोह है। 'मनसो विषयाकाराकारितं वासनासंस्कारः' के अनुसार मन का विषयकाररूप में परिणत होजाना ही वासना संस्कार है। मन चान्द्र है, चान्द्रसोम स्नेहधर्मा है। इसीलिए चन्द्रमा जिस नक्षत्र पर जाता है, वह उसी नक्षत्र का रूप धारण कर लेता है। भचक्र (खगोल) में सदा ही सभी नक्षत्र विद्यमान हैं। परन्तु व्यवहार होता है—आज अश्विनी है, आज भरणी है। इस का तात्पर्य यही है कि आज अश्विनी का चन्द्रमा है, आज भरणी का चन्द्रमा है। इस से कहना यह है कि चन्द्रमा का यह स्वभाव है कि वह जिसके साथ मिलता है, तदाकाराकारित बन जाता है। इसी का अंश हमारा मन है, अतएव यह भी जिस विषय से संयुक्त होता है, उसी का आकार धारण कर लेता है। विषयाकाराकारित मन वासनामय है। संस्काररूप आकार ही (यह आवरण ही) 'वासयति—आच्छादयति—आत्मानम्' के अनुसार 'वासना' है। यही संस्कार कालान्तर में उपय बन जाता है। उपय से तत्तद्वासनामय रश्मिसूत्र—(इच्छासूत्र) तत्तद्विषयों के लिए निकला करते हैं। दूसरे शब्दों में तत्पविनिर्मित इन अर्थों के द्वारा (कामनासूत्रों के द्वारा) मन बार २ उन विषयों की ओर दौड़ा करता है। 'स्वजनितसंस्कारद्वारा विषयेषु मनसो बन्धनमासक्तिः' के अनुसार इस विषयबन्धन का नाम ही आसक्ति है। वासना संस्कार ही आसक्ति का जनक है। आप मार्ग में चलते २ कोई सुन्दर दृश्य देख लेते हैं, तत्काल मन पर उस की छाप (संस्कार-वासना) लग जाती है। यही छाप आप के मन को उस दृश्य को पुनः २ देखने के लिए आकर्षित

करती है, यही आसक्ति है। एक बात और। यदि उक्त संस्कार दृढ नहीं होता तो आसक्ति भी नहीं होती। संस्कार दृढमूल बन कर ही आसक्ति का कारण बनता है। इन संस्कारों को दृढ करनें वाला है-'चिरकाल का अनुभव'। 'मनसा-अनुभवजन्यसंस्काराधानेऽनुभवस्य चिरकालिकत्त्वं हेतुः' के अनुसार मन पर जो संस्कार आता है, यदि बार बार उसी की ओर लक्ष्य रक्खा जाता है तो-'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः' (योगद० समाधिपाद, १४ सू०) के अनुसार उक्त चिरकाल के अनुध्यान से यह संस्कार दृढमूल बन जाता है। प्रथम-संस्कार आसक्ति का कारण नहीं बनता, अपि तु अनुभव द्वारा दृढ बना-हुआ संस्कार ही आसक्तिरूप 'संग' का कारण बनता है, जैसा कि 'ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते' (गीता २।६२) इत्यादि से स्पष्ट है। निष्कर्ष यही हुआ कि मन संस्कारों के चिरकालिक सम्बन्ध से विषयों के साथ बद्ध होजाता है। मन को हमनें प्रज्ञान कहा है। प्रज्ञान में प्रज्ञा-प्राण यह दो तत्त्व हैं। प्रज्ञा सोमतत्व है, प्राण इन्द्रतत्व है। दोनों का तादात्म्य है। सोम ही चिदंश का ग्राहक बनकर ज्ञानमूर्त्ति बनता हुआ 'प्रज्ञा' नाम से व्यवहृत होनें लगता है। मन में आप ज्ञान और क्रिया दोनों धर्म देखते हैं। साथ ही में यह मन रूप-रस-गंधादि भूतमात्राओं का भी अनुग्राहक है। सोम-चिदंश-प्राण यही तीनों क्रमशः भूतमात्रा-प्रज्ञामात्रा-प्राणमात्रा के अनुग्राहक है। सोम भूतों का प्रवर्तक है। चिदंश प्रज्ञाभाव का जनक है। प्राण इन्द्रियग्राम का उपकारक है। चिदंशयुक्त सोम प्रज्ञाभाग (ज्ञान) है, प्राण क्रिया भाग है। इस प्रकार प्रज्ञा-प्राण भेद से मन उभयात्मक बन जाता है-'उभयात्मकं मनः'। प्रज्ञा-प्राण के इसी तादात्म्यभाव का निरूपण करते हुए महर्षि कौषीतकि कहते हैं—

"या वै प्रज्ञा स प्राणः, यः प्राणः सा प्रज्ञा। सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः, सहोत्क्रामतः। प्राज्ञोऽस्मि वा प्राणात्मा। तं मामायुरमृतमित्युपास्व। ×, × ×। तस्यैषैव दृष्टिः, एतद् विज्ञानम्" (कौषी० उप० ३।३)।

सोममयी प्रज्ञा के सम्बन्ध से ही प्रज्ञा-प्राणरूप इन्द्र 'ओकःसारी' बन जाता है। प्रज्ञान-मन जिस विषय पर जाता है, स्नेहगुणक सोम के प्रभाव से वह वहीं आसक्त हो जाता है। 'जिस घर पर (विषय पर) गए, वहीं के होगए' यही 'ओकःसार' है। ओक घर का वाचक है-"गृहा वा ओकः" (ऐ० ८।२६)। मन रूप प्राज्ञ इन्द्र का स्वाभाविक धर्म (सार) ओक (विषयों में आसक्त हो जाना) ही है, अतएव इसे ओकःसारी कहना न्याय संगत होता है। प्राज्ञ इन्द्र के इसी आसक्ति भाव को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

'ओकःसारी वा इन्द्रः,यत्र वा एष इन्द्रः पूर्वं गच्छति-ऐव तत्रापरं गच्छति', (ऐ.ब्रा.६।१७।२२)।

जहां एक बार मन किसी विषय पर आसक्त होजाता है, बस बार २ उसी विषय की ओर दौड़ा करता है। ऐसा धर्म एक मात्र प्राज्ञ इन्द्र का ही है। विशुद्ध रूप से प्राणमूर्ति इन्द्र असंग है, किन्तु सोम सम्बन्ध से इसे आसक्तिभाव से आक्रान्त हो जाना पड़ता है।

मन के उक्त आसक्तिभाव के सम्बन्ध में एक प्रश्न उपस्थित होता है। "संकल्प विकल्पात्मक मन को हमनें पूर्व में चञ्चल बतलाया है, जैसा कि 'चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथिबलवद्दृढम्' इत्यादि स्मार्त्त वचनों से स्पष्ट है। ग्रहण-परित्याग यह मन का स्वाभाविक धर्म है। वह किसी एक विषय में चिरकाल तक प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। ऐसी परिस्थिति में मन की विषयों के साथ आसक्ति (चिरकालिक बन्धन) अनुपपन्न होजाती है। संस्कारों की चिरकालावस्था ही आसक्ति का मूल है, एवं क्षणिक मन में चिरकालिकत्व का अभाव है। फिर मन को, किंवा प्रज्ञेन्द्र को ओकःसारी (विषयासक्त) कैसे बतलाया गया ?"। इस प्रश्न के समाधान के लिए हमें चान्द्रपुरुष की शरण में जाना पड़ेगा। विशुद्ध मन वास्तव में क्षणभावापन्न है, अतएव चंचल है। परन्तु बुद्धि को साथ लेने से ही मन आसक्ति के चक्र में पड़ जाता है। दूसरे शब्दों में बुद्धिसहकृत मन ही आसक्ति का कारण है। स्थिर सूर्य से उत्पन्न बुद्धि स्थिरा है। तत्सम्बन्ध से अस्थिर मन में स्थिरता का उदय होजाता है। सांस्कारिकत्व जहां मन का धर्म है, वहां चिरकालिकत्व बुद्धि का धर्म है। इसी दृढ़ता को लेकर मन विषयों में बद्ध होजाता है।

यदि ऐसा है तो फिर एक प्रश्न उपस्थित होता है। सूर्यरूप विज्ञानात्मा (बुद्धि) को चन्द्ररूप प्रज्ञानात्मा पर (मन पर) प्रतिष्ठित बतलाया गया है। मन और बुद्धि दोनो परस्पर में अवि-नाभूत हैं। मन कभी बुद्धि से पृथक् नहीं हो सकता, एवं बुद्धि न मन से कभी पृथक् होती। दोनों नित्य सम्बद्ध हैं, जैसा कि श्रुति कहती है—

"कतम आत्मेति ! योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः।" (बृ. आ. उ. ४।३।७)। 'तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माभयं रूपम्। तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद—नान्तरं, एवमेवायं पुरुषः (विज्ञानात्मा—चाक्षुषपुरुषः) प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः"

(बृ. आ. उ. ४।३।२१)।

ऐसी दशा में सदा ही सभी विषयों के साथ आसक्ति होनी चाहिए, क्योंकि संस्कारग्राहक मन, एवं दृढ़तोत्पादिकाबुद्धि दोनों सदा ही सहकृत हैं। परन्तु हम देखते हैं कि कितने ही विषयों से मन घृणा करता है। उन के स्मरणमात्र से मन उद्विग्न हो पड़ता है। इस का क्या कारण? आसक्तिभूता सामग्री के रहते हुए भी कहीं आसक्ति हो, कहीं न हो इस का क्या कारण? उत्तर! 'बुद्धिद्वैविध्य'। बुद्धितत्व अपेक्षा, उपेक्षा भाव से दो भावों से आक्रान्त रहता है। अपेक्षाबुद्धि से संस्कार दृढ़ होजाता है, उपेक्षाबुद्धि से संस्कार स्थिर नहीं होने पाता। मन को हमनें क्षणिक बतलाया है। यदि मन प्रबल है तो स्थिर बुद्धि निर्बल होजाती है, ऐसी दशा में स्थिरभाव उत्पन्न नहीं होता, उपेक्षाभाव का उदय होजाता है। यदि बुद्धि प्रबल है तो मन की क्षणिकता निर्बल बन जाती है, उपेक्षा द्वारा स्थिरभाव उत्पन्न होजाता है। इसी को लोक में—'गौर करना' कहा जाता है। 'गौर करो' इसका अर्थ है बुद्धि से काम लो, बुद्धिबल बढ़ाओ। इससे संस्कार दृढ़ होगा, अन्यथा संस्कार निर्बल रहेगा। इस प्रकार इस अपेक्षा बुद्धि से संस्कार दृढमूल बन जाते हैं, यही आसक्ति का मूल है। ठीक इस के विपरीत उपेक्षाबुद्धि में संस्कारशैथिल्य है, यही अनासक्ति का मूल है। उदासीनभाव

ही उपेक्षाभाव है । 'मनसा गृहीतविषये बुद्धेश्चिरकालिकत्वमनुध्यानम्' के अनुसार मन इन्द्रियों के द्वारा जिन विषयों का संस्काररूप से ग्रहण करता है, यदि संस्काररूप से आगत विषयों में (अपेक्षाभाव की प्रधानता से) बुद्धि अधिक समय तक ठहर जाती है तो वही वृत्ति 'अनुध्यान' नाम से व्यवहृत होने लगती है । चिन्तन करना अनुध्यान है । इस ध्यानरूप बुद्धि के व्यापार से आगत विषय का मन के साथ चिरकालिक संयोग हो जाता है, यह संयोग ही संग है, संग ही आसक्ति है ।

'मनसः स्वगृहीतविषयस्य बहिर्धा परिजिघृक्षा कामः' के अनुसार संस्कारात्मक चिरावच्छिन्न मन का बहिःस्थित संस्कार जनक तत्तद् विषयों की ओर बार बार दौड़ना ही 'काम' है । संगरूपा आसक्ति ही काम की जननी है । यही काम आगे जाकर क्रोध का जनक बन जाता है । 'अनुकूलसंयोगलक्षणः सुखानुशयी संस्कारो रागः, के अनुसार अभिलषित, अतएव सुख के साधनभूत विषय के साथ ही काम का सम्बन्ध होता है, यही राग है । यह विषयपरिजिघृक्षा 'रागमूला' है । एवं 'प्रतिकूलसंयोगलक्षणो दुःखानुशयी संस्कारो द्वेषः' के अनुसार मन का अपने अनाभिलषित विषय के साथ (जो कि दुःख का प्रवर्त्तक है) फंसना द्वेष है । आसक्ति दोनों में है । राग सम्बन्ध से एक मित्र के स्नेहपाश में मन जितना बद्ध रहता है, उस से कहीं अधिक शत्रु के साथ मन बद्ध रहता है । रावण-कंस आदि असुर इसी द्वेष बुद्धि से मुक्त हुए हैं । काम से ही राग का उदय है, काम से ही द्वेष का उदय है । कामसमानाधिकरण काम ही क्रोध का मूल है । एक वस्तु को आप भी चाहते हैं, उसी को एक दूसरा व्यक्ति भी चाहता है । एक ही स्थान पर दो कामों का समन्वय हो रहा है । दोनों का अधिकरण एक है । इस समानाधिकरणरूप कामसे तत्काल क्रोध का उदय हो जाता है । "अभीप्सितविषयेऽन्यायग्रहणाशङ्कायां तदप्राप्तिसंभावनायां शारीराग्न्युत्पन्नः क्षोभः क्रोधः" के अनुसार अपने अभिलषित पदार्थ को यदि अन्य व्यक्ति लेने की इच्छा करने लगता है तो उस व्यक्ति को उस की प्राप्ति में आशङ्का हो जाती है । इस से शरीर का अग्नि क्षुब्ध हो पड़ता है । अग्नि का यह क्षोभ ही 'क्रोध' है । राग से ही काम का उदय हुआ है, राग से

ही क्रोध का उदय हुआ है। दूसरे शब्दों में कामप्रतिबन्धन ही क्रोध का मूल है, यही कामप्रतिबन्धन द्वेष का मूल है। काम एक भिन्न संस्कार है, क्रोध एक भिन्न संस्कार है। दोनों का मन में सम्मेलन होता है। इन दोनों विजातीय संस्कारों के संघर्ष से एक तीसरा अपूर्व-संस्कार उत्पन्न हो जाता है, वही 'संमोह' नाम से प्रसिद्ध है। अनुभवाहितसंस्कारजन्यज्ञान स्मृति है, स्मृति ही विज्ञान बल को बढ़ाती है। संमोह से (चित्तक्षोभ) से स्मरणशक्ति नष्ट हो जाती है। स्मृतिनाशसे बुद्धि (विचारशक्ति) नष्ट होजाती है। बुद्धिध्वंश ही विनाश का मुख्य कारण है। इसी क्रमिक मनोविज्ञान का निरूपण करते हुए भगवान् कहते हैं—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥१॥ (गी० २।५२)।
ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥२॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥३॥
(गी० २।६२-६३)।

उपर्युक्त मनोविज्ञान से पाठकों को यह विदित होगया होगा कि यदि विज्ञानात्मा मन की ओर झुक जाता है तो वह मन पर आए हुए अविद्यामय भौतिक विषयसंस्कारों को दृढ़ बनाता हुआ आत्मस्वरूप को आवृत कर देता है। बुद्धि में जो विद्या-(ज्ञान)भाग है, वह मन के साथ युक्त होकर ज्ञानेन्द्रियों का उपकार करता है। इस ज्ञानीय संस्कार को ही 'अनुभवाहितसंस्कार' कहते हैं, यही 'भावना' नाम से प्रसिद्ध है। एवं बुद्धि का अविद्या-(कर्म) भाग मन द्वारा कर्मेन्द्रियों का उपकारक बनता है। यही कर्मजनित संस्कार 'वासना' नाम से प्रसिद्ध है। ज्ञान-(विद्या) संस्कार, एवं कर्म-(अविद्या) संस्कार ही मन की ओर झुकी हुई उसी बुद्धि की

* इस विषय का विशद विवेचन 'गीताविज्ञानभाष्य' में देखना चाहिए।

कृपा से (अभिध्यान से) दृढ़मूल बनते हुए दुःखमूला आसक्ति के जनक बन जाते हैं। अविद्या कर्म है, जड़भाव है, दूसरे शब्दों में अज्ञान है। इस की उपासना करनें वाले अन्धतम में प्रविष्ट होते हैं। परन्तु विद्या की ओर झुकनें वाले उस से भी अधिक गहरे अंधकार में जाते हैं। कर्म उतना बुरा असर नहीं करता, जितना कि अनिष्ट 'समझ' से होता है। व्यर्थ की कल्पनाएं मनुष्य को पशु बना डालती हैं। निष्काम-बुद्धि से किया जानें वाला कर्म शुद्ध विद्यारूप में परिणत होजाता है, परन्तु सकाम--विद्या आवरक-प्रवृत्ति कर्म से भी कहीं अधिक भयङ्कर हो जाती है। क्योंकि कर्मजनित वासना संस्कार की अपेक्षा ज्ञानजनित भावना संस्कार अधिक दृढ़ होता है। चोर को उतना दण्ड नहीं मिलता, जितना कि चोरी की इच्छा रखनें वाले को मिलता है। कर्म (कर्मजनित वासना संस्कार) तो नष्ट होसकता है, परन्तु ज्ञान (ज्ञानजनित भावना संस्कार) सहसा नष्ट नहीं होता। आप एक व्यक्ति को बुरे कर्म से शीघ्र रोक सकते हैं, परन्तु उस के बुरे विचार (भावना) सहसा नहीं बदले जासकते। स्थूल की चिकित्सा सहज है, सूक्ष्म की चिकित्सा कठिन है। इन्हीं सारे रहस्यों को लक्ष्य में रखता हुआ, विज्ञानात्मा का स्वरूपधर्म बतलाता हुआ प्रकृत विज्ञानात्माधिकरण पाठकों के सामनें उपस्थित हुआ है।

विज्ञानतत्त्वप्रतिपादिक तीनों मन्त्रों में उपलब्ध होनें वाली ईशोपनिषत् में आजदिन "अन्धं तमः प्रविशन्ति"०- "अन्यदेवाहुर्विद्यया"० "विद्यां चाविद्यां च" ० यह क्रम देखा जाता है। परन्तु हमारी दृष्टि से (विज्ञानदृष्टि से) इन तीनों मन्त्रों का "अन्यदेवाहुर्विद्यया"०- "अन्धं तमः प्रविशन्ति"०- "विद्यां चाविद्यां च"० यह क्रम होना चाहिए। संभव है संस्कर्ताओं की असावधानी से यह विज्ञानक्रम बदल गया हो। पहले न्यायतः विज्ञानात्मा का स्वरूप बतला आवश्यक है। आत्मस्वरूप परिज्ञान के अनन्तर "जो आत्मा के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानते, उन की ऐसी गति होती है" यह कहनें का अवसर मिलता है। सर्वान्त में-'इसलिये आत्मदेवता की इस तरह उपासना करो' यह कहना न्यायसंगत होता है।

यही क्रम वैज्ञानिक है। वैज्ञानिक क्रम का 'अन्यदेवाहुर्विद्यया०' यह प्रथममन्त्र विज्ञानात्मा का स्वरूप बतलाता है। 'अन्धं तमः प्रविशन्ति०' इत्यादि मन्त्र आत्मा के प्रतिपादित स्वरूप से विरुद्ध जानेवालों की अधोगति बतलाता है, एवं सर्वान्त में-'विद्यां चाविद्यांच' इत्यादि मन्त्र प्रतिज्ञात आत्मतत्व का स्पष्टीकरण करता है। इसी क्रम का समादर करते हुए निम्न लिखित मन्त्र की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है—

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ॥
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१॥
(ई. उ. १० मन्त्र)

"वह आत्मतत्व विद्या से भी पृथक् कहा जाता है, अविद्या से भी पृथक् कहा जाता है। जिन (पारोवर्यवित्) विद्वानों नें हमारे लिए आत्मस्वरूप का निरूपण किया है, उन धीरों के (आत्मा के सम्बन्ध में) ऐसे ही विचार हैं–यह हम सुनते आये हैं, अर्थात् धीर विद्वानों का कहना है कि वह आत्मतत्व विद्या-अविद्या दोनों से पृथक् तत्व है" यह है मन्त्र का सामान्य अर्थ।

इस विश्व में समष्टि एवं व्यष्टिरूप से सर्वत्र विद्या और अविद्या (ज्ञान एवं कर्म) का साक्षात्कार कर रहे हैं। प्रत्येक पदार्थ ज्ञान-कर्ममय है। साथ ही में जहां ज्ञान है, वहां कर्म (विषय) अवश्य है। कर्मसंघातरूप विषय के बिना आप अपनें ज्ञान को कभी नहीं देख सकते। प्रत्येक दशा में ज्ञान विषयाकाराकारित बन कर ही भासित होता है। इसी प्रकार प्रत्येक कर्म ज्ञानमय है। 'ज्ञायते' भी क्रिया ही है। आप किसी वस्तु को जानते हैं, यह जानना भी कर्म है। आप कोई काम कर रहे हैं, उस में भी ज्ञान नित्य सम्बद्ध है। संसार में सतत प्रयास करनें पर भी आप विशुद्ध ज्ञान एवं विशुद्ध कर्म का पार्थक्य नहीं देख सकते। इन में ज्ञानभाग अमृत है, कर्मभाग मृत्यु है। ज्ञान आदर्शवत् सदा एक रूप रहता है, यही इस का अमृतभाव है। ज्ञान में आनें वाले कर्मरूप विषय निरन्तर बदलते रहते हैं, यही कर्म का

मृत्युभाव है। ज्ञान विद्या है, कर्म अविद्या है। दोनों का (सोपाधिकरूप से) प्रलव हो रहा है। इन दोनों का मूलाधार विज्ञानात्मा (बुद्धि) है। विज्ञानात्मा में प्राण और चित् यह दो भाग हैं। साथ ही में तीसरा सोमतत्व भी है। प्रज्ञानात्मा (मन) में भी हमनें सोम-चित्-प्राण-यह तीन ही अवयव बतलाए थे, परन्तु इस में और विज्ञान में बड़ा अन्तर है। विज्ञानात्मा सूर्य की प्रतिकृति होनें से चारों ओर से प्रकाशित रहता हुआ स्वज्योतिर्म्मयतत्व है। प्रज्ञानात्मा चन्द्रमा की प्रतिकृति होनें से एक भाग से (जिस ओर विज्ञानात्मा का प्रकाश आता है-उस भाग से) प्रकाशित रहता हुआ परज्योतिर्म्मयतत्व है। साथ ही में विज्ञानात्मा का सोम पारमेष्ठ्य ब्रह्मणस्पति सोम है, प्रज्ञानात्मा का सोम चान्द्र वृत्र सोम है। विज्ञान और प्रज्ञान में वही अन्तर है, जो अन्तर सूर्य और चन्द्रमा में है। विज्ञान अग्नितत्वप्रधान है, प्रज्ञान सोमतत्वप्रधान है। विज्ञान विषयों पर जा सकता है, प्रज्ञान पर विषय आते हैं। नवीन रचना में विज्ञानव्यापार की प्रधानता है, किसी भी बनी हुई रचना की प्रतिलिपि करनें में प्रज्ञानव्यापार प्रधान है। सोमवत् दोनों के प्राण में भी भेद है। विज्ञानप्राण दिव्य है, प्रज्ञानप्राण आन्तरिक्ष्य है। विज्ञानेन्द्र 'मघवा' है, प्रज्ञानेन्द्र 'वृत्रहा' है। इसी प्रकार विज्ञान का चिदंश महत्युक्त होनें से प्रबल है, प्रज्ञान में जो चिदंश आया है, वह विज्ञान की ही देन है। इन सब कारणों से विज्ञान-प्रज्ञान की सोम-चिदंश-प्राण तीनों कलाओं का पार्थक्य, एवं पृथग्धर्मत्व सिद्ध हो जाता है। विज्ञानात्मा क्षेत्रज्ञ है, कारयिता है। प्रज्ञानात्मा कर्त्ता है। इसी कर्त्ता प्रज्ञान की ज्ञान (प्रज्ञा), क्रिया (प्राण), अर्थ (भूत) तीनों शक्तियों का सञ्चालक क्षेत्रज्ञ विज्ञानात्मा है। अपनी सोमकला से विज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मा को भूतमात्रा (शब्द-रूप-रसादि विषयों) के लिए, चित्कला को प्रज्ञामात्रा के लिए, एवं प्राणकला को प्राणमात्रा (इन्द्रियवर्ग) के लिए प्रेरित करता है। जब तक विज्ञान है, तभी तक आध्यात्मिकसंस्था की स्वरूपस्थिति है। सोमयुक्त चिदंश विज्ञान का विद्या (ज्ञान) भाग है, विज्ञानानुप्रवीन प्राणेन्द्र कर्मभाग है। इस प्रकार अमृतमृत्युमय, दूसरे शब्दों में विद्या-अविद्यामय, तीसरे शब्दों में ज्ञान कर्ममय विज्ञानात्मा ही अध्यात्मसंस्था का उसी प्रकार प्रवर्त्तक एवं स्वरूपसमर्पक बना हुआ है, जैसे कि सूर्य

अपने अमृतमृत्युभाग से विश्व का प्रकाशक बना हुआ है। जब तक सूर्य है, तभी तक अह-रागम है, तभी तक विश्व है। जिस दिन सूर्य न रहेगा, उस दिन रात्र्यागम द्वारा प्रलय का साम्राज्य हो जायगा।

"यह विद्या (ज्ञान) है, यह अविद्या (कर्म) है" इस प्रकार से हम संसार में समष्टि व्यष्टिरूप से जिस ज्ञान-कर्म का साक्षात्कार कर रहे हैं, वह हमारे विज्ञानघन सूर्य की महिमा है—'अहं सूर्य इवाजनि'। इस प्रकार अविद्या-विद्यारूप से हम विज्ञानात्मा के साक्षात् दर्शन कर रहे हैं। यही सोपाधिक विद्या-अविद्या विज्ञानात्मा का स्वरूप है। इस स्वरूप को (ज्ञान कर्म को) शिक्षित अशिक्षित सभी जानते हैं। 'हम जानते हैं-हम करते हैं' यह अक्षर सभी के मुख से निकलते हैं। क्या सर्वविदित यही विद्या-अविद्या (सोपाधिक ज्ञान-कर्म) विज्ञानात्मा का वास्तविक स्वरूप है? क्या सभी आत्मज्ञानी हैं? फिर तो शास्त्रोपदेश की आवश्यकता ही न रही। इसी सारी जटिल समस्या को सुलझाता हुआ—'अन्यदेवाहुर्विद्यया०' इत्यादि मन्त्र हमारे सामने आता है। हम सांसारिक पदार्थों में ज्ञानरूप से जिस विद्याभाग का साक्षात् कार कर रहे हैं, क्या यह प्रत्यक्षानुभूत विद्या आत्मविद्या है?, ऋषि कहते हैं—'अन्यत्-विद्यया'। जिस अविद्याभाग का हम कर्मरूप से दर्शन कर रहे हैं, क्या वह 'आत्मविद्या' है?, ऋषि कहते हैं—'अन्यत्—अविद्यया'।

बात असल में यह है कि श्रुति को 'विज्ञानात्मा' में जो विशुद्ध आत्मपदार्थ है, उस का परि-ज्ञान कराना है। यद्यपि विश्व में प्रत्यक्ष दृष्ट विद्या-अविद्याभाग उसी का विवर्त्त है, परन्तु यह दोनों ही भाग भौतिक विश्व से संपरिष्वक्त बनकर सोपाधिक बनते हुए स्वस्वरूप से च्युत हो रहे हैं। उधर विशुद्ध विद्या-अविद्यारूप आत्मतत्व केवल स्वानुभवैकगम्य है। वहां शब्द की गति नहीं है—'विज्ञातारमरे! वा केन विजानीयात्'। विश्व के प्रत्येक पर्व के विद्या-अविद्या भाग पर दृष्टि डालते जाइए, सर्वत्र 'इदं न—इदं न—इदमपि न—इदमपि न' यही कहना पड़ेगा। इस प्रकार न—न करते जब सारे विश्व प्रपञ्च की समाप्ति होजाय, उस समय जो विशुद्ध—अगम्य तत्व

बच जाय वही आत्मा है। उसके लिए सिवाय 'न'–के और हम क्या कह सकते हैं—'नेति-नेतीति होवाच' 'नेति-नेति कहि वेद पुकारा'। यह 'न' अभाव का बोधक नहीं है, अपितु भौतिक विश्व से सर्वथा पृथक्, विशुद्ध, निरुपाधिक, सर्वव्यापक आत्मतत्व का परिचायक है। इसीलिए श्रुति ने–'नेति' न कह कर 'नेति नति' कहा है। श्रुति को तटस्थलक्षण द्वारा विशुद्ध आत्मतत्व पर हमें लेजाना है, इसके लिए तो 'नकार' का आश्रय लेना पड़ा। जैसा तुम उसे (सोपाधिक) समझ रहे हो वह वैसा 'न' (नहीं) है। परन्तु वह नकार भी नकार है, यह समझना भी न भूलना। 'न' इति न' ति-(नेति नेति) अवगतव्यम्'। वह नास्तिरूप है (अभावरूप है), यह बात नहीं है" यह समझो नेतिनेति का यही तात्पर्य है। अर्थात् वह नकार नकाररूप है।

अथवा प्रकारान्तर से 'नेति नेति' वाक्य का समन्वय कीजिए। प्रथम नकार को 'अभाव' का ही वाचक समझिए। दूसरे नकार को भी अभावपरक मानिए। 'न' इसका जो 'न' है–वह ऐसा है, अर्थात् आत्मतत्व अभाव का भी अभाव है, यह तात्पर्य होगा। घटाभावाभाव जैसे घटसत्ता का कारण बन जाता है, एवमेव विश्वरूप आत्मा के अभाव का अभाव आत्म-सत्ता का कारण बन जाता है। ऐसी दशा में 'नेति नेति' का अर्थ होता है—'अस्तीत्येव' (अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कुतस्तदुपलभ्यते)। इसी भाव के लिए श्रुति ने यहां 'अन्यत्' शब्द का प्रयोग किया है। मिलेगा आत्मतत्व यहीं, परन्तु कब जब 'अन्यत्' भाव को सामने रक्खोगे तब-। विश्व को विद्या अविद्या मत समझो, विश्व में विद्या-अविद्यात्मक आत्मा को प्रविष्ट समझो। सोपाधिक पर दृष्टि डालते हुए 'अन्यत्' शब्द से निर्दिष्ट निरुपाधिक का अनुभव करो, यही आत्मा आत्मा है। सोपाधिक भाग तो उसी का विश्वरूप है। जहां लौकिक मनुष्य आत्मा के सोपाधिक (विश्वभाव) भाव को प्रधान समझते हैं, वहां धीर लोग निरुपाधिक को ही पारलौकिक आत्मतत्त्व कहते हैं। यही उक्त मन्त्र का पहिला अर्थ है ।१।

विज्ञान को विद्या-अविद्यात्मक बतलाया गया है। यह विद्या और अविद्या भाग बुद्धिरूप है। अविद्याचतुष्टयी अविद्याबुद्धि है विद्याचतुष्टयी, विद्याबुद्धि है। यह सौर विद्या-अविद्या-

बच जाय वही आत्मा है । उसके लिए सिवाय 'न'-के और हम क्या कह सकते हैं—'नेति-नेतीति होवाच' 'नेति-नेति कहि वेद पुकारा' । यह 'न' अभाव का बोधक नहीं है, अपितु भौतिक विश्व से सर्वथा पृथक्, विशुद्ध, निरुपाधिक, सर्वव्यापक आत्मतत्व का परिचायक है। इसीलिए श्रुति ने—'नेति' न कह कर 'नेति नति' कहा है । श्रुति को तटस्थलक्षण द्वारा विशुद्ध आत्मतत्व पर हमें लेजाना है, इसके लिए तो 'नकार' का आश्रय लेना पड़ा । जैसा तुम उसे (सोपाधिक) समझ रहे हो वह वैसा 'न' (नहीं) है । परन्तु वह नकार भी नकार है, यह समझना भी न भूलना । 'न' इति न' ति-(नेति नेति) अवगतव्यम्' । वह नास्तिरूप है (अभावरूप है), यह बात नहीं है" यह समझो नेतिनेति का यही तात्पर्य है । अर्थात् वह नकार नकाररूप है ।

अथवा प्रकारान्तर से 'नेति नेति' वाक्य का समन्वय कीजिए । प्रथम नकार को 'अभाव' का ही वाचक समझिए । दूसरे नकार को भी अभावपरक मानिए । 'न' इसका जो 'न' है-वह ऐसा है, अर्थात् आत्मतत्व अभाव का भी अभाव है, यह तात्पर्य होगा । घटाभावाभाव जैसे घटसत्ता का कारण बन जाता है, एवमेव विश्वरूप आत्मा के अभाव का अभाव आत्म-सत्ता का कारण बन जाता है । ऐसी दशा में 'नेति नेति' का अर्थ होता है—'अस्तीत्येव' (अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कुतस्तदुपलभ्यते) । इसी भाव के लिए श्रुति ने यहां 'अन्यत्' शब्द का प्रयोग किया है । मिलेगा आत्मतत्व यहीं, परन्तु कब जब 'अन्यत्' भाव को सामने रक्खोगे तब-। विद्या को विद्या अविद्या मत समझो, विश्व में विद्या-अविद्यात्मक आत्मा को प्रविष्ट समझो। सोपाधिक पर दृष्टि डालते हुए 'अन्यत्' शब्द से निर्दिष्ट निरुपाधिक का अनुभव करो, वही आत्मा आत्मा है । सोपाधिक भाग तो उसी का विश्वरूप है । जहां लौकिक मनुष्य आत्मा के सोपाधिक (विश्वभाव) भाव को प्रधान समझते हैं, वहां धीर लोग निरुपाधिक को ही वास्तविक आत्मतत्व कहते हैं । यही उक्त मन्त्र का पहिला अर्थ है ।१।

विज्ञान को विद्या-अविद्यात्मक बतलाया गया है । यह विद्या और अविद्या भाग बुद्धिरूप है । अविद्याचतुष्टयी अविद्याबुद्धि है विद्याचतुष्टयी, विद्याबुद्धि है । यह सौर विद्या-अविद्या-

१–विद्या (ज्ञान)–सापेक्ष प्रवृत्तिकर्म ………सत्कर्म— कर्मकारी ⎫
२–विद्या (ज्ञान)–निरपेक्ष प्रवृत्तिकर्म ………सत्कर्म— साधुकारी ⎬–ज्ञानमूलककर्म
३–विद्या (ज्ञान)–सापेक्ष निवृत्तिकर्म ………निष्कामकर्म-कर्मयोगी ⎭
४–विद्यानिरपेक्ष निरुद्धकर्म ………विकर्म—–लौकायतिक]–विज्ञानमूलककर्म
५–विद्यानिरपेक्ष निरर्थककर्म ………अकर्म—–यथेच्छाचारी]–अज्ञानमूलककर्म

———o———

इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व में ज्ञान और कर्म का साम्राज्य हो रहा है। त्रेधाविभक्त ज्ञान में से ज्ञान, एवं त्रेधाविभक्त कर्म में से कर्म ग्राह्य है, शेष विज्ञान-अज्ञान, एवं विकर्म-अकर्म हेय हैं, यह रहस्यवेत्ताओं का सिद्धान्त है। इस ज्ञान और कर्म के सम्बन्ध में भारतीय विद्वानों में चिरकाल से भिन्न भिन्न दो मत चले आरहे हैं। कर्मतत्त्व को ही प्रधानता देने वाले कर्मठों का कहना है कि आत्मा का अभ्युदय कर्म से ही हो सकता है। कर्म करने में ही कल्याण है। सम्पूर्ण विश्व प्रजापति का कर्म है। उस ने कर्म से ही यह विभूति प्राप्त की है। कर्म करते जाओ, ज्ञान का उदय अपने आप हो जायगा–'तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति'। ज्ञान के लिए प्रयास करने की कोई आवश्यकता नहीं है। हमारा मुख्य ध्येय कर्म (प्रवृत्तिकर्म) होना चाहिए। यही विद्वान् कर्मठ, कर्मयोगी, कर्मनिष्ठानुयायी आदि नामों से प्रसिद्ध हैं।

दूसरा दल कहता है कि कर्म से कभी अभ्युदय नहीं हो सकता। तुम्हारा यह कहना कि प्रजापति ने कर्म से यह विश्वविभूति प्राप्त की है, सर्वथा असंगत है। प्रजापति विशुद्ध ज्ञानमूर्ति है। वहां कर्म की सम्भावना ही नहीं है। वह तो नित्यशुद्ध–बुद्ध–मुक्त है। तुम्हें जो कर्म प्रपञ्च (विश्व) दिखलाई देता है, वह 'रज्जुसर्पवत्' 'स्थाणुपुरुषवत्' 'शुक्तिरजतवत्' सर्वथा असत् है, भ्रान्तिमात्र है। सारा विश्व एक माया या मिथ्याभास है। हम मानते हैं कि विद्यानुमित कर्म श्रेय है, स्वर्गपद देने वाला है। परन्तु यह भी आगे जाकर [illegible]। वैद-

यिक) सुख कोटि में प्रविष्ट होता हुआ दुःख का ही कारण बन जाता है। 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके वसन्ति' 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः'। कर्म कर्म है, पाप्मा है, आवरक है। इस से ज्ञानमूर्त्ति आत्मा का निःश्रेयसभाव कथमपि संभव नहीं है। सर्वकर्मपरित्यागलक्षण ज्ञानयोगरूप सन्यास से ही मुक्ति हो सकती है। यही ज्ञानैकवादी 'ज्ञानी' 'ज्ञाननिष्ठानुयायी' 'सांख्य' आदि नामों से प्रसिद्ध हैं।

एक कहते हैं ज्ञान श्रेष्ठ है, दूसरे कहते हैं कर्म श्रेष्ठ है। एक कहते हैं सारा कर्म छोड़ छाड़कर जङ्गल में चले जाओ, दूसरे कहते हैं रात दिन कर्म (प्रवृत्तिकर्म) करते रहो। लोक में प्रचलित इन्हीं दो विरुद्ध निष्ठाओं का निरूपण करते हुए भगवान् कहते हैं—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ (गीता)

उपनिषत् की दृष्टि में उक्त दोनों ही मार्ग पतन के कारण हैं। विद्यामार्ग भी ठीक नहीं, अविद्यामार्ग भी ठीक नहीं। ठीक क्या नहीं! संभव नहीं। कर्मठ कर्म में प्रवृत्त होते हुए वासना संस्कार से आत्मा को आवृत कर रहे हैं। ज्ञानी कहलाने वाले ज्ञान में प्रवृत्त होते हुए भावना से आत्मा को आवृत कर रहे हैं। सकाम ज्ञानयोग, सकाम कर्मयोग दोनों ही भावना-वासनासंस्कार के जनक बनते हुए बन्धन के कारण है। सर्वकर्मपरित्यागलक्षण सांख्ययोग बन ही नहीं सकता। क्योंकि ज्ञानवत् कर्म भी आत्मा का अर्द्ध (भाग) है, जैसा कि पूर्व में बतलाया गया है। उधर कर्म भी विना ज्ञान के अधूरा है। जो केवल कर्म के अनुयायी हैं, कुछ दिनों के लिए उन का सांसारिक वैभव अवश्य बढ़ता है, परन्तु इस प्रवृत्तिजनक संस्कार से आत्मा आवृत होजाता है। यही प्रवृत्तिकर्म आगे जाकर अन्धतमरूप पाषाणादि स्थावरयोनियों का कारण बनता हुआ आत्मा को सदा के लिए अन्धतम से आवृत कर लेता है-(देखिए ई. वि.भा.१ खण्ड आवरणतन्त्र १६१ से १८३ पर्यन्त)। ऐसी दशा में हम कह सकते हैं कि जो केवल अविद्यारूप कर्म की उपासना करते हैं, वे घोर तम में प्रविष्ट होते हैं—"अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते"।

सम्पत्ति से युक्त मिलेगा। अन्यथा सभी विद्वानों पर निर्ऋति (दरिद्रा) देवता की विशेष कृपा मिलेगी। क्या इसी का नाम अभ्युदय है? क्या धर्म से यही फल मिलता है! क्या इसी आधार पर—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' यह कहा जाता है! आवश्यकता है आज दोनों को दोनों धर्मों के अपनाने की। विद्वान उन कर्मठों से कर्म करना सीखें, कर्मठ इन विद्वानों से विद्याग्रहण करें, तभी राष्ट्र का अभ्युत्थान सम्भव है। केवल ब्रह्मबल (विद्याबल) भी कुछ नहीं करसकता, केवल क्षत्रबल (कर्मबल) भी व्यर्थ है। ब्रह्म-क्षत्र के समन्वय में राष्ट्र का कल्याण है। सिविल (Civil) और मिलिट्री (Military) के समन्वय से ही राष्ट्र का अभ्युदय है। विद्या-कर्मरूप ब्रह्म—क्षत्रबल के समन्वय से ही ईश्वर प्रजापति विश्वसाम्राज्य का उपभोक्ता बन रहा है। इसी प्रकृतिसिद्ध विज्ञान का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

"ब्रह्मैव मित्रः, क्षत्रं वरुणः। अभिगन्तेव ब्रह्म, कर्त्ता क्षत्रियः। ते हैतेऽग्रे नानेवासतुर्ब्रह्म च क्षत्रं च। ततः शशाकैव ब्रह्म मित्र ऋते क्षत्राद्वरुणात् स्थातुम्, न क्षत्रं वरुणः–ऋते ब्रह्मणो मित्रात्। यद्ध किञ्च वरुणः कर्म चक्रेऽप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण, न हैवास्मै तत् समानृधे। स क्षत्रं वरुणः–ब्रह्म मित्रमुपमन्त्रयाञ्चक्रे- उप मावर्त्तस्व, संसृजावहै, पुरस्त्वा करवै, त्वत्प्रसूतः कर्म करवा इति। तथेति। तौ समसृजेतां, तत एव मैत्रावरुणो ग्रहोऽभवत्। ×++÷। तत्तदवक्लृप्तमेव-यद्-ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात, यद्यु राजनं लभेत समृद्धं तत्।

एतद्ध त्वेवानवक्लृप्तं यत् क्षत्रियोऽब्राह्मणो भवति। यद्ध किञ्च कर्म कुरुतेऽप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण, न हैवास्मै तत् समृध्यते। तस्मादु क्षत्रियेण कर्मकरिष्यमाणेनो-पसर्त्तव्य एव ब्राह्मणः। स हैवास्मै तद् ब्रह्म प्रसुतं कर्म्मऽर्ध्यते" इति —(शत० ब्रा० ४ कां०। १ अ०। ४ ब्रा०)।

ब्रह्म मित्र है, क्षत्र वरुण है। आगे आगे चलनें वाला ही (अनुमति प्रदान करनें वाला ही) ब्रह्म है, कर्त्ता क्षत्रिय है। यह दोनों (ब्रह्म-क्षत्र) पहले पृथक् पृथक् से ही थे, अर्थात् सृष्टि से पहिले इन की सहचर अवस्था थी, ग्रन्थिबन्धनभाव न था। उस समय (सृष्टि से पहिले) ब्रह्म मित्र तो क्षत्र वरुण के बिना (स्वस्वरूप से) प्रतिष्ठित रहनें के लिए समर्थ होगया, परन्तु क्षत्र वरुण ब्रह्म मित्र के बिना स्वतन्त्र रूप से प्रतिष्ठित रहनें के लिए समर्थ न हो सका। उस (एकाकी दशा में) ब्रह्ममित्र की अनुज्ञा के(सहयोग के)बिना वरुणनें जो कुछ कर्म किया,वह कर्म इस वरुणक्षत्र के लिए समृद्धि का कारण न बना। (अपनें कर्म को व्यर्थ होता देख कर) क्षत्र वरुण नें ब्रह्ममित्र से प्रार्थना की कि (हे ब्रह्म !) आप मेरे ऊपर कृपा करें, आप मेरे पास लौट आवें। अपन दोनों मिल जांय, मैं सदा आप को आगे रक्खूंगा, आप जैसी आज्ञा देंगे, तदनुकूल ही कर्म करूंगा। ब्रह्मनें 'तथास्तु' कह दिया, दोनों मिल गए। (इन दोनों के समन्वय से)-(सुप्रसिद्ध अहोरात्ररूप) यह मैत्रावरुणग्रह संपन्न होगया। +÷×÷+। यह बात तो फिर भी बन सकती है कि ब्राह्मण बिना राजा क रह जाय। यदि ब्राह्मण राजा को प्राप्त कर लेगा तो यह-उस ब्राह्मण की समृद्धि होगी। परन्तु यह बात तो किसी भी अवस्था में संभव नहीं है कि क्षत्रिय बिना ब्राह्मण क (क्षणमात्र भी) रह जाय। बिना ब्राह्मण की आज्ञा क क्षत्रिय जो भी

कर्म करता है, का कर्म कभी समृद्धि का कारण नहीं बन सकता। इस लिए कर्म करनें की इच्छा रखनें वाले क्षत्रिय को अवश्य ब्राह्मण का सहारा लेना चाहिए। ब्रह्म से आदिष्ट कर्म इस क्षत्रिय के लिए अवश्य ही समृद्ध बन जाता है"।

ब्रह्म ज्ञान है, क्षत्र कर्म है। ज्ञान मनोबल है, कर्म प्राणबल है। प्राण आपोमय है, बुद्धि सूर्यमयी है। आपोमय पारमेष्ठ्य वरुणप्राण क्षत्र है, विज्ञानमय सूर्य मित्र है। दोनों के समन्वय से मैत्रावरुण रूप अहोरात्रग्रह उत्पन्न हुआ है। रात्रि के १२ बजे से मध्यान्ह के १२ बजेतक अर्द्धखगोल (पूर्वकपाल) मित्र है। इस में सूर्य की प्रधानता रहती है—'मैत्रमहः'। दिन के १२ बजे से रात्रि के १२ बजेतक का अर्द्धखगोल (पश्चिमकपाल) वरुण है। इस में पारमेष्ठ्य सोम की प्रधानता रहती है-'रात्रिर्वारुणी'। अहोरात्र का परिप्लव ही विश्व का रूप है। इस प्रकार ब्रह्म-क्षत्र के समन्वय से विश्व प्रकाशित हो रहा है। यह विश्व तीसरा वाग्बल है। इस प्रकार मन (ब्रह्म), प्राण (क्षत्र), वाक् (विट्) की समष्टि 'इदं सर्वम्' है। यदि ब्रह्म-क्षत्र का सम्बन्ध विच्छिन्न होजाता है तो विड्रूप अर्थमूर्त्ति विश्व लयावस्था में परिणत हो जाता है। यद्यपि ज्ञान-कर्म दोनों को दोनों की अपेक्षा है। परन्तु प्रधानता ज्ञान की ही है। कारण ज्ञान व्यापक है, मूलधरातल है। जब सृष्टिरूप समृद्धि नहीं रहती, तब कर्म का तो विलयन हो जाता है, परन्तु ज्ञान स्वस्वरूप से ज्यों का त्यों प्रतिष्ठित रहता है। हां यदि ज्ञान का कर्म के साथ समन्वय होजाता है तो विश्वरूप से उस की समृद्धि अवश्य हो जाती है। परन्तु कर्म यदि ज्ञान का आश्रय छोड़ देता है तो वह अपना स्वरूप ही खो बैठता है। इसी रहस्य को बतलानें के लिए श्रुति नें—वयवरुण द्वारा ब्रह्म मित्र की

प्रार्थना करवाई है। ब्रह्म ही क्षत्र की **योनि** है—(देखिए ई. वि. भा. १खण्ड कर्तृ-तन्त्र)। प्रत्येक कर्म में ज्ञान पहिले है, कर्म अनन्तरभावी है। तत्तत्कर्मों का ज्ञान ही तत्तत् कर्मों की प्रवृत्ति का कारण बनता है।

इसी ज्ञानबल के उपासक को **ब्राह्मण** कहा जाता है, क्षत्रबल के उपासक को **क्षत्रिय** कहा जाता है, एवं अर्थशक्तिरूप वाक्तत्व के उपासक को (विड्वीर्य के उपासक को) **वैश्य** कहा जाता है। प्रकृतिसिद्ध नित्य **ब्रह्म–क्षत्र–विट् वीर्यों** के आधारपर ही भारतीय**वर्णव्यवस्थासूत्र** सञ्चालित है। प्रकृतिवत् प्रत्येक राजा एक एक ब्राह्मण **पुरोधा** अवश्य रखना चाहिए, एवं इसी के आदेशानुसार इसे कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए। **चाणक्य पुरोधानें चन्द्रगुप्त** को उन्नति के किस शिखर पर पहुंचा दिया था, यह सर्वविदित है। यदि ब्राह्मण को राजा का आश्रय न मिलेगा तो ब्राह्मण अपनी विद्या का विकास न कर सकेगा, परन्तु उस के स्वरूप की कोई हानि न होगी। उधर मदोन्मत्त राजा यदि ब्राह्मण को पुरोधा न बनाएगा तो वह स्वयं भी नष्ट हो-जायगा, एवं विड्वीर्यरूप राष्ट्र की अर्थशक्ति भी खो बैठेगा।

ऐसी दशा में हमारे देशवासियों का क्या कर्त्तव्य होजाता है? उस का विचार वे स्वयं करें। **पंजाब क्षत्र है, बंगाल ब्रह्म है, आर्यसमाज क्षत्र है, सनातनधर्म ब्रह्म है। राष्ट्रीयदल क्षत्र है, विद्वन्मण्डली ब्रह्म है।** आज आवश्यकता है दोनो के समन्वय की। जब तक ऐसा न होगा, तब तक किसी भी कर्म की सिद्धि न होगी। एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए। यद्यपि गलती दोनों की है परन्तु प्रधानता विद्योपासकों की ही है। यदि कर्मठ गलती करता है तो विद्वान् का दोष है। सब से पहिले देश का ब्राह्मणवर्ग अपनें कर्त्तव्य से च्युत हुआ है। पहले भू-

ल विद्योपासकों की है। इसी भूलनें वर्णाश्रमव्यवस्था का महत्व नष्ट किया है। मूर्ख का अपराध क्षम्य है, परन्तु विद्वान् यदि गलती करता है, वह यदि कर्त्तव्यकर्म से विमुख होता है तो उसका अपराध भयङ्कर है—'ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः' । अविद्या के उपासक तो अन्धकार में हैं हीं, परन्तु उन से भी अधिक अन्धकार में वे हैं, जो रात दिन विद्या की उपासना करते हुए भी कर्ममार्ग से वञ्चित हैं। इस प्रकार आत्मा के अङ्गों की उपासना करनें वाले दोनों ही दल लक्ष्यच्युत होरहे हैं।

बडी जटिल समस्या है। केवल कर्म भी बुरा, केवल ज्ञान उस से भी बुरा। एवं ज्ञान कर्म मार्ग से अतिरिक्त कोई तीसरा मार्ग है नहीं। ऐसी परिस्थिति में क्या किया जाय, किस मार्ग का अवलम्बन किया जाय ? इसी प्रश्न का समाधान करती हुई आगे जाकर श्रुति कहती है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥३॥

(ई. उ. ११ म.)

राजर्षिविद्या नाम से प्रसिद्ध वैराग्यबुद्धियोगविद्या नाम की प्रथमा विद्या के अन्तर्गत प्रथम एवं द्वितीय अध्याय में भगवान् नें बडे विस्तार के साथ ज्ञानयोगनिष्ठा, एवं कर्मयोगनिष्ठा का निरूपण किया। साथ ही में 'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य'(भगवद्गीता) इत्यादि रूप से अर्जुन को बुद्धियोग मर्म समझाया । भगवत्प्रतिपादित बुद्धियोग का अभिप्राय अर्जुन नें यह समझा कि भगवान् कर्म की अपेक्षा ज्ञानमार्ग को श्रेष्ठ बतला रहे हैं। 'बुद्धि विज्ञान है, विज्ञान ज्ञान है' इस सार्वजनीन प्रत्यय के अनुसार बुद्धियोग को ज्ञानयोग समझ लिया गया । उधर भगवान् नें ज्ञाननिष्ठा—कर्मनिष्ठा का निरूपण कर बुद्धियोगनिष्ठा पर प्रकरण का उपसंहार किया था, बुद्धियोग को ही श्रेष्ठ बतलाया था, साथ ही में 'कुरु

कर्म्म त्वं०' इत्यादि रूप से अर्जुन को यथोचित कर्म करने के लिए बाध्य किया था। कृष्णार्जुनसंवाद क्या था, ब्रह्म-क्षत्र का समन्वय था। भगवान् कृष्ण अभिगन्ता ब्रह्म थे, अर्जुन कर्त्ता क्षत्रिय था। ज्ञान-कर्म का एकीकरण था। इस प्रकार भगवान् ने अर्जुन को जो कुछ कहा था, वह ठीक था। परन्तु इन उन्मुग्ध अक्षरों के वास्तविक तात्पर्य को न समझता हुआ अर्जुन प्रश्न कर बैठा—

ज्यायसी चेत् कर्म्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत् किं कर्म्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ (गीता ३।१)।

इस प्रश्न के उत्तर में तीसरे अध्यायमें भगवान् ने उसी उन्मुग्ध अर्थ को स्पष्ट किया। भगवान् ने बतलाया कि बुद्धियोग वास्तव में न कर्मयोग है, न ज्ञानयोग है, अपितु दोनों के समन्वितरूप का ही नाम बुद्धियोग है। बुद्धि में ज्ञान कर्म दोनों हैं। बुद्धि का ज्ञानभाग विद्या है, कर्मभाग अविद्या है। जिन दो निष्ठाओं का हमनें उल्लेख किया है, परमार्थदृष्टि से वे दो निष्ठा नहीं, अपितु बुद्धियोग नाम की एक निष्ठा है। जो सांख्य है, वही योग है। जो योग है, वही सांख्य है—'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति'। इस पर यदि तू प्रश्न करे कि भगवन्! कर्म कर्म है, आवरक है। वह आवरण किए बिना नहीं रह सकता, ऐसी दशा में आप मुझे कर्ममार्ग में क्यों प्रवृत्त कर रहे हैं? इसके उत्तर में हम यही कहेंगे कि कर्मपरित्याग सर्वथा असंभव है। कितने ही कर्म (आत्मीयकर्म) ऐसे हैं, जो किसी भी दशा में छोड़े नहीं जा सकते। वैसी परिस्थिति में कर्मपरित्याग का ढोंग करना अपने आपको धोखा देना है। हम मानते हैं कि कितनें हीं कर्म अवश्य ऐसे हैं जो बंधन में डाल देते हैं, परन्तु कितने हीं ऐसे भी हैं जो बंधन के स्थान में बंधनमुक्ति का कारण बनते हैं। क्या इन अबंधन कर्मों को छोड़ने में बुद्धिमानी है? नियत कर्म छोड़े नहीं जा सकते, अबंधन कर्मों को छोड़ना बुरा है, फलतः सर्वकर्म्मपरित्यागलक्षणसंन्यास का कोई मूल्य नहीं रहता। कर्म क्यों नहीं छोड़े जा सकते, इस कर्म्मानिवार्यता के सात कारण हैं।

१— अभ्युपगमवाद का आश्रय लेते हुए हम थोड़ी देर के लिए यह मान लेते हैं कि सचमुच कर्म आवरक हैं। अच्छा इन्हें छोड़दीजिए। ऐसा करने से भविष्य के लिए आवरण बंद होजायगा। परन्तु ऐसी दशा में सञ्चित (संस्काररूप) कर्मों को हटाने का आप के पास क्या साधन है? ज्ञान निष्क्रिय तत्व है, अतः वह आवरण को हटाने में असमर्थ है। इस के लिए आप को बाध्य होकर **नैष्कर्म्यकर्म** का आश्रय लेना आवश्यक हो जायगा। नैष्कर्म्यसिद्धि कर्मारम्भ के विना सर्वथा असम्भव है। कर्मावरणनिवृत्त्यर्थ नैष्कर्म्यकर्मानुष्ठान आवश्यक है। कर्म की नैष्कर्म्यरूपा पहिली यही अनिवार्यता है। इसी के लिए भगवान् ने — '**न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते**' यह कहा है।

२— उधर कर्मसन्यास सर्वथा व्यर्थ है। जिस प्रयोजन के लिए (आवरण के आत्यन्तिक निराकरण के लिए) कर्मसन्यास लिया गया, वह प्रयोजन तो सिद्ध हुआ नहीं, कर्म और छोड़ दिया, आलसी और बन गए, इस व्यर्थ के मार्ग से तुमने अपना क्या हित समझ रक्खा है? **कर्मसंन्यासवैयर्थ्यरूपा** यही दूसरी अनिवार्यता है। इसी के लिए भगवान् ने '**न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति**' यह कहा है।

३— मल-मूत्रपरित्याग, गमन, भोजन आदि नियत शारीरिक कर्मों को कभी छोड़ा भी नहीं जासकता। तुम्हें परवश होकर यह सारे कर्म करने ही पड़ते हैं। जब कर्मत्याग असम्भव है तो फिर कर्म परित्याग कैसा? यही **कर्मपरित्यागाशक्यरूपा** तीसरी अनिवार्यता है। इसी के लिए भगवान् ने—'**नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्**' यह कहा है।

४— साथ ही में छिक्का (छींक), जम्भा (जंभाई–उबासी), श्वासनिश्वास, बुभुत्ता आदि कितनें हीं प्रकृतिसिद्ध कर्म हैं। तुम निश्चय करलो कि आज से हम न छिक्का लेंगे, न जंभाई लेंगे, न भूख लगेगी। परन्तु तुह्मारे इस निश्चय से होगा क्या। तुह्मारी इच्छा यहां अवरुद्ध है। इन कर्मों में प्रकृति का हाथ है। वह अवश्य तुम को इन कर्मों में प्रवृत्त कर देगी। अपनें समय पर तुह्मारी इच्छा की कोई अपेक्षा न रखते हुए यह प्राकृतिक कर्म हो ही पड़ेंगे। यही **प्रकृतिसिद्धलक्षणा** चौथी अनिवार्यता है। इसी के लिए भगवान् नें— '**कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः**' यह कहा है।

५— आसक्ति पैदा न करने वाले अनासक्तकर्म विशिष्टकर्म हैं। बलात्कार से इन कर्मों का निरोध किया, इन्द्रियों का संयम किया, परन्तु मन वश में नहीं है। इन्द्रियसंयम होनें पर भी मन **अन्तर्जगत्** में इधर उधर विषयलोलुप बनता हुआ भटकता फिरता है। यही मिथ्याचार है। इससे तो अच्छा यही है कि इन्द्रियों को अपना अपना कर्म करने दो, मन को वश में रक्खो। कर्म करो, आसक्ति मत रक्खो। कर्म का परित्याग मत करो, कामना का परित्याग करो। इन अनासक्त कर्मों से इन्द्रियें अपने आप संयत बन जायगीं। यही तो इस **अनासक्त कर्मयोग** की विशेषता है। कर्म की यही पांचवीं अनिवार्यता है। मन को इन्द्रियों के आधीन मत बनाओ, इन्द्रियों को मन के आधीन बनाओ, यही अनासक्त कर्मयोग है। इसी के लिए—'**यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन। कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते**' यह कहा है।

---

*कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ (गीता ३।६)

६— नियतकर्मारम्भ से आवरण हटता है, अनारम्भ से आवरण बना रहता है। इसलिए नियत कर्मों का आरम्भ ही अच्छा है। इस प्रकार कर्मारम्भ-एवं कर्मसन्यास दोनों में **नियतकर्म का आरम्भ** ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है। यही कर्म की ६ ठी अनिवार्यता है। इसी के लिए भगवान् ने— **'नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः'** यह कहा है।

७— सबसे आवश्यक बात तो यह है कि कर्ममार्ग की रक्षा से ही ईश्वर की विश्वविभूति की रक्षा है। **'मूंड मुडाय भये सन्यासी'** के अनुसार सभी कर्म छोड़ बैठें तो सारा विश्व ही उच्छिन्न हो जाय। फिर तो शास्त्रोपदेश के श्रोता ही न रहें, जीवनयात्रा का निर्वाह ही असम्भव हो जाय— **'न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः'**। जब कर्म से जीवनयात्रा का सुगमता से निर्वाह होता है, एवं बंधन होता नहीं, अपितु बंधन विमोक होता है तो ऐसी दशा में कौन बुद्धिमान् कर्मपरित्याग को उत्तम कहेगा। कर्म की यही सातवीं अनिवार्यता है। इसी के लिए भगवान् ने— **'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः'** कहा है। इस प्रकार सात तरह से जब कर्म की अनिवार्यता सिद्ध हो जाती है तो ऐसी स्थिति में कर्मपरित्याग कैसे बन सकता है।

सप्तधा विभक्ता-कर्म्मानिवार्यता

१–नैष्कर्म्योपायत्वादनिवार्यत्वम् →——→ "न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते"

२–कर्मसन्याससैफल्यादनिवार्यत्वम् →——→ "न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति"

३–कर्मपरित्यागाशक्यत्वादनिवार्यत्वम् →——→ "नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्"

४–प्रकृतिसिद्धत्वादनिवार्यत्वम् →——→ "कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः"

५–मनासक्तकर्मयोगवैशेष्यादनि० →——→"कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते"

६–कर्मारम्भ-कर्मसंन्यासयोः कर्मारम्भश्रैष्ठ्यादनिवार्यत्वम् →——→"नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः"

७–जीवनयात्रानिर्वाहकत्वादनि० →——→"शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः"

यह तो हुआ कर्म की अनिवार्यता का विचार। अब कर्म के अबंधनभाव पर दृष्टि डालिए। गीताशास्त्रने अबन्धन कर्मों को १–यज्ञार्थकर्म, २–लोकस्थितिनिर्वाहककर्म, ३–उपेक्षाकृतकर्म, ४–स्वभावसिद्धसहजकर्म इन चार भागों में विभक्त किया है। विषय आवश्यकता से अधिक विस्तृत होता जारहा है। अतः प्रकृत में केवल यज्ञार्थकर्म का दिग्दर्शन करा के इस अधिकरण को समाप्त किया जाता है।[1]

यज्ञार्थकर्म (अबन्धन)

आज दिन यज्ञ शब्द का केवल अग्निहोत्र–दर्शपूर्णमास–चातुर्मास्य–पशुबंध–सोमयाग–चयन आदि मनुष्यकृत यज्ञों के साथ ही सम्बन्ध समझा जाता है। यज्ञकर्म्म से केवल वेदविहित यज्ञ का ही ग्रहण किया जाता है। किसी अंश में ऐसा समझना ठीक भी है। परन्तु इन्हीं को यज्ञ समझना सर्वथा भूल है। यह प्राकृत–विधेयभेद से दो भागों में विभक्त हैं। नित्ययज्ञ प्राकृतयज्ञ कहलाता है। यह अधिदैवत–अध्यात्म–अधिभूत इन तीन भागों में विभक्त है। विधेययज्ञ मनुष्ययज्ञ कहलाता है। अग्निहोत्रादि सारे यज्ञ प्रकृति में हो रहे हैं। प्रकृतियज्ञ से (जो कि अधिदैवितयज्ञ नाम से प्रसिद्ध है) अध्यात्म और अधिभूत जगत् का निर्म्माण हुआ है। एवं उस नित्य प्राकृतयज्ञ की प्रतिकृति पर ऋषियों ने वैध श्रौत यज्ञों का आविष्कार किया है। हम जो यज्ञ करते हैं, वह ठीक उस प्रकृतियज्ञ की नकल है। इसी आधार पर 'देवाननुविधा वै मनुष्याः'–'यद्दै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि' इत्यादि निगम

[1] इन विषयों का विशद विवेचन गीताविज्ञानभाष्य के 'अबन्धनकर्म्मत्यागानौचित्योपनिषत्' नाम के प्रकरण में देखना चाहिए।

प्रचलित हैं। प्रकृतियज्ञ में जैसा हो रहा है, यदि तत्प्रतिकृतिभूत मनुष्ययज्ञ में उससे जरा भी विरुद्ध किया जाता है तो इसका स्वरूप बिगड़ जाता है। प्राकृत-विधेय भेद से द्वेधा विभक्त इन यज्ञों में से प्रकृत में सृष्टिप्रवर्त्तक प्राकृत यज्ञ का ही ग्रहण है। 'अग्नि में सोमाहुति' होना ही यज्ञ है। जिसमें अन्य वस्तु आहुत होती है, वही अग्नि है। आहुत होने वाली वस्तु सोम है। सब में सब आहुत हो रहे हैं। सब अन्नाद हैं, सब अन्न हैं। इसी अग्नीषोमात्मक यज्ञ से विश्व स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित हो रहा है। परात्पर-अव्यय-अक्षर-क्षरसमष्टि को हमनें षोडशी-प्रजापति कहा है। इस षोडशी प्रजापति का अक्षर भाग ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम-इन पांच कलाओं में विभक्त है। इनमें ब्रह्मा का जो वीर्य्य है, वही त्रयीवेदरूप में परिणित होता है। इस वेदोत्पत्ति में इन्द्राविष्णू की स्पर्द्धा ही मुख्य कारण है। इस प्रकार ब्रह्मा विष्णु इन्द्र से उत्पन्न वेदत्रयी के कारण वह षोडशी वेदमूर्त्ति बन जाता है। इसी आधार पर पूर्व के प्रकरणों में हमनें ईश्वर को वेदमूर्त्ति कहा है। वेदत्रयी का यजुर्भाग ब्रह्माग्नि है। ब्रह्माग्निरूप षोडशी पुरुष में प्राण, आप, वाक्, अन्न, अन्नाद इन पांचों प्रकृतियों की आहुति होती है। यह पांचों आहुति द्रव्य हैं। अतएव इन पांचों की समष्टि को हम अवश्य ही—'सोम' कहने के लिए तय्यार हैं। उस ब्रह्माग्निमय पुरुष में प्राणसोम की आहुति होने से स्वयम्भू प्रकट होता है। आपसोम की आहुति होने से परमेष्ठी उत्पन्न होता है। वाक्सोम की आहुति होने से सूर्य्य उत्पन्न होता है। अन्नादसोम की आहुति होने से पृथिवी उत्पन्न होती है, एवं अन्नसोम की आहुति होने से चन्द्रमा उत्पन्न होता है। स्वयम्भू प्राणयज्ञ है। परमेष्ठी आपोयज्ञ है। सूर्य्य वाग्यज्ञ है। पृथिवी अन्नादयज्ञ है। चन्द्रमा अन्नयज्ञ है। इस प्रकार पञ्चधा विभक्त सोमरूपा प्रकृति का पुरुषाग्नि के साथ समन्वय होने से पञ्चावयव विश्वयज्ञ उत्पन्न हो जाता है। इसी आधार पर—'पाङ्क्तो वै यज्ञः' यह कहा जाता है। यह अनुगम श्रुति है, अतएव इसके अनेक अर्थ होते हैं, जिनका कि आगे के उपनिषदों में समय समय पर निरूपण होता रहेगा। अभी केवल इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि प्रकृति एवं पुरुष के समन्वय से पञ्चावयव विश्वयज्ञ उत्पन्न होता है। पांचों में प्राणादि पांच

देवता अधिष्ठित हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में एक आख्यान आता है कि–"प्रजापति नें यज्ञ द्वारा देवताओं को उत्पन्न किया। उत्पन्न देवताओं ने प्रश्न किया कि हे प्रजापते! हम आपके यज्ञ से उत्पन्न हुए हैं। अब हमें क्या आज्ञा होती है? उत्तर में प्रजापति नें कहा कि जो कर्म्म मैंने किया है वही तुम करो। मैंने यज्ञ द्वारा तुम्हें उत्पन्न किया है, तुम भी यज्ञ द्वारा नई नई प्रजाएं उत्पन्न करो। बस उसी आदेश के अनुसार देवताओं नें उस प्राजापत्य विश्वयज्ञ से पुनः यज्ञ किया, एवं उसके द्वारा पांचो लोकों में (स्वयम्भू आदि में) रहनें वाली प्रजाओं को उत्पन्न किया। एवं देवयज्ञ से उत्पन्न हम भी आज यज्ञद्वारा ही प्रजोत्पत्ति में समर्थ होते हैं"। तात्पर्य इस आख्यान का यही है कि विश्वयज्ञ के देवताओं का फिर परस्पर संगम होता है। इससे आगे की सारी प्रजाएं उत्पन्न होती हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर—'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'–इत्यादि कहा जाता है। यज्ञकर्म्म से ही सारा विश्व उत्पन्न हुआ है, इसी से सारी प्रजाएं उत्पन्न हो रहीं हैं, एवं इसी से आगे आगे नई नई प्रजाएं उत्पन्न होतीं रहतीं हैं। इसी प्राकृतिक नित्यसिद्ध यज्ञविज्ञान को लक्ष्य में रखकर भगवान् कहते हैं—

सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ (गीता ३।१०)।

एक को दूसरे के साथ मिलाना यजन है। इसी मेल से संसार में नए नए आविष्कार होते रहते हैं। इसी से संसार के पदार्थमात्र उत्पन्न हुए हैं। इसी से हम चाहें जो कामना सिद्ध कर सकते हैं। संसार में जड़ चेतन ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो यज्ञ न करता हो। जिस पदार्थ का यज्ञ बंद हो जाता है, वह नष्ट हो जाता है। पूर्वोक्त प्रकरण से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि सृष्युपात्त प्रजा शब्द वस्तुमात्र का वाचक है। अब जरा व्याख्याताओं की लीला देखिए। उनकी दृष्टि में "ब्रा० क्ष० वैश्य तीन ही प्रजा हैं। प्रजापति नें यज्ञ द्वारा इन तीन वर्णों को उत्पन्न किया" यह है प्रजा शब्द का अर्थ। प्रजापति जो कुछ उत्पन्न करते हैं, उस का मूल यज्ञ ही है। यह यज्ञसृष्टि चार वर्णों में विभक्त है।

मनुष्यों में ही यह वर्ण विभाग नहीं है, अपितु पदार्थमात्र में चातुर्वर्ण्य का समावेश है। इसी अभिप्राय से सामान्यरूप से वर्णसृष्टि का निरूपण करते हुए भगवान् कहते हैं—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म्मविभागशः।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् ॥ (गीता)

भगवान् कहते हैं-मैंने चार प्रकार की प्रजासृष्टि की। इधर टीकाकार "तीन वर्णों को (सो भी मनुष्यों से सम्बन्ध रखने वाले ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों को) ही उत्पन्न किया" यह अर्थ करते हैं। कितनी भूल है। इस भूल का कारण यज्ञ का स्वरूप न समझना ही है। उन्होंने यज्ञ को हवनादि प्रसिद्ध यज्ञ समझ रक्खा है। किसी विशेष कारण से यह वैध यज्ञ मनुष्य ही कर सकते हैं। इन में भी ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य को ही अधिकार है। शूद्र अयज्ञिय होनें से यज्ञ में अनधिकृत है। उन्होंनें समझा कि इस यज्ञ से प्रजोत्पत्ति होती है। चूंकि यज्ञ करनें का विधान तीन के लिए ही पाया जाता है। अतः यज्ञ से सम्बन्ध रखनें वाला यहां का प्रजा शब्द तीन वर्णों का ही वाचक हो सकता है। अस्तु पराधिकार चर्चा का हमें कोई अधिकार नहीं। यहां हमें केवल अपना मन्तव्य प्रकाशित करनें का अधिकार है। हम यज्ञ को सृष्टि का प्रवर्त्तक समझते हैं। एवं प्रजा से सारे विश्व का ग्रहण करते हैं, साथ ही में उस विश्वप्रजा की सत्ता इसी यज्ञ-कर्म्मपरक समझते हैं। रासायनिक प्रक्रिया से दो वस्तुओं के मिलनें पर जो अपूर्वभाव उत्पन्न होता है, वही यज्ञसृष्टि कहलाती है। यही सम्बन्ध-'याग' कहलाता है। यागस्वरूप-संपादक यह यजन (यज्ञ) देवपूजा, देवसंगमन, देवदान भेद से तीन भागों में विभक्त है। यज धातु के तीनों अर्थ हैं। भूतसम्बन्ध से दानयज्ञ होता है, देवसम्बन्ध से संगमनयज्ञ होता है, एवं आत्मसम्बन्ध से पूजायज्ञ होता है। उदाहरण के लिए वैधयज्ञ को लीजिए। वैध-यज्ञ (मनुष्यकृत श्रौत यज्ञ) में उन नित्य प्राणदेवताओं के लिए पुरोडाश की आहुति दी जाती है। इस पुरोडाश में भूत-प्राण दो भाग हैं। द्रव्य भाग भौतिक है, एवं जिस तत्व के आधार पर पुरोडाश द्रव्य स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है, वह प्राण है, यही देवता है। भूत पंचावयव

है। प्राण ३३ अवयव है। पुरोडाश में ३३ देवता हैं, ५ भूत हैं। इन में यजमान जिस देवता की भावना करके पुरोडाश की आहुति देता है, पुरोडाश का वही देवता उत्क्रान्त होकर उस नित्य प्राकृतिक प्राणदेवता के साथ मिल जाता है। 'यावद्वित्तं तावदात्मा' इस सिद्धान्त के अनुसार यजमान का आत्मा भी पुरोडाश में रहता है। पुरोडाश द्वारा यजमान का आत्मा भी उन प्राणदेवताओं के साथ मिल रहा है। यही उन देवताओं के लिए यजमान का आत्मसमर्पण है, इसी का नाम पूजा है। दूसरे शब्दों में आत्मा को देवलोक में, देवताओं के शासन में प्रतिष्ठित करना हीं, अपने आपको उनकी आराधना के लिए भेट चढाना ही देवपूजा है। एवं जो देव भाग है वह उन देवताओं से मिल जाता है। यह सङ्गतिकरण है। बाकी बचता है भूतभाग। उसे देवता ले लेते हैं, परन्तु स्वाहा सम्बन्ध से। "न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति, एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति" के अनुसार देवता पितरभाग की तरह अन्तर्याम सम्बन्ध से इस पुरोडाश में प्रविष्ट नहीं होते, अपितु बाहर व्याप्त होते हैं। अतएव "स्वं-अश्नोति-व्याप्नोति" इस व्युत्पत्ति से देवान्न 'स्वाहा' नाम से प्रसिद्ध है। स्वाहा बोलकर ही देवताओं के लिए आहुति दीजाती है। इसप्रकार एक यज्ञमें तीन विभाग होजाते है। सर्वत्र तीनों हैं। आत्मा कारणशरीर है, देव सूक्ष्मशरीर है, भूत स्थूलशरीर है। आत्मा मनोमय है, देव प्राणमय है। भूत वाङ्मय है। सारी वस्तुएं (प्रजामात्र) मनप्राणवाङ्मय है। तीनों भाग अन्यके तीनों में जाया करते हैं, अन्यके तीनो भाग इसमें आया करते हैं। इसी त्रिविधयज्ञात्मक आदान विसर्ग से सब प्रजाएं अपने अपने स्वरूप में स्थित हैं।

१—भूतसम्बन्धात्—दानयज्ञ——स्थूलशरीरसम्बन्धी—वाङ्मय २—देवसम्बन्धात्——सङ्गतिकरणयज्ञ—सूक्ष्मशरीरसम्बन्धी—प्राणमय ३—आत्मसम्बन्धात्—पूजायज्ञ——कारणशरीरसम्बन्धी—मनोमय	स एष मनःप्राणवाङ्मयः, आदानविसर्गात्मकः स्थितियज्ञः

हमारे अध्यात्मिक प्राण निरन्तर आधिदैविक प्राणदेवताओं में आहुत होते रहते हैं, साथ ही में वे प्राणदेवता हमारे में आहुत होते रहते हैं। प्रकृतिमण्डल अपने पदार्थ निरन्तर ह-

में देता रहता है, साथ ही में लेता भी रहता है। मैं उससे उत्पन्न हुआ हूं। उत्पन्न होनें वाले मुझ अन्न को वह खाता है, एवं अन्नरूप मुझे खाने वाले उसे मैं भी खाता रहता हूं। इसी विषयज्ञ का निरूपण करते हुए वेदमहर्षि कहते हैं—

"अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य नाम।
यो मा ददाति स इ देवमावद, अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि"

(एतरेयआरण्यक.........)।

इस देवभाव के पारस्परिक संयोग को 'महितां संयोगः' कहा जाता है। वे देवता यहां आते हैं, यहां के वहां जाते हैं, यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। बस इस चक्र की सत्ता के लिए जो कर्म्म अपेक्षित है, वही—'यज्ञार्थ' कर्म्म कहे जाते हैं। हम उस का उच्छिष्ट खाते हैं, वह हमारा उच्छिष्ट खाता है। 'उच्छिष्टाद् जज्ञिरे सर्वम्' (अथर्व११।३।११) यह ध्रुव सिद्धान्त है। उच्छिष्ट को प्रवर्ग्य कहते हैं। इस प्रवर्ग्यविद्या का विशद निरूपण पूर्व के—'ईशावास्यमिदं सर्वम्'—इत्यादि मन्त्र में किया जा चुका है। यह यज्ञ आगे जाकर भूत-देव भेद से दो भागों में विभक्त होजाता है। विस्तार भय से इस का निरूपण नहीं किया जासकता। यहां सारे प्रपञ्च से हमें केवल यही बतलाना है कि यज्ञरूप आत्मा की स्थितिरक्षा के लिए विज्ञान सहकृत जो नाप्रात कर्म्म है, वह बंधन का कारण नहीं बनता। उसके न करनें से उलटी हानि होती है। व्यक्तिस्थिति एवं समाजस्थिति जिन कर्म्मों से होती है, वही यज्ञार्थकर्म्म हैं। उन के प्रवर्तक आप नहीं हैं, प्रकृति है। अतएव उन से संस्कार नहीं होता, स्वरूपरक्षामात्र होती है। अतः इन्हें कभी नहीं छोड़ना चाहिए। इसी यज्ञार्थकर्म्म की अयन्पनता बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

१ इस विषय का विशद विवेचन शतपथविज्ञानभाष्य के —'यज्ञकर्म्मोपन्यासोपनिषत्, नाम के प्रकरण में देखना चाहिए।

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकेऽयं कर्मबंधनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ (गीता- ३।९।) ।

मन की प्रधानता हटानें के लिए ही भगवान् नें-'मुक्तसंगः' कहा है। मन की इच्छा से जो कर्म किया जाता है, वह यज्ञार्थ नहीं है। अपितु बुद्धि की प्रधानता से, दूसरे शब्दों में बुद्धियोग द्वारा जो कर्म किए जाते हैं, वे ही–यज्ञार्थकर्म हैं, एवं वे अबन्धन हैं।

पूर्व के निरूपण से यह सिद्ध हो जाता है कि कर्मपरित्याग सर्वथा असंभव है। साथ ही में यह भी मान लेना पड़ता है कि केवल कर्म अवश्य ही बंधन का कारण है। कर्मपरित्याग-लक्षण ज्ञान भी निरर्थक है, कामनामय कर्म भी अनुपादेय है, 'काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदुः' यही बुद्धियोग है। यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है। मनुष्य तत्तत् कर्मों में तत्तत् फलाशा को लेकर ही प्रवृत्त होता है। यदि उसे यह विदित होजाता है कि अमुक कर्म करने से मुझे अमुक फल न मिलेगा तो वह भूल कर भी उस निरर्थक कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में मनोविज्ञान सिद्धान्त के अनुसार जो बात बन नहीं सकती, उसके लिए —'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' यह असंभव आज्ञा कैसे दी गई ? इसके उत्तर में अभी यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि मनुष्य की आध्यात्मिकसंस्था एक सीमित संस्था है। उस में ज्ञान–कर्मशक्तिएं परिमित हैं। कर्मारम्भदशा में ही यदि मनुष्य का ज्ञानकर्ममय आत्मा फल की ओर झुक जायगा तो इस की ज्ञान–कर्मशक्ति बट जायगी। आधा ज्ञानकर्म फल पर चला जायगा, आधा ज्ञानकर्म साध्य कर्म पर रह जायगा। परिणाम इसका यह होगा कि साध्यकर्म की सिद्धि के लिए जितना कर्म अपेक्षित होना चाहिए, उतना (फलांश में विभक्त हो जाने के कारण) न रहेगा, कर्म अधूरा रह जायगा। इसलिए कर्म-काल में फल की चर्वणा (अनुभव) में कर्म को खर्च न कर सर्वात्मना कर्म में ही लीन होजाना चाहिए। ऐसा होनें से फलाशा रखनें की दशा में जो कर्मसिद्धि चिरकाल से सम्बन्ध रखती थी, अथवा जिस की सिद्धि में सन्देह था, फलाशापरित्याग से वह कर्म शीघ्र एवं अवश्य ही सफल बन जायगा। कर्म कभी व्यर्थ नहीं जाता। यदि अग्नि पर पानी रक्खा जायगा तो पानी अवश्य

गरम हो जायगा । आप अनन्यभाव से कर्म करें, और फल न हो यह सर्वथा असम्भव है । परन्तु फल उत्पन्न करना आप का काम नहीं है । आप कर्म को सिद्ध कर दीजिए, प्राकृतिक नियम के अनुसार सिद्ध कर्म स्वयं फल का जनक बन जायगा । फल पर दृष्टि रखना अनधिकार चेष्टा है । जो बल कर्मसिद्धि को सम्पादन करने वाला है, उसे निरर्थक खर्च करना है । आप की आशा से फल उत्पन्न नहीं होता, अपि तु आप के कर्म से फलसिद्धि होती है । इसी अभिप्राय से महर्षि चरक ने–'हेतावीर्षुः फले नेर्षुः' (चरक स. सूत्रस्थान–इन्द्रियोप.अ.सद्वृत्तोपदेश) । यह कहा है । अमुक मनुष्य विद्वान् है, उस की इस विद्वत्ता से ईर्ष्या करना बुरा है । अपितु जिस कर्म से उसे विद्याफल मिला है, उस हेतुभूत कर्म के साथ ईर्ष्या करनी चाहिए । अमुक व्यक्ति धनवान् है, इस फलेर्ष्या से आत्मपतन होता है । जिस कर्म से वह धनिक बना है, उस कर्म के साथ ईर्ष्या करने से अभ्युदय होता है । यही उन्नति का अन्यतम एवं सर्वोत्कृष्ट मार्ग है । फल को कर्म सिद्धि का हेतु मत बनाओ, अपितु कर्म को कर्म सिद्धि का हेतु समझो, यही कहना है । इस फलाशात्याग से एक तो कर्म अवश्य सिद्ध हो जायगा, फल मिलेगा, उस के आप भोक्ता बनेंगे । दूसरा जो बड़ा भारी लाभ होगा उस का तो कहना ही क्या है । उक्त प्रकार से फलाशात्यागपूर्वक यदि कर्म किया जायगा तो वह कर्म, एवं तज्जनितफल आसक्ति के कारण न बनेंगे–'कुर्वन्नपि न लिप्यते' । फल मिला, उस का आपने भोग किया, परन्तु आसक्ति की जननी आशा के परित्याग से सब कुछ करते हुए भी आप अबन्ध रहेंगे, यही तो निष्कामकर्म की विशेषता है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर भगवान् कहते हैं कि तुम्हारा अधिकार केवल कर्म में है । जब फल तुम्हारे अधिकार में ही नहीं तो फिर आशा ही क्यों करते हो । भगवान् की इस उक्ति का कोई यह अर्थ न समझले कि जब फल की ही आशा नहीं तो कर्म में प्रवृत्ति ही कैसे होगी ? इस लिए आगे जाकर भगवान् कहते हैं—'मा कर्मफलहेतुर्भूः—मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि' । कर्मफल को हेतु मत बनाओ, कर्म को कार्य सिद्धि का हेतु समझो । कभी अकर्म से मित्रता न करो, फल भी तो अकर्म ही है । उस में ... कारण कर्मविभूति में भ्रान्ति रहना है ।

एक आपत्ति का जैसे तैसे निराकरण किया गया, दूसरी आपत्ति और उपस्थित हो गई। सुनिए ! फलाशा आसक्ति की जननी है, इसलिए भी उसका त्याग करना चाहिए, एवं शक्ति-विभाग से वह कर्मसाधक कर्म की शक्ति कम करने के कारण भी छोड़ने योग्य है। साथ ही में फलाशा अनधिकार चेष्टा है, कर्मसिद्धि में इस की कोई अपेक्षा नहीं, यहां तक तो सब परिस्थिति ठीक ठीक हो गई। परन्तु जो कामना कर्म की जननी है, उस के परित्याग का आदेश कैसे समव हुआ ?। कामना (इच्छा) के बिना यत्न नहीं हो सकता, फलतः परम्परया कामना का कर्मजनकत्व, किंवा कर्मप्रवृत्तिहेतुत्व सिद्ध होजाता है। उधर फलाशावत् कामना को आसक्ति की जननी बताया जाता है। ऐसी परिस्थिति में ऐसा कोई कर्म नहीं रहता जो बिना कामना के संपन्न हो जायं। सभी कर्म सकाम हैं, अतएव कर्ममात्र (सकाम बनते हुए) आसक्ति के प्रवर्त्तक बनते हुए आवरणरूप बंधन के कारण हैं। फलतः सन्यास का 'सर्वकर्मपरित्याग-लक्षणरूप सन्यास' इस किंवदन्ती पर ही विश्राम मानना पड़ता है। ऐसी दशा में 'कामना रहित हो कर कर्म करो' इस आदेश का कोई मूल्य नहीं है। इस विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए बुद्धि से काम लीजिए, विज्ञानात्मा की शरण में चलिए, समाधान हो जायगा। बुद्धि और मन की प्रधानता अप्रधानता से इच्छा के दो रूप हो जाते हैं। मन की प्रधानता से बुद्धि की स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है, मनोराज्य शेष रह जाता है। मन चान्द्र सोममय होने से स्नेहगुणक है। फलतः ऐसे मन की कामना अवश्य ही स्नेहधर्म के कारण आसक्ति की जननी है। उधर बुद्धि की प्रधानता से मन गौण बन जाता है। ऐसे बुद्धिप्रधान मन की कामना स्नेहमयी न रहकर बुद्धिसम्बन्ध से तेजोमयी बन जाती है। तेजतत्व असंग है, अतएव तन्मयी कामना असंगभावमयी बनती हुई आसक्ति की जननी नहीं बनती। यही तो बुद्धियोग है। कामना है; परन्तु कामना का जो आसक्तिभाव है, वह बुद्धि की कृपा से मृतप्राय है। ऐसी

अवस्था में इस कामना का रहना न रहने के समान है, यही निष्कामकर्म है।

दार्शनिक परिभाषा के अनुसार विचार कीजिए। दार्शनिकों ने इच्छा के उत्थाप्याकांक्षा, उत्थितांकांक्षा भेद से दो रूप माने हैं। अपने आप उठी हुई इच्छा उत्थितकांक्षा है। प्रयास से उठाई गई इच्छा उत्थाप्याकांक्षा है। इन दोनों इच्छाओं का प्रथमखण्ड में निरूपण किया जा चुका है, अतः यहां पिष्टपेषण की आवश्यकता नहीं है। बुद्धिप्रधाना इच्छा आत्मेच्छा है, ईश्वरेच्छा है, यही उत्थाप्याकांक्षा है। मन यदि बुद्धि के अनुगत बन जाता है तो आत्मेच्छा प्रधान बन जाती है, ऐसे मन की कामना अकामना है। यदि मन विषयों की ओर ही झुका रहता है तो आत्मेच्छा से पराङ्मुख होता हुआ, स्वस्वरूप से प्रधान बनता हुआ काममय बन जाता है। यही कामना बंधन का कारण है। निष्कामकर्म में इसी कामना के परित्याग का आदेश है।

ब्रह्म-कर्म दोनो आत्मा के स्वरूप हैं। कर्म करो–ब्रह्मार्थ, कभी बंधन न होगा। निवृत्तिकर्मरूप अविद्या के द्वारा आत्मा पर आया हुआ मृत्युरूप कर्मसंस्कार हट जायगा, अमृतात्मा का साक्षात्कार हो जायगा। मृत्युरूप कर्म–(संस्काररूप कर्म)-समुद्र का तरण निवृत्तिकर्मरूपा अविद्या से ही हो सकता है–'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः' इत्यादि में कर्म शब्द काम्यकर्म का ही वाचक है। त्याग शब्द से कामना का परित्याग ही अभिप्रेत है। कामना का त्याग ही तो वास्तविक त्याग है। कर्म छोड़ दिया, कामना बनी रही, यह तो परित्याग नहीं ग्रहण है। निष्कर्ष यही हुआ कि मध्यस्थ विज्ञानात्मा में विद्या–अविद्या (कर्म) दोनों हैं। दोनों स्वतन्त्र होकर बुरे हैं। मिलकर बंधन को हटाने में समर्थ हैं। इन दोनों के समन्भाव से अव्यय के दोनों भाग समता को प्राप्त हो जाते है। यह समत्व ही सच्चा बुद्धियोग है, समत्व ही शान्ति है, शान्ति ही आत्मानन्द है।

इस प्रकार हमारा यह तृतीय अधिकरण (विषयक्रमानुसार चतुर्थ अधिकरण) विद्या-अविद्यात्मक सूर्य का, एवं तदंशभूत विद्या अविद्यात्मिका बुद्धि का स्वरूप बतलाता हुआ, दोनों की समष्टिरूप बुद्धियोग का ही उपदेश देता है। श्रुति को अध्यात्म-अधिदैवत दोनों संस्थाओं का स्वरूप बतलाना अभीष्ट था, अतएव उसने दोनों के (सूर्य और बुद्धि के) सामान्यधर्मों से सम्बन्ध रखने वाले **'विद्या-अविद्या'** शब्दों का ही प्रयोग किया है। विद्या-अविद्यात्मक विज्ञानात्माधिकरण समाप्त हुआ, अब क्रमप्राप्त संभूति-असंभूत्यात्मक प्रज्ञानात्माधिकरण की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

इति-विज्ञानात्माधिकरणम्

— ❀ —

प्राकृतात्माधिकरणे-

विज्ञानात्माधिकरणं समाप्तम्

३



पूर्णमदः 

४-चन्द्रमाः  प्रज्ञानवैभव ४-प्रज्ञानात्मा

अधिदैवतम् 

पूर्णमिदम्

अध्यात्मम्

ब्रह्मसत्याक्षरः—

सम्भूति-असम्भूतिमयः प्राकृतात्मा चन्द्रमाः

प्रज्ञानात्मा

३

चन्द्रमाः← —— ←←←छन्दस्→→→ ———→प्रज्ञानात्मा

(प्राकृतात्माधिकरणे *प्रज्ञानात्माधिकरणं चतुर्थम्*)

ब्रह्मस्वेदवेदावच्छिन्नः-सम्भूति-असम्भूतिमयात्मा

यज्ञसञ्चालकः

१-अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ॥
२-अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसंभवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥
३-सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥

(ईशोपनिषत् १२-१३-१४-मं०)





प्रज्ञानात्मस्वरूपनिदर्शन

१– यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ॥
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ (यजु.३४।१) ।

२– यत् प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतम्प्रजासु ॥
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ (३४।२) ।

३– येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्त होता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ (३४।३) ।

४– अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृशे कुह चिद्दिवेयुः ।
अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति ॥ (ऋक्.१।२४।१०) ।

५– चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि ॥
न वो हिरण्यनेमयः पदं विन्दन्ति विद्युतो वित्तं मे अस्य रोदसी ॥ (१।१०५।१) ।

६– नवो नवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम् ॥
भागं देवेभ्यो विदधात्यायन् प्र चन्द्रमा स्तिरते दीर्घमायुः ॥ (ऋ.१०।८५।१९) ।

७– चन्द्रमा मनसो जातः (यजुः ३१।१२)

८– चन्द्रमा मे मनसि श्रितः" (तै. ब्रा. ३।१०।८।५) ।

९– तद्यत्तन्मनश्चन्द्रमास्सः (जै० उ० ३।२८।५।) ॥

१०– मनो मे, रेतो मे, प्रजा मे, पुनः सम्भूतिमं तन्मे त्वयि (चन्द्रमसि) ॥
(जै. उ. ३।२७।१४) ।

११– यत्तन्मन आसीत्, स चन्द्रमा अभवत् । (जै० उ० २।२।२) ।

॥ श्रीः ॥

भ्रुवोर्मध्ये ललाटे तु नासिकायास्तु मूलतः ।
जानीयादमृतं स्थानं तद् ब्रह्मायतनं महत् ॥१॥
आकाशमण्डलं वृत्तं देवताऽस्य सदाशिवः ।
नादरूपं भ्रुवोर्मध्ये मनसो मण्डलं विदुः ॥२॥
विषं वर्षति सूर्योऽसौ स्रवत्यमृतमुन्मुखः ।
तालुमूले स्थितश्चन्द्रः सुधां वर्षत्यधोमुखः ॥३॥
चित्ते चलति संसारो निश्चलं मोक्ष उच्यते ।
तस्माच्चित्तं स्थिरीकुर्यात् प्रज्ञया परया विधे ॥४॥
चित्तं कारणमर्थानां तस्मिन् सति जगत्त्रयम् ।
तस्मिन् क्षीणे जगत् क्षीणं तच्चिकित्स्यं प्रयत्नतः ॥५॥
मनोऽहं गगनाकारं मनोऽहं सर्वतोमुखम् ।
मनोऽहं सर्वमात्मा च न मनः केवलः परः ॥६॥
मनः कर्माणि जायन्ते मनो लिप्यति पातकैः ।
मनश्चेदुन्मनीभूयान्न पुण्यं न च पातकम् ॥७॥
मनसा मन आलोक्य वृत्तिशून्यं यदा भवेत् ।
ततः परं परब्रह्म दृश्यते च सुदुर्लभम् ॥८॥
मन एव हि बिन्दुश्च उत्पत्ति-स्थितिकारणम् ।
मनसोत्पद्यते बिन्दुर्यथा क्षीरं घृतात्मकम् ॥९॥





र्मदा के सभी कङ्कर नर्मदेश्वर शङ्कर, शालग्राम के सभी कङ्कर शालग्राम। इसी प्रकार ईश्वर प्रजापति के सभी पर्व ईश्वरप्रजापति। समष्टिरूप से भी वही सर्वता, व्यष्टिरूप से भी वही सर्वता। अंग-अंगी दोनों समानधर्मा। 'ब्रह्मै- वेदं सर्वम्'। ईश्वरप्रजापति का तीसरा पर्व (सूर्य) जहां विद्या-अविद्यात्मक है, वहां यह चौथा पर्व (चन्द्रमा) सम्भूति (उत्पत्ति) और असम्भूति का अधिष्ठाता है। प्रकृत अधिकरण तीन मन्त्रों से इसी का निरूपण करता है।

सृष्टिक्रमानुसार सूर्य के अनन्तर पृथिवी है, सर्वान्त में चन्द्रमा है। परन्तु अध्यात्मसंस्था की दृष्टि से चन्द्रमा सूर्य एवं पृथिवी के मध्य में प्रतिष्ठित है। पार्थिव प्रजा पर सूर्य एवं पृथिवी के मध्य में रहने वाले कृष्णपक्ष के अधिष्ठाता चन्द्रमा का ही अनुग्रह होता है। जब चन्द्रमा पृथिवी के इस ओर आजाता है तो ऐसी अवस्था में चान्द्रसोम का सौर इन्द्र के साथ सम्बन्ध होजाता है। शुक्लपक्ष में, विशेषतः पूर्णिमा में सारा चान्द्रसोम सौर सावित्राग्नि में हुत रहता है। इस शुक्लावच्छिन्न चान्द्रसोम का पृथिवी पर आगमन नहीं होता। पृथिवी के चारों ओर घूमने वाला चन्द्रमा जब पृथिवी के उस ओर (सूर्य की ओर) आजाता है तो चन्द्रमा का दृश्य भाग पृथिवी की ओर अनुगत रहता है। फलतः वहां सौर रश्मिएं नहीं पहुंचने पातीं। इस काल में (कृष्णपक्ष में), विशेषतः अमावास्या में चान्द्रसोम प्रभूतमात्रा से पृथिवी पर आकर ओषधि-वनस्पतियों में प्रविष्ट हो जाता है। यों तो पूरे कृष्णपक्ष में ही चान्द्रसोम पृथिवी पर आता रहता है, परन्तु जब चन्द्रमा ठीक सूर्य और पृथिवी के मध्य में आजाता है तो सोम सर्वात्मना पृथिवी पर आजाता है। यही सूर्येन्दुसंगमकाल 'अमावास्या' नाम से प्रसिद्ध है। इस दिन चान्द्रसोम पार्थिव अग्नि के साथ निवास करता है, अतएव यह तिथि 'अग्निना-अमा (सह) वसति (सोमः)' इस व्युत्पत्ति से अमावास्या नाम से प्रसिद्ध है। इस अमासोम में सन्तानसूत्रप्रवर्त्तक पितरप्राण प्रबुद्ध रहता है, अतएव अमावास्या पितृतिथि कहलाती है। सोम के साथ पितर प्राण भी ओषधियों में प्रविष्ट होजाता है। ओषधियें ही पुरुषाग्नि में हुत होकर शुक्ररूप में परिणत होती हैं। पितरप्राणावच्छिन्न शुक्र की योषिदग्नि में आहुति होने से प्रजोत्पत्ति होती है। शुक्रगत इसी पितरप्राण के समिन्धन के लिए अमावास्या में दर्शेष्टि की जाती है। कहना यही है कि जब चन्द्रमा सूर्य एवं पृथिवी के मध्य में आता है, तभी वह अध्यात्मसंस्था का उपकारक बनता है। कृष्णपक्ष ही सोम का आदानकाल है, इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर याजिश्रुति कहती है—

> "इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार-सो ऽबलीयान् मन्यमानो नास्तृपीतीव विभ्यन्निलयाञ्चक्रे। स परः परावतो जगाम। तमन्वेष्टुं दध्रिरे। अग्निर्दे-

वतानां, हिरण्यस्तूप ऋषीणां, बृहती छन्दसाम्। तमग्निरनुविवेद। तेनैतां रात्रिं सहाजगाम। ते देवा अब्रुवन्-ममा वै नोऽद्य वसुर्वसति। + + × +। ते देवा अब्रुवन्-न वा इममन्यत् सोमाद्विनुयात्। सोममेवास्मै सम्भरामेति। तस्मै सोमं समभरन्। एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः। स यत्रैष एतां रात्रिं न पुरस्तान्न पश्चाद्ददृशे, तदिमं लोकमागच्छति। स इहैवापश्चौषधीश्च प्रविशति। स वै देवानां वसु, अन्नं ह्येषाम्। तद्यदेष एतां रात्रिमिहामावसति-तस्मादमावास्या नाम"।

(शत० ब्रा० १।६।४।१-५)।

"जिस समय इन्द्रने वृत्रासुर के लिए (वृत्रासुर पर) वज्र फेंका-(उस समय) इन्द्र अपने आप को (वृत्रवध में असमर्थ समझते हुए) दूर से दूर भाग गए। तात्पर्य यह हुआ कि इन्द्रने आंख मीच कर वृत्रासुर पर वज्र फेंकनें को तो फेंक दिया, परन्तु उन्हें यह विश्वास न था कि मेरे वज्र से वृत्र मारा ही जायगा। फलतः वज्रप्रहार कर वृत्र के फिर बचकर प्रहार करनें के भय से इन्द्र बड़ी दूर निकल गए। (चूंकि इन्द्र देवता, ऋषि, छन्द आदि के अध्यक्ष थे, अतः उनके गुम होजाने पर) इन्हें (देवताओंनें) ढूंढना प्रारम्भ किया। (ढूंढने के लिए) देवताओं की ओर से अग्नि गए, ऋषियों की ओर से हिरण्यस्तूप गए, एवं छन्दों में बृहती गया। अन्ततः अग्निनें इन्द्र को ढूंढ निकाला। इस अग्नि के साथ यह इन्द्र इस (अमावास्या) रात्रि में लौट आए। (अग्नि के साथ इन्द्र को लौट आया देखकर) देवता आपस में कहनें लगे कि आज अपना यह (वसु बहुमूल्य निधिरूप इन्द्र) अग्नि के साथ निवास कर रहा है। + ÷ ÷ ÷। [चूंकि वृत्रवधकर्म्म में इन्द्र की शक्ति क्षीण होगई थी, इसलिए देवताओंनें बल-प्रदान के लिए यह निश्चय किया कि] सोम के अतिरिक्त दूसरा पदार्थ इन्द्र को तृप्त नहीं कर सकता। अपन इन्द्र के लिए सोम का ही सम्भरण करें। फलतः देवताओंनें इन्द्र के लिए सोम प्रदान किया। यही वह सोमराजा देवताओं का अन्न है, जो कि आकाश में प्रत्यक्ष दृष्ट यह चन्द्रमा है। यह जिस रात न पूर्व दिखलाई देता, न पश्चिम, उस रात्रि में वह इस लोक

गायत्रपुरुष का पहिला पर्व रस-बलरूप है, यही मूलपर्व है। रस-सत् है, बल असत् है। असद्बलयुक्त सद्रस की समष्टि ही पहिला पर्व है। इसी प्रथमपर्व को परात्पर कहा जाता है (देखिए ई. वि. प्र. सं.२५५पृ.)। आगे के सात पर्व इसी प्रथम पर्व का विकास है। परात्पर का रसभाग मायाकृत अन्तश्चिति से आनन्दविज्ञानमनोमय बनता हुआ 'अमृत' नाम से, एवं बलभाग मायाकृत बहिश्चिति से मनप्राणवाङ्मय बनता हुआ 'मृत्यु' नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। रस का प्रथम विकास अमृत है, बल का प्रथम विकास मृत्यु है। रस-बलशब्द जहां परात्परतत्त्व के लिए नियत हैं, वहां अमृत-मृत्युशब्द मायोपाधिक पुरुषविवर्त्त के लिए नियत हैं। जैसे परात्पर की रस-बल कला सत्-असत् नाम से प्रसिद्ध हैं, एवमेव पुरुष की उक्त दोनों कलाओं के लिए क्रमशः विद्या-कर्म शब्द नियत हैं। अमृत-मृत्युरूप विद्या-कर्म की समष्टि यह पुरुष (षोडशीपुरुष) उस गायत्रपुरुष का दूसरा पर्व, किंवा दूसरा अक्षर है। पुरुष का रसप्रधान विद्यामय अमृत-भाग ही आगे जाकर 'स्थिति' रूप में परिणत होता है, एवं बलप्रधान कर्ममय मृत्युभाग ही आगे जाकर 'गति' रूप में परिणत होता है। स्थिति-गति उस रस-बल का द्वितीय विकास है। यही विकासावस्था 'वेद' नाम से प्रसिद्ध है, इसे ही 'स्वयम्भू' कहा जाता है। यही गायत्रपुरुष का तीसरा पर्व, किंवा तीसरा अक्षर है। रसप्रधाना स्थिति, बलप्रधाना गति इन दोनो शब्दों के लिए क्रमशः अनिरुक्त-निरुक्त शब्द नियत हैं। अव्यक्त स्वयम्भू का रसप्रधान अनिरुक्त स्थितिभाग ही आगे जाकर स्नेहरूप में परिणत होता है, एवं बलप्रधान निरुक्त गतिभाग ही आगे जाकर तेजरूप में परिणत होता है। यह स्नेह-तेज उस रस-बल का तृतीय विकास है। यही विकासावस्था 'सुवेद' नाम से प्रसिद्ध है, यही 'परमेष्ठी' नाम से व्यवहृत होता है। गायत्रपुरुष का यही चौथा पर्व, किंवा चौथा अक्षर है। रसप्रधान स्नेह, बलप्रधान तेज इन दोनों शब्दों के लिए क्रमशः रयि-प्राण शब्द नियत हैं। व्यक्ताव्यक्त परमेष्ठी का रसप्रधान रयिरूप स्नेहभाग ही आगे जाकर (वेदाग्नि के सम्बन्ध से) विद्यारूप में परिणत होता है, एवं बलप्रधान प्राणरूप तेजभाग ही आगे जाकर अविद्या, रूप में परिणत होता है। यह विद्या-अविद्या उस रस-बल का चतुर्थ विकास है। यही

विकासावस्था 'हिरण्यगर्भ' नाम से प्रसिद्ध है। इसी को सूर्य कहा जाता है। गायत्रपुरुष का यही पांचवां पर्व, किंवा पांचवा अक्षर है। रसप्रधाना विद्या, बलप्रधाना अविद्या इन दोनों शब्दों के लिए क्रमशः ज्योति-तम शब्द नियत हैं। व्यक्त सूर्य का रसप्रधान ज्योतिर्मय विद्याभाग ही आगे जाकर सम्भूति रूप में परिणत होता है, एवं बलप्रधान तमोमय अविद्याभाग ही आगे जाकर असम्भूति (विनाश) रूप में परिणत होता है। यह संभूति एवं असम्भूति उस रस-बल का पांचवां विकास है। यही विकासावस्था 'विष्णुरण' नाम से प्रसिद्ध है, इसी को 'चन्द्रमा' कहा जाता है। गायत्रपुरुष का यही६ठा पर्व,किंवा ६ठा अक्षर है। रसप्रधाना संभूति, बलप्रधाना असम्भूति इन दोनों शब्दों के लिए क्रमशः उत्पत्ति-लय यह दो शब्द नियत हैं। मर्त्य चन्द्रमा का रसप्रधान उत्पत्तिमय संभूतिभाग ही आगे जाकर ज्ञानरूप में परिणत होता हुआ सर्वज्ञ नाम से व्यवहृत होता है, एवं बलप्रधान लयरूप असम्भूतिभाव ही आगे जाकर अर्थरूप में परिणत होता हुआ विराट् नाम से प्रसिद्ध होता है। इन दोनों के मध्य में एक तीसरे क्रियामय हिरण्यगर्भ तत्व का विकास और होता है। ज्ञानमूर्त्ति सर्वज्ञ, क्रियामूर्त्ति हिरण्यगर्भ, अर्थमूर्त्ति विराट् की समष्टि ही 'देवसत्य' नाम से प्रसिद्ध है। इस की प्रतिष्ठा अमृता पृथिवी है। यह उस रसबल का ६ ठा विकास है। गायत्रपुरुष का यही ७वां पर्व, किंवा ७ वां अक्षर है। अग्निमूर्त्ति देवसत्य के रसप्रधान ज्ञानभाग से आगे जाकर देवता का विकास होता है, एवं बलप्रधान अर्थभाग से भूत का विकास होता है। यह 'देवता' (प्राण) 'भूत' उस रस-बल का सातवां विकास है। यही विकासावस्था 'भूपिण्ड' नाम से प्रसिद्ध है। गायत्र पुरुष का यही ८ वां पर्व, किंवा ८ वां अक्षर है। रसप्रधान देवता, बल प्रधान भूत इन दोनों शब्दों के लिए क्रमशः अमूर्त्त-मूर्त्त-शब्द नियत हैं। यही आठों पर्व जीवपुरुष में हैं। केवल स्वयम्भू आदि के नामों में अन्तर है। इस प्रकार एक ही रस-बल चितितारतम्य से उक्त आठ रूपों में परिणत होजाता है। यही तो उस ब्रह्म का महापद, महामभ्व है।

उक्त गायत्रपुरुष-तालिका से पाठकों को विदित हुआ होगा कि चन्द्रमा ही सम्भूति और विनाश का कारण है। चन्द्रमा से पहले सूर्य, सूर्य से पहिले परमेष्ठी की सम्भूति (उत्पत्ति) होजाती है । भूपिण्ड सूर्य का उपग्रह है। सर्वान्त में भूपिण्ड से चन्द्रमा का जन्म होता है, अतएव पृथिवी सूर्य का उपग्रह कहलाती है, एवमेव चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह कहलाता है। पृथिवी में रहने वाला सूर्यविरोधी, पारदर्शकता का प्रतिबन्धक धामच्छद प्राण 'अत्रि' नाम से प्रसिद्ध है । यह प्राण वाक्प्रधान है, एवं वाक्तत्व आवरण का जनक है। फलतः वाङ्मय अत्रिप्राण का भी आवरकत्व सिद्ध होजाता है। भूपिण्ड अपने अक्ष पर घूमता हुआ इस स्वाक्षपरिभ्रमण से दैनंदिनगति का (अहोरात्र का) स्वरूप संपादन करता हुआ, सूर्य के चारों ओर अपने नियत क्रान्तिवृत्त पर घूमता हुआ संवत्सरगति (वार्षिक गति) का अधिष्ठाता बन रहा है। प्रबलवेग से घूमते हुए भूपिण्ड के साथ सहस्रांशु सूर्य के अग्नि का सम्बन्ध होता रहता है। इस सौर अग्नि के ताप से पार्थिव वाङ्मय अत्रिप्राण (पार्थिववाङ्मय अङ्गिरस) द्रुत होता रहता है। पिघला हुआ यह अत्रिप्राण भूपिण्ड के साथ साथ ही भूपिण्ड से संलग्न रहता हुआ घूमता रहता है । ऐसी तीन परिक्रमाओं के अनन्तर वह द्रुत अत्रिप्राण (अङ्गिरस) सोमरूप में परिणत होजाता है। सौर अग्नि से परितप्यमान यह सोमभाग अत्रिनेत्र से वह कर घनीभूत होता हुआ चन्द्रपिण्डरूप में परिणत होजाता है।

बात यह है कि अत्रिशरीर का जितना अंश सोमरूप में परिणत होजाता है, वह उस पार्थिव वाङ्मय, अतएव घन अत्रि की अपेक्षा हलका बन जाता है। हलका बनते ही वह पार्थिव अत्रि से पृथक् होकर चारो ओर दिशाओं में ऋतरूप से व्याप्त होता हुआ पृथिवी की ओर ही अनुगत होने लगता है। अन्तरिक्ष में हिरण्यगर्भ ब्रह्मा नाम से प्रसिद्ध वायु चन्द्रकला धरातल पर (वायु में इतस्ततः) व्याप्त सोमपरमाणुओं को एककालावच्छेदेन समेट कर उन्हें पुञ्जीभूत बना डालता है। वायु का यह पिण्डसम्पादनव्यापार पृथिवी की २१ परिक्रमा पर समाप्त होता है। अर्थात् भूपिण्ड के चारों ओर घूमते हुए सोमपरमाणु क्रमशः घन होते होते वायुव्यापार से पृथिवी के २१ परिक्रमण के अनन्तर दृश्यमान चन्द्रपिण्डरूप में परि-

णत होते हैं। वही पिण्ड पृथिवी के चारों ओर सुधातल में घूमता हुआ दिखलाई दे रहा है। दिन में सूर्यकिरणों द्वारा पार्थिव पानी वाष्परूप में परिणत होकर अन्तरिक्ष धरातल में व्याप्त होजाते हैं, वही पानी रात्रि में सूर्य के अभाव से फिर पृथिवी की ओर (ओस रूप से) गिरने लगते हैं। यही अवस्था सोम के सम्बन्ध में समझिए। सोम अन्तरिक्ष में जाकर पुनः पृथिवी पर गिरना चाहता है, परन्तु यज्ञवराह नाम से प्रसिद्ध उसी वायु से (देखिए ई०द्वि०खं०अव्य-क्तात्माधिकरण७४पृ.)वेष्टित होकर पिण्डरूप में परिणत होता हुआ निगृहीत होजाता है। जिस प्रकार आकाश में इतस्ततः व्याप्त केतु (अग्निपुञ्ज) क्रमशः पिण्डीभूत बनकर सूर्यरूप में परि-णत हुए हैं-(देखिए ई०द्वि०खं० २३३पृ.), एवमेव इतस्ततः फैले हुए पार्थिव सोम खण्ड ही क्रमशः पिण्डीभूत होकर चन्द्ररूप में परिणत हुए हैं। इसी चन्द्रोत्पत्ति रहस्य को लक्ष्य में रख कर पुराण कहता है—

पिता सोमस्य वै विप्रा जज्ञेऽत्रिर्भगवानृषिः।
काष्ठकुड्यशिलाभूत ऊर्ध्वबाहुर्महाद्युतिः ॥१॥
सुदुश्चरं नाम तपो येन तप्तं महत् पुरा।
त्रीणि वर्षसहस्राणि दिव्यानीति ह नः श्रुतम् ॥२॥
तस्योर्ध्वरेतसस्तत्र स्थितस्यानिमिषस्य हि।
सोमत्त्वं तनुरापेदे महाबुद्धिः स वै द्विजः ॥३॥
ऊर्ध्वमाचक्रमे तस्य सोमत्त्वं भावितात्मनः।
नेत्राभ्यामस्रवत् सोमो दशधा द्योतयन् दिशः ॥४॥
यदा न धारणे शक्तास्तस्य गर्भस्य ता दिशः।
ततः सहाभिः शीतांशुर्निपपात वसुन्धराम् ॥५॥
पतन्तं सोममालोक्य ब्रह्मा लोकपितामहः।
रथमारोपयामास लोकानां हितकाम्यया ॥६॥

गायत्रपुरुषपरिलेख

अक्षरा वै गायत्री-ईश्वरपुरुषो गायत्रः-जीवपुरुषो गायत्रः





१–	१–रसः (सत्) २–बलम् (असत्)	→ परात्परः	→ परात्परः
२–	१–अमृतम् (विद्या) २–मृत्युः (कर्म)	→ षोडशीपुरुषः	→ षोडशीपुरुषः
३–	१–स्थितिः (अनिरुक्तः) २–गतिः (निरुक्तः)	→ स्वयम्भूः	→ अव्यक्तात्मा
४–	१–स्नेहः (रयिः) २–तेजः (प्राणः)	→ परमेष्ठी	→ महानात्मा
५–	१–विद्या (ज्योतिः) २–अविद्या (तमः)	→ सूर्य्यः	→ विज्ञानात्मा
६–	१–संभूतिः (उत्पत्तिः) २–विनाशः (लयः)	→ चन्द्रमाः	→ प्रज्ञानात्मा
७–	१–ज्ञानम् (ब्रह्म) २–अर्थः (कर्म)	→ साक्षीसुपर्णः	→ भोक्तासुपर्णः
८–	१–देवताः (अमूर्त्तम्) २–भूतानि (मूर्त्तम्)	→ भूपिण्डम्	→ शरीरम्

स तेन रथमुख्येन सागरान्तां वसुन्धराम् ।
त्रिःसप्तकृत्वोऽतियशाश्चकाराभिप्रदक्षिणाम् ॥७॥
तस्य यद्‌द्रवितं तेजः पृथिवीमन्वपद्यत ।
ओषध्यस्ताः समुद्भूतास्तेजसा ज्वलयंस्तु ॥८॥
ताभिः पुष्णात्ययं लोकान् प्रजाश्चापि चतुर्विधाः ।
पोष्टा हि भगवान् सोमो जगतो हि द्विजोत्तमाः ॥९॥
ततस्तस्मै ददौ राज्यं ब्रह्मा ब्रह्मविदां वरः ।
बीजौषधीनां विप्राणामपां च द्विजसत्तमाः ॥१०॥

[ब्रह्माण्डोपोद्घात]

"हे ब्राह्मणो ! एक बार सोम के पिता भगवान् अत्रि महर्षिनें यज्ञ किया । (यज्ञसिद्धि के लिए) पुरायुग में (चन्द्रसृष्टि के आरम्भकाल में) महातेजस्वी अत्रि महर्षिनें अपने हाथों को ऊंचाकर, शरीर से स्थिर पाषाण की प्रतिमा समान बनकर 'सुदुश्चर' नाम का बड़ा उग्र तप किया । हमनें सुना है कि तीन हजार दिव्य वर्ष पर्यन्त लों अत्रिनें वह उग्र तप किया । सर्वथा निश्चेष्ट एकाग्र रूप से स्थित ऊर्ध्वरेता उन अत्रि महर्षि का शरीर महाबुद्धिशाली ब्राह्मण सोमरूप में परिणत होगया । सोम की भावना करनें वाले अत्रि महर्षि का वह सोम ऊपर की ओर उठा, नेत्रों से सोमरस वह निकला, इसनें दसों दिशाओं को प्रकाशित कर दिया । जब दिशाएं उस गर्भीभूत सोम को धारण करनें में समर्थ न होसकीं तो वह शीतांशु सोम पृथिवी की ओर गिरने लगा । सोम को पृथिवी कीओर गिरता हुआ देखकर ब्रह्मानें उसे लोककल्याण के लिए अपने रथ में बैठा लिया । रथ में बैठा कर ब्रह्मानें २१ वार उसे भूपिण्ड की परिक्रमा करवाई । गिरते हुए सोम का जो प्रवृद्ध भाग पृथिवी में गिर गया, उससे ओषधिएं उत्पन्न हुईं । इन्हीं ओषधियों से चन्द्रमा चतुर्विध प्रजा का पोषण करता है । हे द्विजश्रेष्ठो ! भगवान् सोम जगत् के पोष्टा हैं । वेदविदों में श्रेष्ठ ब्रह्मानें चन्द्रमा को राज्य का अधिष्ठाता बनाया, ओषधि और ब्राह्मणों का अधिपति बनाया—'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' ।

उक्त आख्यान समानरूप से आधिदैविक (प्राकृतिक) एवं आधिभौतिक (ऐतिहासिक) चरित्र का निरूपण करता है। भौम ब्रह्माने अत्रि महर्षि के पुत्र चन्द्रमा का राज्याभिषेक कर इन्हें उत्तरदिशा का दिक्पाल बनाया था, एवं सोम और ब्राह्मणों का लोकपाल बनाया था। आगे जाकर गुरुपत्नी तारा के अपहरण से भ्रष्टमति चन्द्रमा की उदासीनता से असुरों द्वारा यज्ञसाधक सोमवृक्ष [सोमवल्ली] का समूल विनाश हुआ। इसप्रकार गन्धर्वनगराधिष्ठाता चन्द्रमा की कृपा से भौमदेववर्ग सदा के लिए उच्छिन्न होगया। इसीलिए असुरसम्प्रदाय वाले आज भी अपने धार्मिक कृत्यों में चन्द्रमा को ही प्रधानता देते हैं।

इसी प्रकार महाभारत में भी चन्द्ररूप में परिणत अत्रि द्वारा ही अन्धकार की निवृत्ति मानी गई है, जैसा कि बादरायण कहते हैं—

इत्युक्तस्त्वर्जुनस्तूष्णीमभूद्वायुस्तमब्रवीत्।
शृणु मे हैहयश्रेष्ठ ! कर्म्मात्रेः सुमहात्मनः ॥ १ ॥
घोरे तमस्ययुध्यन्त संहिता देवदानवाः।
अविध्यत शरैस्तत्र स्वर्भानुः सोमभास्करौ ॥ २ ॥
अथ ते तमसा ग्रस्ता निहन्यन्तेस्म दानवैः।
देवा नृपतिशार्दूल ! सहैव बलिभिस्तदा ॥ ३ ॥
असुरैर्वध्यमानास्ते क्षीयमाणा दिवौकसः।
अपश्यन्त तपस्यन्तमत्रिं विप्रं तपोधनम् ॥ ४ ॥
अथैनमब्रुवन् देवाः शान्तमोधं जितेन्द्रियम्।
असुरैरिषुभिर्विद्धौ चन्द्रादित्याविमावुभौ ॥ ५ ॥
वयं वध्यामहे चापि शत्रुभिस्तमसावृते।
नाधिगच्छाम शान्तिं च भयात्त्रायस्व नः प्रभो ॥ ६ ॥

अत्रिरुवाच

कथं रक्षामि भवतस्तेऽब्रुवश्चन्द्रमा भव ।
तिमिरघ्नश्च सविता दस्युहन्ता च नो भव ॥ ७ ॥
एवमुक्तस्तदात्रिर्वै तमोनुदभवच्छशी ॥
अपश्यत सौम्यभावाच्च सोमवत् प्रियदर्शनः ॥ ८ ॥
दृष्ट्वा नातिप्रभं सोमं तथा सूर्यं च पार्थिव ।
प्रकाशमकरोदत्रिस्तपसा स्वेन संयुगे ॥ ९ ॥
जगद्वितिमिरं चापि प्रदीप्तमकरोत्तदा ॥ १० ॥

[महाभारत अनु. पर्व. १५७ अ.] ।

"यह सुनकर अर्जुन चुप होगया। वायु नें (पुन) कहा कि हे हैहयवंश में श्रेष्ठ! तुम (अब) महात्माओं में सुप्रसिद्ध अत्रि का कर्म (चरित्र) सुनो। (एकबार) घोर अन्धकार में देव-दानव (देवता और असुर) एक स्थान पर सम्मिलित होकर युद्ध करनें लगे । (उस युद्ध में) स्वर्भानु नाम के राहु नें सैकड़ों तीरों से चन्द्रमा और सूर्य का शरीर चलनी बना डाला। हे राजाओं में श्रेष्ठ! इस प्रकार उन महा बलवान् दानवो से पीड़ित वे देवता उस घोर अंधकार से घिर गए । उस समय असुरों से संत्रस्त वे देवता सर्वथा जर्ज्जरित होगए। (उसी अवसर में) उन क्षीणकाय देवताओं नें (एक स्थान पर) तपस्वी अत्रि को तप करते हुए देखा। सर्वथा शांतमूर्त्ति एवं जितेन्द्रिय अत्रि से देवता (विनय पूर्वक) कहनें लगे कि (हे महर्षे!) इस युद्ध में सूर्य और चन्द्रमा असुरों द्वारा तीरों से बींध डाले गए हैं । (आज हम सचमुच) इस घोर अन्धकार में इन शत्रुओं से मारे जायगे। हमें इस समय जरा भी शान्ति नहीं है। हे प्रभो! आप (ही इस समय) इस भय से हमारी रक्षा कीजिए। (देवताओं की यह कातर प्रार्थना सुन कर) अत्रि कहनें लगे—हे देवताओ! तुम्हीं बतलाओ, मैं किस उपाय से तुम्हारी रक्षा करू? देवता कहने लगे, हे महर्षे! आप चन्द्रमा बन जाइए, एवं अंधकार का नाश करनें वाले सूर्य

बन जाइए। इस प्रकार सूर्य चन्द्रमा बन कर आप इन दस्युओं के नाश का कारण बनिए। देवताओं से यह सुनकर अत्रि (तत्काल) अन्धकार दूर करने वाले चन्द्रमा बन गए। एक सोम्यभाववत् सुन्दर बच्चे की तरह दीखने में सुन्दर उस चन्द्रमा को अत्रि ने देखा। हे राजन्! उस चन्द्रमा और सूर्य को अधिक प्रकाशयुक्त न देख कर उस युद्ध में अपने तपोबल से अत्रि ने उन दोनों में अधिक प्रकाश कर दिया। इस प्रकार अत्रि ने अपने तपोबल से संसार को अन्धकार शून्य कर दिया, सर्वत्र उजाला कर दिया"।

इतिहास के साथ साथ उक्त पौराणिक आख्यान में गहन विज्ञान भी छिपा हुआ है, जिसका कि निरूपण विस्तार भय से प्रकृत में नहीं किया जासकता। इन पौराणिक आख्यानों के मूल श्रौत आख्यान हीं हैं। प्रायः इसी से मिलता जुलता आख्यान स्वयं संहिता में, एवं ब्राह्मणों में भी उपलब्ध होता है। देखिए—

१-यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः।
अक्षेत्रविद्यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयुः॥
२-स्वर्भानोरधयदिन्द्र माया अवो दिवो वर्त्तमाना अवाहन्।
गूळ्हं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः॥
३-ग्राव्णो ब्रह्मा युयुजानः सपर्यन् कीरिणा देवान्नमसोपशिक्षन्।
अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात् स्वर्भानोरपमाया अघुक्षत्॥
४-यं वै सूर्य्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः
अत्रयस्तमन्वविन्दन् नह्यन्ये अशक्नुवन्॥
(ऋक् सं० ५।४०।५-६-८-९)।

१-"स्वर्भानुर्हवाऽआसुरः सूर्यं तमसा विव्याध। स तमसा विद्धो न व्यरोचत, तस्य सोमारुद्रौ-एवैतत्तमोऽपाहताम्। सएषोऽपहतपाप्मा तपति"।
(शत० ५।३।२।१-२)।

इस प्रकार आर्यसाहित्य में चन्द्रमा की उत्पत्ति पार्थिव अग्नि से मानी गई है, एवं चन्द्रमा को सोम का पिण्ड, एवं पृथिवी का उपग्रह माना गया है। इधर वर्त्तमान विज्ञान के अनुसार चन्द्रमा किसी समय का एक स्वतन्त्र सूर्य है। पश्चिमी विद्वानों का कहना है कि—"किसी समय चन्द्रमा घोर उष्ण था, दूसरा सूर्य था। वह धीरे धीरे ठंडा होने लगा, कालान्तर में बाहर का स्तर ठंडा हो गया, गर्भ में अग्नि रह गया, इसी अवस्था का नाम पृथिवी हुआ। पृथिवी का वह भाग जो सर्वथा अग्निशून्य बनता हुआ पृथिवी की पकड़ से बाहर होकर पृथिवी के चारों ओर घूमने लगा, वही चन्द्रमा कहलाया"। अस्तु इन मतमतान्तरों से हमारा कोई प्रयोजन नहीं है। यह बात सर्वात्मना सिद्ध है कि चन्द्रमा पृथिवी के पीछे उत्पन्न हुआ है, एवं यह पृथिवी का उपग्रह है।

जब यह सिद्ध है कि चन्द्रमा सृष्टिक्रम में सब के अन्त में उत्पन्न होने वाला पर्व है तो ऐसी स्थिति में चन्द्रमा को विश्व की सम्भूति, एवं विनाश का कारण मानना कैसे संगत हो सकता है ? हम पार्थिव प्राणियों की उत्पत्ति-नाश का कारण तो फिर भी यथा कथंचित् चन्द्रमा माना जासकता है, परन्तु एकहेलया चन्द्रमा को सम्पूर्ण विश्व का उत्पत्ति-परायण मान बैठना, कैसे संगत हुआ ? उक्त प्रश्न का समाधान करें, इस से पहिले संक्षेप से संभूति, एवं विनाश शब्दों का अर्थ जान लेना आवश्यक होगा।

प्रकरण के आरम्भ में ही यह बतलाया गया है कि रस-बल के अवस्थातारतम्य से विश्व में विचित्र भाव उत्पन्न हो जाते हैं। रस और बल इन दोनों में रस प्रत्येक दशा में असंग रहता है, एवं बल रस की व्यापक अवस्था में असंग, एवं रस की परिच्छिन्न दशा में ससंग बन जाता है। रस की व्यापक एवं परिच्छिन्न दशाभेद से बल की चार अवस्थाएं होजाती हैं। वे ही चारों अवस्थाएं आविर्भाव, तिरोभाव, सम्भूति, विनाश इन नामों से प्रसिद्ध हैं। रस व्यापक है। इस व्यापक रससमुद्र में असंख्य बल उदित होते रहते हैं, एवं अस्त होते रहते हैं। रस की व्यापकता के कारण इन ससंगधर्मा बलों को परस्पर में ग्रन्थिबंधन करने का अवसर नहीं मिलता। अपि तु जिस प्रकार एक असीम समुद्र में लहरें उठती रहती हैं, एवं

बैठती रहती है, इसी प्रकार उच्चावचभावापन्न बल उस रसधरातल में सञ्चर सम्बन्ध से-ठीक लहरों के समान उदित होते रहते हैं, एवं अस्त होते रहते हैं। बलों का यह सम्बन्ध असंगस-म्बन्ध है। आविर्भाव-तिरोभाव,उदय-अस्त यही इस सम्बन्ध का स्वरूप है। बलों का ऐसा सम्बन्ध संश्लिष्टलक्षण-हृदयग्रन्थिमूलक सृष्टिसम्बन्ध से सर्वथा बहिर्भूत है। आगे जाकर माया की कृपा से रस परिच्छिन्न हो जाता है। इस परिच्छेदभाव के कारण हृदयबल उत्पन्न हो जाता है। हृदयबल से सर्वप्रथम 'सत्तारस' का उदय होता है। पुरुषात्माधिकरण की पुरुष-निरुक्ति में यह विस्तार से बतलाया जाचुका है कि बल की चिति से एक ही रसतत्त्व आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक् भेद से पञ्चकोशरूप में परिणत हो जाता है—(देखिए-ई. भा.द्वि.खं.२६५से२८५पृ.)। इनमें मन-प्राण-वाक् की समष्टि ही सत्तारस है। इसी सत्ता-रस का नाम 'अस्तित्व' है। यही सत्तारस सम्भूति का कारण है। यदि बल हृद्ग्रन्थिसम्बन्ध से सत्तारस के उदर में आजाते हैं तो उस सत्तायुक्त बलसमुच्चय में अपूर्व नाम-रूप-कर्म का उदय हो जाता है। बस सत्तारस के ग्रन्थिबंधन सम्बन्ध में बलों का अपूर्व नाम-रूप धारण कर लेना ही बल की 'सम्भूति' है। एवं ग्रन्थिबंधन के टूट जाने से उस बलसंघात का सत्तारस से पृथक् होते हुए नाम रूप का परित्याग कर देना ही 'विनाश' है।

सत्तार्थक भू धातु से सम्भूति शब्द निष्पन्न हुआ है। 'अयं घटोऽस्ति' घट पदार्थ का यह सत्तालक्षण निर्वचन है। मिट्टी में जो मनप्राणवाङ्मय सत्तारस था, उसे लेकर आज घट सम्भूति का अधिष्ठाता बन रहा है। जिस दिन घट में से मिट्टी की सत्ता निकल जायगी, उस दिन घट अपने नामरूप का परित्याग कर देगा। यही घट का विनाशकाल होगा। बलों पर सत्तारस का अनुग्रह भी दो प्रकार से होता है। आप पृथिवीतल पर प्रतिष्ठित हैं। पृथिवी की धृतिलक्षणा सत्ता ने आपको पकड़ रक्खा है। यदि क्षणमात्र के लिए भी इस पार्थिव सत्ता से आपका वियोग हो जाता है तो आत्मा भयाक्रान्त हो जाता है। आप मार्ग में जा रहे हैं। बिन्दु बिन्दु पर पार्थिव सत्ता आपकी अनुग्राहिका बन रही है। चलते चलते आपकी दृष्टि किसी

सुन्दर दृश्य पर जाती है। उसे देखने में आप इतने तल्लीन हो जाते हैं कि आपको मार्ग में आने वाले गर्त (गड्ढे) का ध्यान नहीं रहता। अकस्मात् पैर फिसल जाता है। उसी समय आत्मा में एक प्रकार का कम्प हो पड़ता है। यह कम्प और कुछ नहीं, केवल क्षणमात्र के लिए पृथिवी की प्रतिष्ठारूपा सत्ता का वियोग है। यदि जानबूझ कर सावधानी से आप तीन फिट के गहरे गर्त में भी पांव रख देते हैं तो भय नहीं होता, कारण इस समय आप का लक्ष्य उस सत्ता पर रहता है। परन्तु अज्ञात दशा में यदि आपका पैर फुटपाथ से सड़क पर भी गिर जाता है तो आत्मा कम्पित हो जाता है, क्योंकि वहां आपकी दृष्टि सत्ता पर नहीं रहती। इस निदर्शन से बतलाना यही है कि हमारे पर पृथिवी की सत्ता का अनुग्रह रहता है। हम पार्थिव-सत्ता के गर्भ में प्रतिष्ठित रहते हैं। एक मिट्टी के ढेले को आप कितना ही ऊंचा फेंकिए, उसी पार्थिवसत्ता के आकर्षण से वह तत्काल नीचे आ जायगा। इस प्रकार तत्तल्लोक की तत्तत्प्रजाओं पर तत्तल्लोकों की प्रतिष्ठात्मिका सत्ता का अनुग्रह रहता है। परन्तु इस सत्तारस का हमारे साथ ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध नहीं है, अपितु विभूतिसम्बन्ध है। इस सत्ता से हमारे में किसी अपूर्व नाम-रूप का उदय नहीं होता, केवल स्वरूपरक्षा होती है, अतएव इस सत्तारस के अनुग्रह को हम सम्भूति न कहकर 'विभूति' ही कहेंगे। कुछ मिट्टी का हिस्सा शरीररूप में परिणत हो गया है। हमारा शरीर पार्थिव है। पृथिवी की सत्ता ही ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध से अपूर्व नाम-रूपोदय की जननी बनती हुई हमारी (शरीर की) सम्भूति का कारण बनी है। हृदय एक नियत बिन्दु है। इस एकमात्रात्मिका हृदयबिन्दु के साथ पार्थिव सत्ता का जब ग्रन्थिबन्धन हो जाता है, तभी अपूर्वभाव का उदय होता है। इसी अभिप्राय से इस अपूर्वावस्था को 'सम्भूति' कहा है। 'समित्येकीभावे' इस नैगमिक सिद्धान्त के अनुसार 'सम्' एकीभाव का सूचक है, 'भूति' सत्ताभाव का द्योतक है। ऐसी भूति (सत्ता), जो ग्रन्थिबन्धन द्वारा बलसमष्टि के साथ एकीभाव को प्राप्त हो जाय, वही 'सम्भूति' है। भूति का एकीभाव से पृथक् हो जाना ही बल का विनाश है। बल नष्ट नहीं होता, ग्रन्थिबन्धन से बल की उत्पत्ति मान ली जाती है, एवं ग्रन्थिविमोकावस्था ही बल का विनाश मान

लिया जाता है। जो बलसंघात ग्रन्थिबन्धन से युक्त सत्तारस से अपूर्व नाम-रूप धारण करता हुआ प्रकट हुआ था, वही ग्रन्थिबन्धन के टूट जाने से आज उसी सत्ता के गर्भ में विलीन हो रहा है। सत्तारस को अपने केन्द्र में रख लेना, दूसरे शब्दों में सत्ता को अपने उदर में रख लेना बल की सम्भूति है, एवं बल का सत्ता के गर्भ में चला जाना बल का विनाश माना जाता है। सत्ता नीचे है, बल ऊंचा है, बल का 'उत्-अयन' (सत्ता के ऊपर गमन) है, यही उदयावस्था है, यही सम्भूति है। उत्-अयन टूट गया, बल सत्ता के उदर में लीन हो गया, यही विनाशावस्था है। इसी रहस्य को समझाने के लिए उत्पत्तिलक्षणा सम्भूति के लिए जहां ऋषियों ने 'सृष्टि' शब्द प्रयुक्त किया है, वहां विनाश के लिए 'प्रलय' शब्द प्रयुक्त किया है। बलों का लयभाव ही इन का विनाश है, उदयभाव ही इनकी उत्पत्ति है। सम्भूति में बलप्रधान है, विनाश में रसप्रधान है। दूसरे शब्दों में सम्भूति में सत्ता बल की अनुगामिनी बन रही है। विनाश में बल सत्ता का अनुगामी बन रहा है। बंधन सम्भूति है, बंधनविमोक विनाश है। एक ही तत्व की अवस्था विशेष सम्भूति है, अवस्थाविशेष विनाश है, परमार्थतः न सम्भूति है, न विनाश है—'न जायते म्रियते वा कदाचित्'।

सम्भूति एवं विनाश का संक्षिप्त स्वरूप बतलाया गया, अब उक्त प्रश्न का विवेचन किया जाता है। यह प्रकरण सम्भूति-विनाशात्मक चन्द्रमा का निरूपण करता है। सम्पूर्ण विश्व चन्द्रमा से ही उत्पन्न होता है, एवं चन्द्रमा ही विश्वविनाश का कारण है। इस पर पूर्वपक्ष यह हुआ था कि विश्वपर्वों के अन्त में पृथिवी से उत्पन्न होने वाला चन्द्रमा सम्पूर्ण विश्व की सम्भूति एवं विनाश का कारण कैसे माना जासकता है? इस प्रश्न के समाधान के लिए थोड़ी देर के लिए हमें यज्ञपुरुष की शरण में चलना होगा। पूर्व के विद्याविद्याधिकरण में यज्ञाविकर्म का स्वरूप बतलाते हुए यज्ञपदार्थ का स्वरूप बतलाया गया है—(देखिए ई० वि० २ खं० २६३–३०२)। अग्नि में सोम की आहुति होने से अग्निसोम के समन्वय से जो एक अपूर्वभाव उत्पन्न होता है, उसी का नाम यज्ञ है। इसी यज्ञ से विश्व में रहने वाली प्रजा

उत्पन्न होती है। इधर हम सत्तारस से युक्त बलसंघात को सम्भूति का कारण बतला रहे हैं। दोनों विरुद्ध भावों का समन्वय कीजिए। मनप्राणवाङ्मूर्तिरस सत्ता है, यह विज्ञानरूप चित्, एवं आनन्द से अविनाभूत है। रसमूर्ति पञ्चकल, किंवा त्रिकल सच्चिदानंद ब्रह्म ही अव्यय है। अक्षर एवं आत्मक्षर नाम से प्रसिद्ध इस अव्यय की दो अन्तरंग प्रकृतिएं हैं। यह उस पुरुष की स्वभावभूता हैं, अतएव उस से अविनाभूत हैं। रसप्रधान, अतएव रसमूर्ति अन्तरंगप्रकृतिविशिष्ट पुरुष ही 'षोडशीप्रजापति' है। यद्यपि सम्भूति का कारण सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है, तथापि सत्ताभाग को ही प्रधान माना गया है। आनन्द और विज्ञान (चित) भी सम्भूति के कारण हैं,किन्तु गौणरूप से। आनन्द विज्ञान उस अव्यय ब्रह्म का मुक्तिसाक्षी भाग है। मन–प्राण–वाङ्मय सत्ताभाग सृष्टिसाक्षी है। मुक्ति में यह गौण है, वह प्रधान है। सृष्टि में यह प्रधान है, वह गौण है। इसी अभिप्राय से मन–प्राण–वाक् की समष्टिरूप सत्तारस के समन्वय–असमन्वय को ही संभूति एवं विनाश का कारण बतलाया गया है। मन से कामना का उदय होता है, प्राणव्यापार उसका तप है, वाग्व्यापार श्रम है। काम–तप–श्रम ही सृष्टि के साधारण अनुबन्ध हैं–(ई०भा०२खं०३१०पृ०)। वह सत्ताघन प्रजापति अक्षरमय है, अक्षर वेदमूर्त्ति है, वेद का यजुर्भाग ब्रह्माग्नि है। ऐसी दशा में सत्तारसरूप वेदमूर्त्ति षोडशी प्रजापति को अवश्य ही 'अग्नि' (वेदाग्निमूर्त्ति) कहा जासकता है। पुरुष साक्षात् 'अग्नि' है—"पुरुषो वा अग्निः" (शत० १४।८।१।११)–"ब्रह्म वा अग्निः" (कौ०६।५)–"आत्मा वा अग्निः" (शत० ७।३।१।२)।

इस पुरुषाग्नि में बलप्रधाना पञ्चधा विभक्त प्रकृति की आहुति होती है। यह आहूयमाना प्रकृति ही 'सोम' है। 'सुतो भवति' 'सूयतेऽग्नौ' 'अभिषुतो भवति' इत्यादि निर्वचनों के अनुसार अग्नि में आहुत होने वाला पदार्थ ही 'सोम' है। यह सोम अग्नि में आहुत होकर अग्नि को प्रदीप्त करता हुआ, स्वयमपि रश्मिप्रसार करता हुआ प्रदीप्त होजाता है, अतएव सोम को 'चन्द्रमा' शब्द से व्यवहृत कर दिया जाता है। आप अन्तरिक्ष में चन्द्रिकामय जो पिण्ड देखते हैं उसी का नाम चन्द्रमा नहीं है। अपितु चन्द्रमा सोमतत्त्व है, चन्द्रमा शब्द सोमतत्त्व का

वाचक है, सोमतत्त्व आहुतिद्रव्य का वाचक है। इस सामान्य परिभाषा के अनुसार आहुत होनें वाले जितनें भी पदार्थ हैं, सब सोम हैं। एवं जिन पदार्थों में इन सोमरूप पदार्थों की आहुति होती है, वे सब पदार्थ 'अन्नाद' बनते हुए अग्नि हैं। पुरुषप्रजापति में रस की प्रधानता है, प्राण-आप-वागादि पाचों प्रकृतियों में बल की प्रधानता है। वह रस है, यह बल है। वह भोक्ता (अन्नाद) बनता हुआ पूर्वकथनानुसार साक्षात् अग्नि है, यह भोग्य (अन्न) बनता हुआ साक्षात् सोम है। इस की उसमें आहुति होती है, रसबलात्मक अग्नीषोममूर्ति पुरुषप्रकृति का समन्वय होता है, इसी यज्ञ से विश्व सम्भूत हुआ है। सारा विश्व सोमरूप प्रकृति की पुरुष में आहुति होनें से ही उत्पन्न हुआ है। अग्नि में पुरुष की प्रधानता रहती है, दूसरे शब्दों में रस की प्रधानता रहती है, अतएव पुरुष (मनुष्य) को आग्नेय बतलाया जाता है। सोम में प्रकृति की, दूसरे शब्दों में बलतत्त्व की प्रधानता रहती है, अतएव स्त्री को सौम्या कहा जाता है। पुरुष-प्रकृति, रस-बल, अग्नि-सोम सब अभिन्नार्थक हैं। प्रकृति-पुरुष का समन्वय, रस-बल का समन्वय, अग्नि-सोम का समन्वय, एवं असमन्वय ही सम्भूति विनाश का कारण है। इसी रहस्य को सामनें रखते हुए हम कह सकते हैं कि चन्द्रमा (सोम-प्रकृति) ही सम्पूर्ण विश्व की सम्भूति एवं विनाश का अधिष्ठाता है।

अपेक्षया सभी सोम हैं, सभी अग्नि हैं। हम यदि अन्य पदार्थों के प्रवर्ग्यांशों को लेकर उन्हें अपनें शरीर अग्नि में आहुत करते हुए उन आहुत पदार्थों की अपेक्षा अन्नाद (अग्नि) हैं तो अन्य पदार्थों के लिए हम अन्न (सोम) भी हैं। हमारा रस सूर्य ले रहा है, सूर्य का रस हम ले रहे हैं। हम सूर्य से उत्पन्न हुए हैं। उस के पदार्थों को जहां हम खा रहे हैं, वह हमारे धातुओं का आदान करता हुआ आदित्य बन रहा है। इसी प्रकार प्रजा में भी एक प्रजा दूसरी प्रजा के प्रवर्ग्यांशों को लेती देती रहती है। सर्वत्र आदान विसर्गात्मक अन्नान्नादयज्ञ व्याप्त है। सभी अन्न हैं, सभी सोम हैं। सभी अग्नि हैं, सभी अन्नाद हैं—"अन्नाद एवाग्निरभवदन्नं सोमः। अन्नादश्च वा इदं सर्वमन्नं च" (शत० ११।१।६।१९)। इसी व्यापक अन्न-अन्नादभाव का निरूपण करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य नाम ।
यो मा ददाति स इ देवमावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ।।

यह तो हुई शास्त्रदृष्टि। अब प्रयत्नदृष्टि से सोम की सम्भूति विनाश का विचार कीजिए। संभूति (सृष्टि) आत्मा–प्रकृति–विकृति इन तीन भागों में विभक्त है। आत्मसृष्टि–प्रकृतिसृष्टि–विकृतिसृष्टि भेद से सम्भूतिरूपा सृष्टि के तीन विवर्त हैं। इन तीनों ही सृष्टियों का अधिष्ठाता सोमतत्व है। महदात्माधिकरण में यह विस्तार से बतलाया जा चुका है कि सोममूर्त्ति महान् में ही षोडशी आत्मा गर्भ धारण करता है–'मम योनिर्महद्ब्रह्म'। आत्मविकासभूमि एकमात्र महत्सोम (पारमेष्ठ्य सोम) ही है। प्रकृति ब्रह्म से विश्व का निर्माण हुआ है, परन्तु अप्तत्व की आहुति से। अप्तत्व साक्षात् सोम है। इस प्रकार प्रकृति का प्रकृतित्वरूप सृष्टिकर्तृत्व भी सोमसम्बन्ध पर ही निर्भर है। इसी सोमाहुति से सूर्य का विकास हुआ है, इसी सोम से परमेष्ठी का विकास हुआ है, यही सोम अव्यक्त पुण्डीर स्वयम्भू का जनक है। इसी सोमाहुति से भूपिण्ड निष्पन्न हुआ है। इसी सोम का प्रवृत्त अंश चन्द्रमा है। इस प्रकार आगे जाकर चन्द्रमा नाम धारण करने वाला सोम ही सम्पूर्ण विश्व की सम्भूति का कारण बन जाता है। सोम की इसी सम्भूतिलक्षणा विभूति का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है–

१– महत्तत् सोमो महिषश्चकारापां यद्गर्भोऽवृणीत देवान् ।
अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत् सूर्यंज्योतिरिन्दुः ।। [ऋक्. ९।९७।४१]।

२– अक्रान्त्समुद्रः प्रथमे विधर्मञ्जनयत् प्रजा भुवनस्य राजा ।
वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहत्सोमो वावृधे सुवान इन्दुः ।। [ऋ.९।९७।४०]।

३– पवित्रेभिः पवमानो नृचक्षा राजा देवानामुत मर्त्यानाम् ।
द्विता भुवद्रयिपती रयीणामृतं भरत् सुभृतं चार्विन्दुः ।। [ऋ. ९।९७।२४]।

४- एष विश्ववित् पवते मनीषी सोमो विश्वस्य भुवनस्य राजा ।
द्रप्सां ईरयन् विदथेष्विन्दुर्वि वारमव्य समयाति याति ॥ (ऋ. ९।९७।५६)।

५- या ते धामानि दिवि या पृथिव्यां या पर्वतेष्वोषधीष्वप्सु ।
तेभिर्नो विश्वैः सुमना अहेळन्राजन्त्सोम प्रति हव्या गृभाय (ऋ. १।९१।४)।

६- त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गा· ।
त्वमा ततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ॥ (ऋ १।९१।२२)।

१- (महानात्मा का स्वरूप सम्पादन करनें के कारण)-महिष-(महान् नाम से प्रसिद्ध) सोम नें यह महद् कर्म (बडा भारी कर्म्म) किया है, जो कि पानी के गर्भ बने हुए देवताओं का (सौर देवताओं का) वरण कर लिया है। (आपोमय परमेष्ठी मण्डल में प्रतिष्ठित अपृतत्व की विलासस्वरूप सोम की आहुति से ही ज्योतिर्म्मय सौर देवताओं का विकास हुआ है, इसी अभिप्राय से "अपां यद्गर्भोऽवृणीत देवान्" यह कहा है)। (दूषित भाग को निकालनें के कारण) पवमान [नाम से प्रसिद्ध इसी पारमेष्ठ्य ब्रह्मणस्पति सोम] नें इन्द्र (सौर अमृतप्राण) में ओज [बलप्रद वीर्य्य] स्थापित किया है-[तभी तो "या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्म्मैव तत्" यह कहा जाता है)। इसी इन्दु (सोम) नें सूर्य्य में ज्योति (प्रकाश) उत्पन्न की है। "त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ" इस ऋक्सिद्धान्त के अनुसार दाह्य पारमेष्ठ्य सोम की दाहक सौर सावित्राग्नि में निरन्तर आहुति होती रहती है। इसी सोमाहुति से सौर मण्डल में प्रकाश होरहा है। "आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानः" इस यजु श्रुति के अनुसार सूर्य्य, किंवा सौर अग्नि भी स्वस्वरूप से घोर कृष्ण [काला] है, एवं "ब्रह्मा कृष्णश्च नोऽवतु-चन्द्रमा वै ब्रह्मा-कृष्णः" इस मन्त्र-ब्राह्मण श्रुति के अनुसार चन्द्रमा (सोम) भी घोर कृष्ण है। न अग्नि में प्रकाश है, न सोम में प्रकाश है। प्रकाश उत्पन्न होता है दोनों के समन्वय से। इस समन्वय में योनि स्थानीय अग्नि स्वस्थान पर प्रतिष्ठित रहता है। इस में रेतः

स्थानीय सोम की आहुति होती है। इसीलिए सोम को ही ज्योति का प्रवर्तक माना जाता है। यही नित्याग्निहोत्र है, यही जरामर्यसत्र है—"सूर्य्यो ह वा अग्निहोत्रम्" (शत.२का.२अ.।४ब्रा.।१कं.) ॥१॥

२– पानी की वर्षा करने के कारण समुद्र नाम से प्रसिद्ध यह सोम राजा इस विशाल अन्तरिक्ष में (त्रैलोक्य में अपनी आहुति से) प्रजा उत्पन्न करता हुआ सब का अतिक्रमण कर रहा है। तात्पर्य यही है कि छान्दोग्य उपनिषत् की **पञ्चाग्निविद्या** के अनुसार श्रद्धात्मक सोम ही क्रमशः श्रद्धा–सोम–वृष्टि (पानी)–अन्न–रेत रूप में परिणत होता हुआ क्रमशः द्यु–पर्जन्य–पृथिवी–पुरुष–योषित इन पांचों अग्नियों में आहुत होता हुआ "इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" इस सिद्धान्त के अनुसार अभिपूयमाण वर्षणशील यह प्रदीप्त सोम विशेषरूप से प्रजोत्पत्ति का कारण बनता है। प्रवृद्ध होता है ॥२॥

३– सूर्य्य की पवित्र रश्मियों से पवित्रतम बना हुआ, देवता मनुष्यादि प्रजाओं का अधिपति, सम्पूर्ण सम्पत्तियों का अधिष्ठाता यह सोम भलीभांति संगृहीत होता हुआ कल्याणप्रद सत्पमार्ग को धारण करता है ॥३॥

४– सर्वज्ञ, मनीषी, त्रैलोक्य का राजा यह सोम सर्वत्र व्याप्त होरहा है। यही कर्मों में अपनी शक्ति प्रदान करता है। यही सब का वेष्टन करता हुआ, कर्म सञ्चालन करता हुआ आगे चलता है ॥४॥ (शेष दोनों का अर्थ स्पष्ट है)।

पूर्व निरूपण से यह भलीभांति सिद्ध होजाता है कि वास्तव में सम्पूर्ण विश्व की सम्भूति एवं विनाश का कारण एकमात्र सोम ही है। सोम की इस व्याप्ति को लक्ष्य में रखिए एवं सुप्रसिद्ध सोम (चन्द्रपिण्ड) पर दृष्टि डालिए। उपनिषत् श्रुति को सामान्यरूप से सम्भूति और विनाश का स्वरूप बतलाना है, साथ ही में प्रज्ञानात्मा का भी निरूपण करना है, इधर प्रज्ञानात्मा का सम्बन्ध प्रत्यक्ष दृष्ट चन्द्रपिण्ड के साथ ही है, अतएव किसी विशेषभाव का उल्लेख न कर सा-

मान्य रूप से "सम्भूति च विनाशं च" इत्यादि कह दिया गया है । सोम सारे विश्व की सम्भूति एवं विनाश का कारण कैसे है ? इस का समाधान होगया । अब यही सोम हमारे आध्यात्मिक प्रपञ्च की सम्भूति एव विनाश का कारण कैसे बनता है ? इस प्रश्न के समाधान के लिए आपको उस व्यापक सोम ही के प्रत्यंशभूत सृष्टि के अन्तिम पर्वरूप, पृथिवी के उपग्रहभूत सुप्रसिद्ध चन्द्रपिण्ड को ही सामनें रखना पड़ेगा । इस चन्द्रपिण्ड से सम्बन्ध रखनें वाली सम्भूति सम्भूति एवं पुनःसम्भूति भेद से दो भागों में विभक्त है । हमारी प्राथमिक सम्भूति का कारण आधिदैविक चन्द्रमा है, एवं उत्तरोत्तर होनें वाली जन्मचक्ररूपा सम्भूति का कारण आध्यात्मिक चन्द्रमा है । प्रकृत अधिकरण प्रधानरूप से इसी आध्यात्मिक चन्द्रमा का निरूपण करता है । आधिदैविक चन्द्रमा हमारी प्राथमिक सम्भूति का कारण कैसे बनता है ? पहिले इसी प्रश्न का विचार कीजिए ।

"अग्नीषोमात्मकं जगत्" (जाबालोपनिषत्) इस श्रुति के अनुसार सम्पूर्ण जगत् (रोदसी त्रैलोक्य) अग्नीषोमात्मक है । सौरत्रिलोकी जंगम प्राणियों के सम्बन्ध से 'जगत्' नाम से प्रसिद्ध है । विश्व और जगत् शब्द परस्पर में पर्याय नहीं है । संयती-क्रन्दसी-रोदसी इन तीनों त्रैलोक्यों की समष्टि विश्व है, एव एकमात्र रोदसी त्रिलोकी जगत् है । यह जगत् सचमुच अग्नीषोममय है । जगत्स्वरूपसम्पादक अग्नि और सोम दोनों ही अनेक भागों में विभक्त हैं । परन्तु इतना ध्यान रखिए कि तेजन अग्नि का सामान्य लक्षण है, एवं स्नेहन सोम का सामान्य लक्षण है । एक की प्रतिष्ठा हृदय है, एक की प्रतिष्ठा परिधि है । अग्नितत्व केन्द्र में उक्थरूप से प्रतिष्ठित होता हुआ अर्करूप से निरन्तर परिधि की ओर जाया करता है, एवं सोमतत्व परिधि से निरन्तर केन्द्र की ओर आया करता है । अग्नि अपनें तेजनस्वभाव से उत्तरोत्तर विकसित होता जाता है । इसी विकसन से इस की अग्नि-यम-आदित्य यह तीन प्रधान अवस्थाएं हो जाती हैं । ठीक इसके विपरीत सोमतत्व अपनें स्नेहनस्वभाव से उत्तरोत्तर संकुचित होता जाता है । इसी संकोच से इस की आप-वायु-सोम यह तीन अवस्थाएं हो जाती हैं । अग्निमयी अङ्गिरा है । अङ्गिरा पिण्ड से निकलकर निरन्तर ऊपर की ओर

जाया करता है, विशकलन की पराकाष्ठा पर पहुंच ने से इसकी विकास क्रिया बंद हो जाती है। विकास की अन्तिम अवस्था पर पहुंचते ही अंगिरा की गति पलट जाती है। विरुद्धगतिभावापन्न अङ्गिरा ही भृगुरूप में परिणत होकर केन्द्र की ओर आने लगता है। केन्द्र की ओर आते आते जब भृगुत्रयी (आप–वायु–सोम) ठीक केन्द्रबिन्दु पर आ जाती है तो स्नेहलक्षणा क्रिया अवरुद्ध हो जाती है, तत्काल तीनों में संघर्ष हो जाता है। इस संघर्ष से अंगिरा का जन्म हो जाता है। दूसरे शब्दों मे केन्द्र में आकर भृगु ही अंगिरा रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार एक ही प्रजापतितत्व गति–आगति भेद से अग्नि (अङ्गिरा), सोम (भृगु) यह दो रूप धारण कर लेता है। जो अग्नि है, वही सोम है। जो सोम है, वही अग्नि है। अग्नि अग्नि है, सोम पानी है। अग्नि पराकाष्ठा पर पहुंचकर पानी बन जाता है, पानी उदग्राभ की चरमावस्था पहुंचकर अग्नि बन जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् में तेज–स्नेहलक्षण अग्नि–सोम का साम्राज्य है। इनमें तेजोरूप अग्नितत्व के अग्नि, यम, आदित्य, सार्वयाजुप, देव, ऋतु, सत्य, वैश्वानर, आहृत, प्रहृत, उद्धृत, धिष्ण्य आदि अवान्तर अनेक भेद हैं। सोम के भी अवान्तर अनेक भेद हैं। उन सब अवान्तर सोमों का १० जातियों में अन्तर्भाव माना जा सकता है। अग्नि–सोम के इसी वैजात्य से जगत् में वैजात्य उपलब्ध होता है। सोम की ये १० जातिएं निम्नलिखित नामों से प्रसिद्ध हैं।

१–अश्मा—(१–ध्रुवः, २–धर्त्रः, ३–धरुणः, ४–धर्मः)
२–असुरः—(१–वृत्रः, २–नमुचिः, ३–वलम, ४–जम्भः)
३–अन्नम्—(१–राजा, २–वाजः, ३–ग्रहः, ४–हविः)
४–आपः—(भृगवः–अंगिरसः)।
५–सहः—(अग्निप्रभवः)।
६–ओषधीः—(अग्निगर्भितः)।
७–अप्तुः—(अंशुः)
८–पवित्रम्—(ब्रह्मणस्पतिः)।
९–दिक्—(सर्वव्यापकः)।
१०–आत्मा—(महान्)।

अग्नि में सोम की आहुति से पुरुष उत्पन्न होता है। इस आहुतिकर्म का ही नाम यज्ञ है। अतएव हम कह सकते हैं कि पुरुष की सम्भूति का कारण यज्ञ ही है। 'पाङ्क्तो वै यज्ञः' के अनुसार यह पुरुषस्वरूप सम्पादक यज्ञ पञ्चावयव है। पुरुषयज्ञ से सम्बन्ध रखने वाले अग्नि के भी पांच ही पर्व हैं, एवं सोम के भी पांच ही पर्व हैं। दोनों की समष्टि दशाक्षर विराट् यज्ञ है। उस महाविराट् से इस क्षुद्रविराट् का जन्म होता है—"अर्द्धेन नारी तस्यां स विराडमसृजत् प्रभुः"। अग्नि पुरुष है, सोम स्त्री है। दोनों पतिपत्नियों के मिथुन से उस महाविराट् की सम्भूति हुई है, एवं उसी से क्षुद्रविराट् सम्भूत हुआ है। पुरुषरूप अग्नि के पांचों पर्व क्रमशः द्यु, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष, योषित् इन नामों से प्रसिद्ध हैं। एवं सोमतत्त्व के पांचों पर्व क्रमशः श्रद्धा, सोम, वर्षा, अन्न, रेत इन नामों से प्रसिद्ध हैं। दिव्यलोक का अग्नि पहिला अग्नि है, आन्तरिक्ष्य अग्नि दूसरा अग्नि है, पार्थिव अग्नि तीसरा अग्नि है, पुरुषाग्नि चौथा अग्नि है, योषिदग्नि पांचवां अग्नि है। पार्थिव अग्नि प्राणाग्नि है, आन्तरिक्ष्य अग्नि तरलाग्नि है, यही वायु है। 'वायुर्वै वृष्टया ईशे' इस वृष्टिविद्यासूत्र के अनुसार पर्जन्य नाम से प्रसिद्ध आन्तरिक्ष्य तरलवायु ही वृष्टि का अधिष्ठाता है। दिव्य अग्नि विरलावस्थापन्न है, यही आदित्याग्नि है। अग्नित्रयी ही अग्नि–वायु–आदित्य है। यही पृथिवी–पर्जन्य–द्यु है। पुरुषाग्नि में इन तीनों अग्नियों का समुदाय है। अग्नित्रय के संयोग से नया तारतम्यः अग्नि उत्पन्न होजाता है, यही वैश्वानर नाम से प्रसिद्ध है। पुरुष साक्षात् वैश्वानर अग्नि की प्रतिमा है। यह चारों अग्नि (द्यु–पर्जन्य–पृथिवी–पुरुषरूप आदित्य–यम–अग्नित्रय–वैश्वानर) संग्राग्नि हैं। पांचवां योषित् अग्नि ऋतरूप है। ऋतु का स्वरूप इसी ऋताग्नि से संपन्न होता है। इसी ऋताग्नि से स्त्री का आत्मा बनता है। स्त्री ऋताग्निमयी है। सभी समयों में इसमें ऋताग्नि का आविर्भाव नहीं होता, किन्तु ऋतुकाल में ही ऋताग्नि का विकास होता है। ऋतुमती स्त्री के ऋताग्नि में जब सोमाहुति होती है, तभी प्रजोत्पत्ति होती है।

१-द्यु——दिव्यविरलाग्निः————→आदित्यः }
२-पर्जन्यः—आन्तरिक्ष्यतरलाग्नि————→वायुः } —अङ्गिरामयी } —सत्याग्नि
३-पृथिवी—पार्थिवघनाग्निः————→अग्निः }
४-पुरुषः —अग्नित्रयसंयोगजन्मा ——→वैश्वानरः
५-योषित्—ऋतुकाले व्याप्तो ऋताग्निः——→ऋताग्निः]-ऋताग्निः



इसी प्रकार श्रद्धातत्व सोम की विरलावस्था है, सोम तरलावस्था है, वर्षा (पानी) घना-
वस्था है। तीनों की समष्टि 'भृगु' है। इन तीनों के समन्वय से अन्न का विकास होता है,
अन्न ही आगे जाकर रेतोरूप में परिणत होता है। उक्त पाचों अग्नियों में क्रमशः इन पाचों
सोमों की आहुति होती हैं। पाचवीं आहुति में पुरुष उत्पन्न होता है। प्राणदेवता यज्ञ के
सचालक हैं, आहुति देने वाले हैं। दिव्याग्नि में श्रद्धा सोम की आहुति होती है। चान्द्ररस का
नाम ही श्रद्धा है। यह रस आपोमय है, चन्द्रमा स्वयं पानीयपिण्ड है, श्रद्धा का पिण्ड है।
प्रत्येक पानी में यह चान्द्ररस प्रतिष्ठित रहता है, इसी रसभाग के लिए 'यो वः शिवतमो रसः'
यह कहा जाता है। अपिच इसी आधार पर-' आपो वै श्रद्धां संनमन्ते'' "श्रद्धा वा मेध्या-
वा आपः'' इत्यादि श्रुतिवचन प्रसिद्ध हैं। यही चान्द्रश्रद्धारस दिव्याग्नि में आहुत होकर सोमरूप में
परिणत होजाता है। श्रद्धा पहिली अवस्था है, सोम दूसरी अवस्था है। इस सोम की पर्जन्या-
ग्नि में आहुति होती है। इस आहुति से वृष्टिरूप'स्थूल पानी'उत्पन्न होता है। यह स्थूलपानी उस
श्रद्धा नाम के सूक्ष्मपानी की तीसरी अवस्था है। इस वर्षा की तीसरे पार्थिवाग्नि में आहुति होती है।
इस आहुति से 'अन्न' उत्पन्न होता है। यह चौथी अवस्था है। आध्यात्मिक प्राणदेवताओंद्वारा
(इन्द्रियों द्वारा) इस अन्न की पुरुषाग्नि (वैश्वानराग्नि) में आहुति होती है। शरीराग्नि में आहु-"
त अन्नसोम रस-मल के आग्निक विशरसन से क्रमशः रस-असृक्-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा
रूप में परिणत होता हुआ सर्वान्त में रेतोरूप में परिणत होजाता है। यह रेत अपमूर्चि उस
श्रद्धासोम की पाचवीं अवस्था है। ऋतुकाल में स्त्री के ऋताग्नि में (आर्त्तव में) इस रेत सोम

की आहुति होती है। इसी से पुरुषोत्पत्ति होती है। इस प्रकार वह श्रद्धारूप अप्तत्त्व श्रद्धा-सोम-वर्षा-अन्न-रेतोरूप में परिणत होता हुआ पांचवीं आहुति में पुरुषरूप में परिणत हो जाता है, जैसाकि निम्न लिखित उपनिषद्वचन से स्पष्ट है—

"इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति"

(छां० उ० ५।९।१)।

उक्त पञ्चाहस्य से यह सिद्ध होजाता है कि वह श्रद्धारूप चान्द्रसोम ही परम्परया पुरुष की प्रथमसम्भूति का कारण बनता है। पुरुष वस्तुमात्र का उपलक्षण है। रोदसी त्रैलोक्य में जितनें भी पदार्थ हैं, सब की सम्भूति का कारण चन्द्रमा ही है। त्रैलोक्यव्यापक स्वयं साक्षि-देवसत्य (साक्षीसुपर्ण) भी देवसत्यात्मक चन्द्रमा से ही सम्भूत है। इतर सारे जड़ चेतन पदार्थ भी इसी से उत्पन्न हुए हैं। सूर्य कश्यप प्रजापति है, चन्द्रमा दक्षप्रजापति है, चन्द्रमा जिस चक्र पर पृथिवी की परिक्रमा लगाताहै, वह वृत्त 'दक्षवृत्त' नाम से प्रसिद्ध है। यह दक्ष चान्द्रसोम से व्याप्त रहता है। दक्षवृत्तावच्छिन्न इस चान्द्र सोम के सूर्यसम्बन्ध से १२ विभाग होजाते हैं। १२ मास ही १२ विभाग हैं। चान्द्रसोमावच्छिन्न ३० राशिरूप खगोल का एक एक प्रदेश एक एक मास है। एक संवत्सरचक्र में ऐसे १२ मास हैं। इन १२ दाक्षायणियों के साथ सौर-कश्यपप्रजापति का भोग होता है। दिति के साथ भोग होनें से दैत्य, अदिति से आदित्य, कद्रू से सर्प, विनता से गरुड़, आदि प्रजाएं उत्पन्न होती हैं। संसार की सारी प्रजाएं कश्यप प्रजापति द्वारा इन्हीं १२ दाक्षायणियों से उत्पन्न हुई हैं। धर्म-अरिष्टनेमि-मित्र-कृशाश्वा-स्वयं चन्द्रमा-कश्यप आदि भेद से यह सोम-प्रातल ६० भागों में विभक्त होजाता है। दक्षप्रजापति की इन ६० कन्याओं से ही सृष्टि का संचालन होता है। इन्हीं सब कारणों से हम सोमघन चन्द्रमा को अवश्य ही 'सम्भूति' का कारण माननें के लिए तय्यार हैं।

प्रत्येक वस्तु अपनें अपनें नियत समय पर उत्पन्न होती है। यह नियत समय ही लोकभाषा

ध्यम् । तेन सत्येन तेन तपसा-ऋतुरस्मि, आर्त्तवोऽस्मि, कोऽस्मि, त्वमसीति, तमति सृजते । ÷ ÷ ÷ ÷ । तं ब्रह्मा पृच्छति-कोऽसीति ? तं प्रतिब्रूयात्-ऋतुरस्मि, आर्त्तवोऽस्मि । आकाशाद्योनेः संभूतो, भार्यायै रेतः संवत्सरस्य तेजोभूतस्य भूतस्य भूतस्याऽऽत्मा त्वमसि । यस्त्वमसि-सोऽमस्मि-इति" ।
(कौ० उ० १ अ० ६ खं०) ।

चन्द्रमा ही विचक्षण है । यही पूर्वप्रदर्शित क्रमानुसार ऋतु द्वारा रेत बनकर सब की सम्भूति का कारण बनता हुआ सर्वरूप में परिणत होता है । इसी विज्ञान के आधार पर निम्न लिखित श्रौत वचन हमारे सामने आते हैं—

१-"असौ वै सोमो राजा विचक्षणश्चन्द्रमाः" (कौ० उ० ७।७।४।१।१०) ।
२-"चन्द्रमा वै जायते पुनः" (तै० ब्रा० ३।८।५।४) ।
३-"एष वै (चन्द्रमाः) रेतः" (शत० ६।१।२।४) ।
४-"चन्द्रमा एव सर्वम्" (गो० ब्रा०पू०० ५।१५) ।

जो चन्द्रमा सम्भूति का कारण है, पूर्वकथनानुसार वही विनाश का भी अधिष्ठाता है । सोम शिवतत्व है । जब तक यह अग्नि में आहुत होता रहता है, तभी तक सम्भूतिरूप शिवभाव है, तभी तक यज्ञ है । यम वायु के आते ही सोमसंतान टूट जाती है, यज्ञ बंद होजाता है । बलग्रन्थिएं टूट जाती हैं, रस से बल (ग्रन्थिसम्बन्ध की अपेक्षा से) पृथक् होकर असद्रूप में परिणत हो जाता है । इसी का नाम विनाश है । जिस क्रम से संचर है, उसी क्रम से प्रतिसंचर है । यही कारण है कि सम्भृत आत्मा शरीर छोड़ते ही पहिले सीधा चन्द्रलोक में जाता है, चाहे वह पापात्मा हो, अथवा पुण्यात्मा । चन्द्रमा से दक्षिण-उत्तर भेद से आत्मगति के लिए दो मार्ग विभक्त होते हैं । यज्ञ-तप-दान करने वाले विद्यानिष्ठ पुरुषों का आत्मा चन्द्रमा में पहुच कर उत्तरमार्ग में जाता है, एवं इष्टा-पूर्त्त-दत्तानुयायियों का आत्मा चन्द्रमा में जाकर दक्षिणमार्ग में जाता है । शरीर की छाया (तमोभाग), रात्रि, कृष्णपक्ष,

दक्षिणायन यह सब चान्द्रभाग हैं । शरीरज्योति, अहः, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, संवत्सर यह सब सौरभाग हैं । चन्द्रमा में जाने के लिए प्रेतात्मा को १३ मास (चान्द्रमास) लगते हैं। यह आत्मा चिरकाल तक पृथिवी पर रहा है, अतएव इस का चान्द्र आत्मा (महानात्मा) पार्थिव आकर्षण से बद्ध रहता है । शरीरत्यागानन्तर इधर से इसे पृथिवी खेंचती है, उधर से चन्द्रमा खेंचता है। दुर्भाग्य से यदि (पार्थिवसंपत्ति में अधिक आसक्ति रहने से) पार्थिव आकर्षण प्रबल होता है तो इसे ऊपर (चन्द्रलोक में) जाने में महा कष्ट होता है । यही कष्टावस्था 'अश्रुमुखपितर' नाम से प्रसिद्ध है । इस समय पार्थिव आकर्षण को निर्बल बनाने के लिए चान्द्रबल बढ़ाना अत्यावश्यक है, इस का एक मात्र उपाय है—'पिण्डदानलक्षण श्राद्ध' । प्रेतपिता के श्रद्धासूत्र से युक्त पुत्र द्वारा प्रदत्त सोममय तण्डुलपिण्ड इसे चान्द्ररस से युक्त कर सबल बना देते हैं । पिण्डभोग से सबल बनता हुआ प्रेतात्मा बिना कष्ट के स्वलोक में जाने में समर्थ होजाता है । अस्तु श्राद्धविषय अप्राकृत है, यहां यही कहना है कि जो चन्द्रमा उत्पादक है, वही संहारक है ।

प्रकरण के आरम्भ में यह बतलाया गया है कि हमारी प्रथम सम्भूति का कारण चन्द्रमा है, एवं पुनःसम्भूति का कारण चन्द्रप्रवर्ग्यभूत प्रज्ञान मन है । इन दोनों पक्षों में से प्रथम पक्ष का समाधान हो गया, अब क्रमप्राप्त पुनःसम्भूति के अधिष्ठाता आध्यात्मिक चन्द्रमा का स्वरूप उपस्थित किया जाता है । अध्यात्मसंस्था में दो प्रकार से चान्द्र सोम का भोग होता है । चान्द्रसोम ही पूर्वप्रदर्शित क्रमानुसार 'रेत' बनता है । उस रेत की आहुति से हम उत्पन्न होते हैं, यह पहिला भोग है । हम सायं प्रातः प्रतिदिन जो अन्न खाते हैं, उस में पार्थिव–आन्तरिक्ष्य–दिव्य तीनों लोकों के रस प्रतिष्ठित हैं । पार्थिव घनरस से अन्न का घन भाग (दाना) बनता है, आन्तरिक्ष्य तरलरस से अन्न में रहने वाले घृतभाग (चिकनाई–स्नेहन) का उदय होता है । इसी स्नेहरस से चूर्ण (आटे) को गोंदने से एक प्रकार का सुआब आजाता है । दिव्य विरलरस के आगमन से अन्न में मिठास उत्पन्न होता है । यह

१ इन सब विषयों का विशद विवेचन 'श्राद्धविज्ञान' में देखना चाहिए ।

मधुभाग सूर्य का रस है। चौथा रस चान्द्रसोम है। इस का दिव्यरस में ही अन्तर्भाव है। मधु और रेत का घनिष्ट सम्बन्ध है। अन्न में जो एक स्वादविशेष (जायका) होता है, वह यही सोमरस है। विज्ञानभाषा में यही दिव्यरस अमृत नाम से प्रसिद्ध है। कहीं कहीं इसे चौथे लोक का रस भी माना जाता है। पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ–दिक्–यह चार लोक हैं। इन चारों लोकों के क्रमशः अग्नि–वायु–आदित्य–चन्द्रमा यह चार देवता अधिष्ठाता हैं। अन्न में अग्नि से दधि (घन) रस आता है। वायु से घृत (तरल) रस आता है। आदित्य से मधु (विरल) रस आता है। एवं चन्द्रमा से अमृतरस आता है। भुक्त अन्न में जो पार्थिव दधिभाग (घनभाग) है, वह रस, असृक्, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र इन सात भागों में विभक्त है। शुक्र पर्यन्त पार्थिवरस है। पार्थिव भाग के हट जाने से केवल आन्तरिक्ष्य वायु, एवं दिव्य सौर-चान्द्ररस रह जाते हैं। इन रसों की समष्टि ही **'ओज'** है। ओज वायुप्रधान वायव्य धातु है। आगे जाकर आन्तरिक्ष्य रस भी हट जाता है। इसी मधुमय विशुद्ध सोमरस का नाम 'मन' है। इस प्रकार लोकरसों के तारतम्य से एक ही भुक्तान्नरस शुक्र–ओज–मन इन तीन रूपों में परिणत हो जाता है। पार्थिव सप्तधातुरूप शुक्र वाक्तत्व है, आन्तरिक्ष्य वायुमय ओज प्राणतत्व है, दिव्य आदित्यमय चान्द्ररस मनस्तत्व है। मन–प्राण–वाक् की समष्टि ही 'हम' (आत्मा) हैं।

१–पार्थिवघनरसः——(पृथिवी — अग्निः—दधि]–सप्तधातवः-शुक्रम्-वाक्
२–आन्तरिक्ष्यतरलरसः(अन्तरिक्षम्-वायुः—घृतम्]–ओजः————प्राणः
३–दिव्यविरलरसः—(द्यौः——आदित्यः-मधु
४–दिव्यामृतरसः—(दिशः —– चन्द्रमाः—अमृतम् } मनः———— मनः
} → आत्मा

——:o:——

शुक्र भी चान्द्र है, मन भी चान्द्र है। शुक्राहुति से हम उत्पन्न होते हैं। इस शुक्र में रागातीव आकर्षण सिद्धान्त के अनुसार चान्द्ररस आया करता है, साथ ही में अन्नद्वारा भी

चान्द्ररस आया करता है । जो चान्द्ररस स्वतन्त्ररूप से शुक्र में आता है वह—'सहांसि' नाम से प्रसिद्ध है । नक्षत्र सम्बन्ध से शुक्रप्रतिष्ठ चान्द्र सहोभाग २८ भागों में विभक्त होजाते हैं । यही आध्यात्मिक संतानप्रवर्त्तक पितर हैं । इन का मन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । एवं अन्नद्वारा जो चान्द्ररस हमारे में आता है, वही पूर्वोक्त विशकलन प्रक्रिया के अनुसार 'मन' बनता है—'अन्नमयं हि सौम्य मनः' । 'षोडशकलो वै चन्द्रमाः' (षड्विंश ब्रा० ४।६।) के अनुसार चन्द्रमा षोडशकल है । एक एक चान्द्र संवत्सर में एक एक मनः कला का विकास होता है । इस क्रम से मन की सर्वात्मकता में आयु के १६ वर्ष लग जाते हैं । मन-स्थिता १६ वें वर्ष में संपन्न होती है । यही चान्द्रसोम का दूसरा भोग है । हमारा मन साक्षात् आध्यात्मिक चन्द्रमा है, यह अन्न द्वारा संपन्न हुआ है, अन्नद्वारा ही अध्यात्मसंस्था में स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है । मन का उपादान चन्द्रमा है, हमारा मन चन्द्रमा में प्रतिष्ठित है, इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

१—"तद्यत्तन्मनश्चन्द्रमाः सः" (जै० उ० १।२८।५) ।

२—"मनश्चन्द्रमाः" (जै० उ० ३।२।६) ।

३—"चन्द्रमा मे मनसि श्रितः" (तै० ब्रा० ३।१०।८,५) ।

४—"यत्तन्मन एष स चन्द्रमाः" (शत० १०।३।३।७) ।

चन्द्रमा से (अन्नद्वारा) उत्पन्न मन में स्नेहतत्त्वप्रधान वही श्रद्धारस प्रतिष्ठित है । इसी श्रद्धारूप स्नेह के कारण हमारा मन विषयों में आसक्त होता हुआ उनके साथ बद्ध होजाता है, जैसा कि पूर्व के विज्ञानात्माधिकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है । यही विषयसंस्कार-पुञ्ज 'वासना' है । यही वासनापुञ्ज हमें आगे जन्म लेने के लिए बाध्य करता है । जब तक संस्काररूप अविद्यायुक्त मन पर प्रतिष्ठित रहता है, तब तक प्राणी अवश्य ही पुनः-सम्भूति के चक्र में फंसा रहता है । कामनामय अविद्यावच्छिन्न मन ही आगे के जन्मों के लिए शुक्र (उपादानकारण) बनता है, अतएव पूर्व के महदात्माधिकरण में काम-अविद्या को शुक्र बतलाया गया है । ग्रन्थिविमोक विनाश है, ग्रन्थिबंधन सम्भूति है । आत्मा के ग्रन्थिबंधन

का कारण (वासनामय) मन ही है, एवं बंधनमुक्ति का कारण भी (वासनाशून्य) मन ही है। पुनःसम्भूति एवं विनाश दोनों का कारण यही-मन है। जैसा कि अभियुक्त कहते हैं—

न देहो न च जीवात्मा नेन्द्रियाणि परंतप।
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः॥

शुक्र हमारा वास्तविक रेत (उपादान) नहीं है, अपितु सम्भूति का प्रधान रेत तो कामभय हमारा मन ही है। यही पुनःसम्भूति का कारण है। इसी अभिप्राय से उपनिषत्-श्रुति कहती है—

"मनो मे, रेतो मे, मज्जा मे, पुनःसम्भूतिर्मे तन्मे त्वयि (चन्द्रमसि)"।
(जै० उ० ३।२७।१४)।

हमारा चन्द्रमा आध्यात्मिकसंस्था की सम्भूति — विनाश का कारण है, उधर आकाशविहारी ईश्वर का मन आधिदैविक संस्था की सम्भूति-विनाश का कारण है। पूर्व में चन्द्रमा शब्द को सोमपरक मानते हुए हमनें सोमद्वारा चन्द्रमा को सम्पूर्ण विश्व की सम्भूति का कारण बतलाया था, आज हम प्रत्यक्ष दृष्ट इसी चन्द्रमा को सम्पूर्ण विश्व की सम्भूति का कारण कह सकते हैं। हिरण्यगर्भ विद्या के अनुसार विश्वकेन्द्रस्थ सूर्य ही विश्व का प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण है। सूर्य से ऊपर के स्वयम्भू-परमेष्ठी दोनों अमृतलोक सूर्य के अमृतभाग से प्रतिष्ठित हैं, एवं सूर्य से नीचे के मर्त्यलोक सूर्य के मर्त्यभाग से स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार सूर्य ही व्यक्तविश्व का मूलस्तम्भ (स्तम्भ) बन रहा है। इस सूर्य को जीवित रखनें वाला है, यही प्रत्यक्ष दृष्ट चन्द्रमा। सूर्य स्वरश्मियों से पार्थिव रसों का निरन्तर आदान करता रहता है। इसी आदान से सूर्यप्रजापति का विस्रस्त भाग पूरा होता रहता है। इस कमी को पूरा करना चान्द्रनाड़ी पर निर्भर है। भूपिण्ड से संलग्न चान्द्रनाड़ी द्वारा ही पार्थिव रस सूर्य में आहुत होते रहते हैं। जब तक चन्द्रमा है, तब तक चान्द्रनाड़ी है, जब तक चान्द्रनाड़ी है, तभी तक सौरपञ्चस्थिति है, जब तक यह है तभी तक सूर्य जीवित है, जब तक सूर्य

जीवित है, तभी तक अमृतमृत्युमय विश्व की सम्भूति है । इस प्रकार परम्परया इस सम्भूति का श्रेय एकमात्र चन्द्रमा को ही है ।

अध्यात्मजगत को देखिए । हम उत्पन्न हुए हैं, चन्द्रमा से । हमारी पुनःसम्भूति होती है चन्द्रमा (मन) से । एवं अपनी आयु के भोगकाल में हम जो कुछ सम्भूति (वैभव) प्राप्त करते हैं, वह भी इसी चन्द्रमा (मन) से । यदि मन नहीं हो तो हमारे विज्ञान(बुद्धि),महान, अव्यक्तादि कुछ नहीं कर सकते । मन पर ही विज्ञान प्रतिष्ठित है । मन धीप्र पात्र है । इसी पर विज्ञानसूर्य प्रतिबिम्बित होता है । विज्ञानात्माधिकरण में बतलाई गई प्रक्रिया के अनुसार विज्ञानसूर्य के दर्शपूर्णमास से ही महान् में त्रैगुण्यभाव का उदय होता है । त्रैगुण्य महान् ही चिदात्मा की योनि है । यदि मन नहीं तो विज्ञान नहीं, विज्ञान नहीं तो त्रिगुणभावापन्न महान् नहीं , महान् नहीं तो चिदाभास नहीं , चिदाभास नहीं तो कुछ नहीं । यह तो हुई मन से उधर (आभ्यन्तर) की स्थिति, अब चलिए इधर की ओर । 'स उ देवो युनक्ति' (केनोपनिषत्) के अनुसार सारी इन्द्रिएं मन से युक्त होकर ही तत्तद्विषयभोग में समर्थ होती हैं । विषयज्ञान में प्रज्ञामात्रा–प्राणमात्रा–भूतमात्रा यह त्रिपुटी रहती है । मन में सोम–चित–प्राण यह तीन कलाएं हैं । इन में चिदंश से प्रज्ञामात्रा पर, सोमांश से भूतमात्रा पर, एवं प्राणांश से प्राणमात्रा पर मन का अनुग्रह होता है । 'न हि प्रज्ञापेता काचन धीः सिध्येत्, नामाज्ञासिषम्, अन्यत्र मे मनोऽभूत्" (कौ०उ० ३ अ० ८ ख०) के अनुसार बिना मन के इन्द्रिएं विषयभोग में एकान्ततः असमर्थ हैं । बिना विषयात्म के शरीर नहीं, शरीर नहीं तो कुछ नहीं ।

इस चान्द्रमन को 'प्रज्ञान' नाम से व्यवहृत किया जाता है । हमारी अध्यात्मसंस्था में तीन प्रकार का मनोराज्य है । पञ्चकल अव्यय वाला मन सर्वालम्बन है । यह जड़-चेतन सब में समानरूप से विद्यमान है । इसी चिन्मन की अपेक्षा से भारतीय आर्यसाहित्य का सर्वव्यापक चैतन्यवाद प्रतिष्ठित है । इस अव्यय मन को 'श्वोवसीयसमन' 'श्वोवस्यसब्रह्म' आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है । दूसरा है चान्द्रमन । 'नियतविषयत्वमिन्द्रियत्वम्' इन्द्रिय

का यह लक्षण है। सभी इन्द्रिए अपने अपने रूप-रस-गंधादि नियत विषयों को ही भोगने में समर्थ हैं। यही इन्द्रियों का इन्द्रियत्व है। भोग ज्ञानसापेक्ष है। अवश्य ही सब इन्द्रियों के मूल में एक ऐसा ज्ञानयन्त्र मानना पड़ता है कि जिसकी ज्ञान रश्मियों को लेकर इन्द्रिए स्वस्वविषयभोग में समर्थ बनतीं हैं। उसी ज्ञानयन्त्र का नाम प्रज्ञान मन है। यह सब इन्द्रियों का प्रभु है। बिना इस का सहारा लिए कोई भी इन्द्रिय अपना काम नहीं कर सकती। चूंकि यह सब इन्द्रियों में अनुस्यूत रहता है, अतएव हम इसे 'सर्वेन्द्रियमन' नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। इस का विषय नियत नहीं है, यह सब में है, अतएव नियतविषय लक्षण इन्द्रिय मर्यादा से पृथक् रहता हुआ यही 'अनिन्द्रियमन' नाम से भी प्रसिद्ध है। इसका सोम भाग चिदंश से युक्त रहता है, अतएव इसे 'प्रज्ञानमन' कहना भी न्यायप्राप्त होता है। एक तीसरा मन और है। उसका काम है-अच्छे बुरे का अनुभव करना। अनुकूल वेदना, प्रतिकूल वेदना इस का नियत विषय है, अतएव यह तीसरा मन इन्द्रियकोटि में प्रविष्ट होता हुआ 'इन्द्रियमन' नाम से प्रसिद्ध है। इसी के लिए 'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि' (अथर्व) यह कहा जाता है। अस्तु इन सब विषयों का विशद निरूपण प्रज्ञान निरूपणात्मिका आगे की केनोपनिषत् में होने वाला है। अब इस विषय को अधिक विस्तृत न कर केवल यही कहना चाहते हैं कि प्राणेन्द्र प्रज्ञा-सोम की समष्टिरूप यह सर्वेन्द्रिय, अतएव अनिन्द्रिय, प्रज्ञानब्रह्म नाम से प्रसिद्ध अन्नमय मन ही अव्यक्त-महत्-विज्ञान-शरीर-इन्द्रिए-शारीरदेवता-भूत-शारीरलोक आदि सब की सम्भूति का कारण है। प्रज्ञानब्रह्म की इसी सर्वता का निरूपण करते हुए महर्षि ऐतरेय कहते हैं—

> कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे, कतरः स आत्मा ? इति। येन वा पश्यति, येन वा शृणोति, येन वा गन्धानाजिघ्रति, येन वा वाचं व्याकरोति, येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति, यदेतत्-हृदय, मनश्च (इंद्रियमनश्च), एतत् संज्ञानमाज्ञानं, विज्ञानं, प्रज्ञानं, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जूति', स्मृतिः, सङ्कल्पः, क्रतु, असुः कामो, वश इति। सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति।

एष ब्रह्म, एष इन्द्रः, एष प्रजापतिः, एते सर्वे देवाः, इमानि च पञ्चमहाभूतानि पृथिवी-वायु-राकाश-आपो-ज्योतींषीत्येतानि, इमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि, चेतराणि चाण्डजानि च, जारुजानि च, स्वेदजानि च, उद्भिज्जानि च, अश्वा, गावः, पुरुषा, हस्तिनो, यत्किंचेदं प्राणि, जङ्गमंच पतत्रि च, यच्च स्थावरं, तत् प्रज्ञानेत्रं, प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्। प्रज्ञानेत्रो लोकः। प्रज्ञा प्रतिष्ठा। "स एतेन प्राज्ञेनात्मनाऽस्माल्लोकादुत्क्रम्य अमुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत्, समभवत्" ॥

(ऐतरेय आरण्यक २।६।१)।

संभूति-एवं विनाश का क्या स्वरूप है ! अधिदैवत, एवं अध्यात्म में चन्द्रमा और मन ही सम्भूति-विनाश के अधिष्ठाता कैसे हैं ! इत्यादि बहिरंग प्रश्नों का समाधान होचुका। अब मूलग्रन्थ की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

उपनिषत् में प्रकृत अधिकरण के तीन मन्त्रों का 'अन्धं तमः प्रविशन्ति' 'अन्यदेवाहुः सम्भवात्' 'सम्भूतिं च विनाशं च' यह क्रम उपलब्ध होता है, परन्तु विज्ञानदृष्टि से पूर्व के विज्ञानात्माधिकरण की तरह यहां भी 'अन्यदेवाहुः सम्भवात्' 'अन्धं तमः प्रविशन्ति' 'सम्भूतिं च विनाशं च' यही क्रम समझना चाहिए। 'अन्यदेवाहुः' यह प्रथम मन्त्र प्रज्ञानात्मा का स्वरूप बतलाता है, 'अन्धं तमः प्रविशन्ति' यह मन्त्र प्रतिपादित आत्मस्वरूप से विरुद्ध जाने वालों की अधोगति बतलाता है, एवं 'सम्भूतिं च विनाशं च' इत्यादि मन्त्र प्रतिपादित आत्मस्वरूप का स्पष्टीकरण करता है। इस क्रम को प्रधान मानते हुए, सम्भूति-विनाशात्मक प्रज्ञानात्मा का निरूपण करते हुए निम्नलिखित प्रथम मन्त्र हमारे सामने आता है—

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१॥
(ई० उ० १३ मं०)।

"विद्वान् लोग उस (प्रज्ञानात्मतत्त्व) को सम्भव से भी पृथक् कहते हैं, असंभव से भी पृथक् कहते हैं। जिन वैज्ञानिकों ने हमारे लिए आत्मस्वरूप बतलाया है, उन धीर विद्वानों के द्वारा हम यही सुनते आए हैं-(कि वह आत्मतत्व संभूति और असम्भूति दोनों से पृथक् है" यह है मन्त्र का पदार्थ। सम्भूति अस्तितत्व है, असम्भूति नास्तितत्व है। सत्तारस से अनुगृहीत पदार्थ सम्भूति है, सत्तारस से वियुक्त पदार्थ असम्भूति है। उत्पत्ति और विनाश दोनों भाव प्रत्यक्ष दृष्ट हैं। यह उत्पत्तिरूपा सम्भूति, विनाशरूपा असम्भूति आत्मा के धर्म नहीं हैं। प्रज्ञानात्मा में जो आत्म अंश (चिदंश) है, न वह उत्पन्न होता, न उसका कभी विनाश होता। बलों की ही रसरूप आत्मा के अनुग्रह से सम्भूति होती है, रसातिलाक्ष्मरूपावस्था में बलों की ही असम्भूति होती है। सम्भूति-असम्भूति दोनों बल के धर्म हैं। वह इन दोनों का आलम्बन बनता हुआ दोनों से पृथक् है। सम्भूति और असम्भूति जिसके आधार पर होती है, उसे आत्मा (प्रज्ञानात्मा) समझना चाहिए।

अपि च रस-बलसमष्टिरूप यह आत्मा न केवल सम्भूति का अधिष्ठाता है, न केवल असम्भूति का अधिष्ठाता है। अपितु दोनों उसी के विवर्त हैं। यह असम्भूतिरूप है, इसलिए तो उसे सम्भूति नहीं कहा जासकता। सम्भूतिरूप है, अतः उसे असम्भूति भी नहीं कहा जा सकता। सम्भूति एवं असम्भूति का परस्पर में विरोध है, अतः उसे उभयात्मक भी नहीं कहा जासकता। ऐसी स्थिति में यदि उसके सम्बन्ध में कुछ कहा जासकता है तो यही कि वह सम्भूति-असम्भूति दोनों से पृथक् है।

यदि च आत्मा का रसभाग सम्भूति का अधिष्ठाता है, बलभाग असम्भूति का अधिष्ठाता है। वह न शुद्ध सम्भूति है, न शुद्ध असम्भूति ही है। उस का स्वरूप दोनों से विलक्षण है। अन्ततः दोनों की समष्टि आत्मा है। 'सतो बन्धुमसति निरविन्दन्' 'सन्तं पृथ्वीरसन्तं सप्तरसप्राशितम्' 'सदसच्चाहमर्जुन' 'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्' इत्यादि औपनिषद वचनों के अनुसार सोऽयम् सम्भव एवं असम्भव दोनों से अन्यतर होता हुआ भी दोनों की समष्टि ही है। ऐसी अवस्था में —

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ॥२॥
(ई० उ० १२ मं०)।

जो व्यक्ति केवल असंभूति की उपासना करते हैं, वह घोर अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं, एवं इनसे भी अधिक वे मनुष्य अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं, जो केवल सम्भूति में ही रत हैं । अर्थात् जो चार्वाकादि केवल क्षणिक बल को ही प्रधान मानते हुए संसार को शून्यं शून्यं समझते हैं, वे तो शून्यरूप अंधकार में हैं हीं, परन्तु आस्तिक बननें का गर्व करनें वाले जो महानुभाव क्षणिक बल का निरादर कर केवल सांसारिक अस्तिरूप विषयों में ही आसक्त रहते हैं। जो यह नहीं समझते कि जिन की हमनें सम्भूति समझ रक्खी है, कालांतर में उन सब का नाश होनें वाला है, ऐसे आसक्त पुरुष और भी अधिक आवरण में हैं ।

अपिच 'समित्येकीभावे' के अनुसार सम् का अर्थ है दो वस्तुओं का एकीभाव । प्रकृत में वे दो तत्व सुपरिचित रस-बल ही हैं । रस से सत्ता, किंवा सद्तत्व अभिप्रेत है, बल से असत्तत्व अभिप्रेत है । इस असद् बल में जो सद् रस का सम्बन्ध है, वही बल की सम्भूति है, जैसा कि पूर्व में विस्तार के साथ बतलाया जाचुका है । सत्तारस स्वस्वरूप से सर्वथा एक है । असद्बल-'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' के अनुसार नाना है । जब तक यह बल सत्तारूप एकरस से पृथक् रहता है, तब तक एकीभाव से शून्य रहता हुआ यह नानाभावापन्न है । यही रस से अनुगृहीत होकर एकीभाव को प्राप्त होता हुआ सम्भूतिरूप में परिणत होजाता है । बस-'रसबलयोः-सदसतोः-एकीभावः' ही सम्भूति है । सम्भूति सत्तारस है, शुद्ध बल असम्भूति है । बल आवरण स्वरूप होनें से 'तम' है । ऐसी अवस्था में जो असम्भूतिरूप केवल इस बल भाग की ही उपासना करते हैं, वे सचमुच आवरणरूप अन्धतम में प्रविष्ट रहते हैं । बल असद (नास्ति) भाव है, नास्ति शून्यभाव है, शून्यभाव अन्धकार है । 'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्' के अनुसार केवल असद् के

उपासक स्वयं असत् बन जाते हैं। परन्तु वे और भी अधिक गहरे अंधकार में हैं, जो कि केवल रसरूप सम्भूति की ही उपासना करते हैं। रस बललक्षण है। विना बल के विशुद्ध रसतत्व—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥

के अनुसार सर्वथा अप्रज्ञात–अलक्षण–अप्रतर्क्य–अनिर्देश्य–प्रसुप्त तम है। जब तक बल का आश्रय नहीं लिया जाता, तब तक स्वस्वरूप से रस अनुपाख्यतम है। यह तम बलतम से भी गहरा है। बल संसार का स्वरूप है, अतः इस की उपासना करने वाला, आवरणरूपा सांसारिक संपत्ति तो प्राप्त करलेता है। परन्तु विशुद्ध रसरूप सम्भूति का अनुयायी न इधर का रहता, न उधर का। यही इस का भूयान्धकार है। ऐसी अवस्था में क्या करना चाहिए? सुनिए—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥३॥
(ई० उ० १४ मं०)।

जो धीर विद्वान् सम्भूति और विनाश दोनों को एक बिन्दु पर प्रतिष्ठित देखता है, वह विनाश से मृत्यु का तरण कर सम्भूति से अमृतत्व प्राप्त करने में समर्थ होजाता है। मन्त्रार्थ के सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य नहीं है। मृत्यु ही अमृतप्राप्ति का साधन है। अतः दोनों के समुच्चितरूप की ही उपासना करनी चाहिए। निष्कामभाव से मृत्युलक्षण संसार की उपासना करते हुए अमृत पर दृष्टि रखिए! यही आदेश है, यही उपदेश है, यही संपत् है, यही ब्राह्मी उपनिषत् है।

उपनिषत् का प्रधान लक्ष्य आत्मा है। अत एव प्रत्येक प्रकरण में अन्तिम लक्ष्य अमृत-मृत्युमय आत्मा ही बन जाता है। आत्मस्वरूपपरिज्ञान के लिए आत्मसृष्टि का स्वरूप

जानना भी आवश्यक होजाता है। अतएव अगला उपनिषत् को इस का भी स्वरूप बतलाना पड़-ता है। यही कारण है कि उपनिषत् आत्मा-एवं आत्मसृष्टि दोनों के किसी विशेषभाव का निरूपण न कर सामान्य शब्दों का उपयोग करती है। उपनिषत् ऐसे अक्षर बोलती है, जिन से आत्मा-एवं आत्मसृष्टि दोनों का स्वरूप गतार्थ होजाता है। अतएव प्रकृत के तीनों मन्त्रों से जहां रसबलात्मक आत्मा का परिज्ञान होता है, एवमेव सम्भूति-विनाशमयी यज्ञरूपा चान्द्रसृ-ष्टि का भी परिज्ञान होजाता है। न केवल अधिदैवतचरित्र का ही, किन्तु अध्यात्मस्थिति का भी उन्हीं अक्षरों से स्पष्टीकरण होजाता है। ईश्वरीय जगत् की अपेक्षा से प्रकृत प्रकरण से ब्रह्मसत्यात्मरूप अन्नमय-सम्भूति-विनाश के कारणभूत 'चन्द्रमा' का स्वरूपज्ञान होता है। एवं अध्यात्मजगत् की अपेक्षा से मनुष्य की पुनःसम्भूति के अधिष्ठाता प्रज्ञा-नात्मा का स्वरूप परिचय होजाता है। साथ ही में दोनों विश्वों के आलम्बनभूत सदसदात्म सम्भूति-विनाशरूप अमृतमृत्युमय आत्मा का बोध होजाता है। इसी सारे प्रज्ञानवैभव का प्रतिपादन करता हुआ प्रज्ञानात्माधिकरण समाप्त होता है।

इति प्रज्ञानात्माधिकरणम्।

४

प्राकृतात्माधिकरणे-

प्रज्ञानात्माधिकरणं

समाप्तम्

४

— ❖ —

पूर्णमदः →→ →

साक्षी-देवसत्यः →→—→ प्राणवैभव भोक्ता-देवसत्यः

अधिदैवतम् →→—→

पूर्णमिदम्

अध्यात्मम्

देवसत्याक्षरः—

ज्ञान-क्रिया-अर्थमयः-वैकृतात्मा साक्षी

प्राणात्मा

५

साक्षीदेवसत्यः←——←←अमृतान्नादः←——←←भोक्तादेवसत्यः

(प्राकृतात्माधिकरणे *प्राणात्माधिकरणं पञ्चमम्*)

यज्ञमात्रिकवेदावच्छिन्नः-ज्ञान-क्रिया-अर्थमयात्मा

भूतात्मा

१– हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वम्पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥
२– पूषन्नेकर्षे यम सूर्य्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् ।
समूह तेजो, यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ॥
योऽसावसौ पुरुषः सोहमस्मि ॥
३– वायुरनिलममृतम् .... ।
.... ॥

(ईशोपनिषद् १५–१६–१७ मन्त्र)



देवसत्यात्मस्वरूपनिदर्शन

१– अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा **सर्वभूतान्तरात्मा** रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥

२– वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा **सर्वभूतान्तरात्मा** रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥

३– **सूर्यो** यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा **सर्वभूतान्तरात्मा** न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥

४– एको वशी **सर्वभूतान्तरात्मा** एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥
(कठोपनिषत् २ अ० ५ व० ९–१०–११–१२ मं०) ।

५– अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वै तत् । (कठ० २–४–१२) ।

६– अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण ॥ (कठ० २।६।१७) ।

७– द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥ (मुण्डक० ३।१।१) ।

८– समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ (मुण्डक० ३।१।२) ।

९– यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥ मुण्डक ३।१।३)

१०– प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी ।
आत्मक्रीड़ आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥ (मु० ३।१।४) ।

११– युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥ (श्वे० २।१) ।

१२– सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ (श्वे० ३।१४) ।





॥ श्रीः ॥

यो देवो अग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश ।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥ १ ॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदापस्तत् प्रजापतिः ॥ २ ॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥ ३ ॥

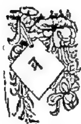
गुणान्वयो यः फलकर्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः ॥ ४ ॥

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकार समन्वितो यः ।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ॥ ५ ॥

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ ६ ॥

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ७ ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ८ ॥

—:०:—



ब्रह्मसत्य से सम्बन्ध रखने वाले स्वयम्भू, परमेष्ठी सूर्य, चन्द्रमा, इन चार आधिदैविक सत्यात्माओं का, एवं इन्हीं के अंशभूत अव्यक्त, महान्, विज्ञान, प्रज्ञान इन चार आध्यात्मिक सत्यात्माओं का पूर्व के— १–अव्यक्तात्माधिकरण, २–महदात्माधिकरण, ३–विज्ञानात्माधिकरण, ४–प्रज्ञानात्माधिकरण इन चार अधिकरणों में निरूपण किया जाचुका है। हमारी स्थिति के अनुसार स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य–चन्द्रमा–पृथिवी यह क्रम

है। यह पांचो पिण्ड क्रमशः प्राणब्रह्म, आपोब्रह्म, वाग्ब्रह्म, अन्नब्रह्म, अन्नादब्रह्म इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन पांचों में आत्मा-पद-पुनःपद् यह तीन तीन पर्व हैं। अतएव पांचों पिण्ड सहृदय-सशरीरी बनते हुए 'सत्य' हैं। इसी आधार पर इन पांचों ब्रह्मों को हमनें 'सत्यात्मा' 'ब्रह्मसत्यात्मा' 'ब्रह्मसत्याक्षर' इत्यादि नामों से व्यवहृत किया है। अब तक चार ब्रह्मसत्यों का निरूपण हुआ है। पृथिवी नाम का पांचवां ब्रह्मसत्य शेष रहा है। उचित यह था कि चान्द्रब्रह्मसत्य के अनन्तर ही उपनिषत् पांचवें पार्थिव ब्रह्मसत्य का निरूपण करती। परन्तु ऐसा न कर पार्थिव ब्रह्मसत्य से पहिले, एवं चान्द्रब्रह्मसत्य के अनन्तर श्रुतिनें पार्थिव देवसत्यात्मा का ही निरूपण किया है।

ब्रह्मसत्यरूप पृथिवी के भूत-प्राण भेद से दो विवर्त्त हैं। इन दोनों में भूतप्रधाना पृथिवी (भूपिण्ड) ब्रह्मसत्य है। ब्रह्मसत्यात्मक इस भूपिण्ड पर प्राणप्रधाना पृथिवी (महिमापृथिवी) प्रतिष्ठित है। इसी प्राणमयी पृथिवी के साथ देवसत्यात्मा का सम्बन्ध है। देवसत्यप्रतिष्ठामयी प्राणपृथिवी देवरूपा है। यह ब्रह्मसत्यरूप चन्द्रमा, एवं ब्रह्मसत्यरूप भूपिण्ड दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित है। इसी प्राकृतिक स्थिति को लक्ष्य में रखकर उपनिषत् नें चान्द्रब्रह्मसत्य निरूपण के अनन्तर ही प्राणपृथिवी पर प्रतिष्ठित देवसत्यात्मा का निरूपण किया है। इस के अनन्तर बाकी बचे हुए भूपिण्डात्मक पांचवें ब्रह्मसत्यात्मा का निरूपण होगा।

औपनिषद् ज्ञान के लिए जैसे षोडशी प्रजापति का स्वरूप जानना आवश्यक है, एवमेव बिना ब्रह्मसत्य-देवसत्य के स्वरूपज्ञान के भी उपनिषदर्थ का समन्वय करना कठिन है। आगे आने वाली कठोपनिषत् में इस कठिनता का विस्तार के साथ निराकरण किया गया है। अतः प्रकृत में प्रकरणसङ्गति के लिए दो चार शब्दों में इन दोनों का परिचयमात्र करा दिया जाता है। ब्रह्मसत्य—देवसत्य के परिज्ञान के लिए निम्न लिखित श्रौतवचन पर दृष्टि डालिए—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥
(मुण्डको० ३।१।१) ।

"एक वृक्ष की एक शाखा के अग्रभाग पर दो सुनहरी रंग के पत्ती बैठे हैं । दोनों सयुक् (जोडले) हैं । दोनों में घनिष्ठ मित्रता है । इन दोनों में से एक पत्ती फल को चख रहा है, दूसरा पत्ती बिना खाए उस खाने वाले की चौकसी कर रहा है ।" यह है मन्त्र का फलितार्थ ।

यह वृक्ष वही आप का सुपरिचित महामायावच्छिन्न अमृत-ब्रह्म-शुक्रमूर्त्ति महेश्वररूप 'अश्वत्थवृक्ष' है । इस अश्वत्थवृक्ष में सहस्रवल्शा (एक हजार टहनिए) हैं । प्रत्येक टहनी में स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी यह पांच पर्व (ग्रन्थिए) हैं, यही सहस्रवल्श प्रजापत्य है । पत्ती वृक्षपर नहीं बैठता, वृक्ष की टहनी पर बैठता है । टहनी के भी श्योर किसी भाग में न बैठकर टहनी के आगे के छोर पर बैठता है । यही परिस्थिति यहां समझिए । अश्वत्थवृक्ष की एक टहनी में स्वयम्भू मूलभाग है, सूर्य मध्यभाग है, पृथिवी सबसे अन्त का भाग है । इसी पर दोनों पत्ती बैठे हुए हैं । इन दोनों में एक पत्ती फल खाता हुआ 'भोक्ता' बन रहा है । इसी को कठोपनिषत् ने 'मध्वद' नाम से व्यवहृत किया है । दूसरा फल न खाता हुआ 'साक्षी' बन रहा है । भोक्ता एवं साक्षी दोनों पत्तियों का स्वरूप देवसाक्षों से सम्पन्न होता है, अतएव यह दोनों 'देवमत्य' नाम से प्रसिद्ध है ।

जीवात्मा-और परमात्मा का युग्म माना जाता है । परमात्मा ईश्वर है, जीवात्मा जीव है । जीव और ईश्वर केवल देवसत्य का नाम है । स्वयम्भू आदि उपेश्वर हैं, अश्वत्थ महेश्वर है, परात्पर परमेश्वर है । स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-भूपिण्ड यह ईश्वर के उपकरण हैं,

* इस अनुपम मन्त्र के ६ अर्थ होते हैं । इन छओं का हिरण्यगर्भविद्याप्रतिपादक मुण्डकोपनिषत् में विस्तार से निरूपण हुआ है ।

अव्यक्त–महान्–विज्ञान–प्रज्ञान–शरीर यह जीव के उपकरण हैं । कर्म भोगनें वाला, योन्यन्तर में जन्म लेनें वाला जीवात्मा केवल भोक्ता देवसत्य है । महान्–विज्ञान अव्यक्तादि का कर्मभोग से कोई सम्बन्ध नहीं है । इस आत्मपृथक्करण से ही आत्मविषयक सन्देह निवृत्त होते हैं । 'जब जीवात्मा कर्म भोगनें के लिए लोकान्तर में, किंवा योन्यन्तर में चला गया तो फिर श्राद्ध किसके लिए किया जाता है ? जब आत्मा अजन्मा है तो उस की उत्पत्ति कैसे बतलाई जाती है ? ऐसे ऐसे प्रश्नों का उस समय कोई मूल्य नहीं रहता, जब कि सर्वथा विभक्त आत्मसंस्थाओं का स्वरूपज्ञान होजाता है । श्राद्ध महानात्मा के लिए ही किया जाता है । कर्मभोक्ता उक्त देवसत्य ही है । षोडशी पुरुष सर्वथा अजन्मा ही है । अस्तु आगे आनें वाली उपनिषदों में इन सब विषयों का स्पष्टीकरण होता रहेगा । प्रकृत में केवल ईश्वर और जीव का स्वरूप ही विजिज्ञास्य है ।

पञ्चब्रह्मों में सबसे अन्त का ब्रह्म 'अन्नाद' है । अग्नितत्त्व को ही अन्नाद कहा जाता है । 'अग्निः सर्वा देवताः' 'अग्निपुरोगाः सर्वे देवाः प्रीयन्ताम्' के अनुसार अन्नाद अग्नि ही ३३ देवताओं की मूलप्रतिष्ठा है । अतएव सब देवताओं के लिए अग्नि में ही आहुति दी जाती है। अग्नि ही देवताओं का मुख है । 'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्' इस निगम के अनुसार यह प्रजापति अग्नि अमृत–मृत्यु भेद से दो भागों में विभक्त है । अमृताग्नि प्राणाग्नि नाम से, मर्त्याग्नि भूताग्नि नाम से प्रसिद्ध है । यज्ञपरिभाषानुसार अमृताग्नि को 'चितेनिधेयाग्नि' एवं मर्त्याग्नि को 'चिताग्नि' कहा जाता है । भूतरूप मर्त्याग्नि से भूपिण्ड का निर्माण हुआ है । आप–फेन–मृद–सिकता–शर्करा–अश्मा–अय–हिरण्य इन आठ चितियों में परिणत होकर यह मर्त्याग्नि भूपिण्डरूप में परिणत हुआ है, अतएव इसे 'चित्याग्नि' कहना न्याय संगत होता है । दूसरा अमृताग्नि, किंवा प्राणाग्नि भूकेन्द्र में उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता हुआ, अर्क–(रश्मि)–रूप से भूपिण्ड से बाहर निकल कर अपना एक स्वतन्त्र मण्डल बनाता है । जहांतक यह अमृताग्नि व्याप्त रहता है, वहांतक का अमृताग्नि मण्डल 'महिमापृथिवी' नाम से प्रसिद्ध है । यज्ञाग्निपरिभाषा के अनुसार चित्याग्निमय भूपिण्ड 'कृष्णाजिन' कह-

जाता है, एवं चितेनिधेयाग्निमय भूमण्डल 'पुष्करपर्ण' नाम से प्रसिद्ध है। इस पुष्करपर्णरूप महिमामण्डल में व्याप्त रहने वाले अग्नि की क्रमशः घन–तरल–विरल–यह तीन अवस्थाएं हो जाती हैं। एक ही अग्नि की यह तीनों अवस्थाएं क्रमशः अग्नि–वायु–आदित्य नाम से प्रसिद्ध हैं। भूपृष्ठ के मण्डल की सीमा तक व्याप्त रहने वाले प्राणाग्नि के तीन विभाग कर डालिए। इन तीनों में भी अवस्थातारतम्य मानना पड़ेगा। घनाग्नि की घनावस्था के तारतम्य से आठ अवयव माने जाते हैं, अग्नि के यही आठ अवयव आठ वसु हैं। मध्य के तरलस्तर की (तरलता के तारतम्य से) ११ अवस्थाएं हैं, यही ११ रुद्र हैं। अन्त के विरलस्तर की (विरलता के तारतम्य से) १२ अवस्थाएं हैं, यही १२ आदित्य हैं। इन तीन अवस्थाओं में दो सान्ध्य प्राणों का उदय होता है। इस प्रकार अग्निज्येष्ठ आठ वसु, वायुज्येष्ठ ११ रुद्र, इन्द्रज्येष्ठ १२ आदित्य, २ सान्ध्यप्राण, संभूय ३३ देवता हो जाते हैं। एक ही अग्नि पहिले अग्नि–वायु–आदित्यरूप से तीन रूप धारण करता है, वही अवान्तर अवस्थाओं से आगे जाकर ३३ रूप धारण कर लेता है—"अग्निः सर्वा देवताः"।

अदित्यां जज्ञिरे देवास्त्रयस्त्रिंशदरिन्दम।
आदित्या वसवो रुद्रा अश्विनौ च परंतप॥ (वा० रा०)।

पृथिवी में वाक्-गौ-द्यौ यह तीन मनोता हैं। भाष्य के प्रथम खण्ड में शुक्रनिरुक्ति में वाक्-आप-अग्नि नाम के तीन शुक्र बतलाए गए हैं–(देखिए ई० वि०१ खं० पृ० ३३७)। स्वा-यम्भुव वाक्स्तर द्यौ है, पारमेष्ठ्य आपस्तर गौ है, एवं सौर अग्निस्तर वाक् है। द्यौ-(वाक्-शुक्र)-भाग भूपिण्ड के केन्द्र से आरम्भ कर महापृथिवी के ४८ वें स्तोम तक व्याप्त है। गौ-भाग ३३ वें स्तोम तक व्याप्त है, एवं वाक्भाग (अग्निशुक्र) पृथिवी के २१ अहर्गण तक व्याप्त है। 'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्' (शत० १०।५।१।१) के अनुसार वाक्स्तर अग्नि है। इस अग्निस्तर की ही अग्नि–वायु–आदित्य यह तीन अवस्थाएं हैं। पृथिवीपृष्ठ से आरम्भ कर ६ वें अहर्गण तक (जो कि अहर्गणों की समष्टि त्रिवृत्स्तोम नाम से प्रसिद्ध है) घनावस्थापन्न अग्नि प्रतिष्ठित है। यहां से पञ्चदशअहर्गण पर्यन्त तरलावस्थापन्न अग्नि (वायु)

प्रतिष्ठित है। एवं यहां से २१ पर्यन्त विरल अग्नि (इन्द्र) प्रतिष्ठित है। त्रिवृत्स्तोम इस महिमा पृथिवी का पृथिवीलोक है, इस का प्रतिष्ठाता (अधिष्ठाता) अग्नि है। पञ्चदशस्तोम महिमा पृथिवी का अन्तरिक्षलोक है, इस का प्रतिष्ठाता वायु है। एकविंशस्तोम महिमापृथिवी का द्युलोक है, इस का प्रतिष्ठाता इन्द्र है। इस प्रकार केवल महिमा पृथिवी में ही स्तोमभेद से त्रैलोक्यभाव का उदय होजाता है। यही पार्थिवत्रिलोकी 'स्तौम्यत्रिलोकी' नाम से प्रसिद्ध है। पार्थिव त्रैलोक्य में व्याप्त इन्हीं तीनों अग्नियों के सर्वहुतयज्ञ से वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्त्ति ईश्वरीय देवसत्य का जन्म होता है।

पार्थिव त्रिवृदग्नि को आधार बना कर आन्तरिक्ष्य वायु, दिव्य इन्द्र की आहुति होनें से, तीनों के समन्वय से वैश्वानर अग्नि उत्पन्न होता है। वैश्वानर अग्नि में यद्यपि त्रैलोक्य का अग्नि है, परन्तु प्रधानता पार्थिव अग्नि की है। आन्तरिक्ष्य वायु में पार्थिव अग्नि, दिव्य इन्द्र की आहुति होनें से हिरण्यगर्भ का जन्म होता है। इसमें भी तीनों हैं, परन्तु प्रधानता आन्तरिक्ष्य वायु की ही है। एवं दिव्याग्नि में पार्थिव अग्नि, आन्तरिक्ष्य वायु की आहुति होनें से सर्वज्ञ का जन्म होता है। इसमें भी तीनों अग्नि हैं, परन्तु प्रधानता दिव्य अग्नि की ही है। अग्नि अर्थशक्ति का अधिष्ठाता है, अतः तत्प्रधान वैश्वानर अग्नि अर्थमूर्त्ति ही है। वायु क्रियाशक्ति का अधिष्ठाता है, अतः तत्प्रधान हिरण्यगर्भ क्रियामूर्त्ति ही है। एवं इन्द्र ज्ञानशक्ति का अधिष्ठाता है, अतः तत्प्रधान सर्वज्ञ ज्ञानमूर्त्ति ही है। वैश्वानर अग्नि का प्रभव वायु-इन्द्रगर्भित पार्थिव अग्नि है, प्रतिष्ठा त्रिवृत्स्तोम है, आशय (व्याप्तिस्थान) सारा त्रैलोक्य है। इसी आधार पर-'वैश्वानरो यतते सूर्येण' (ऋक्० १।७१।६), 'आ यो द्यां भात्या पृथिवीम्' (या.नि.दै.७।२३) इत्यादि कहा जाता है। हिरण्यगर्भ-वायु का प्रभव पार्थिवाग्नि-इन्द्रगर्भित आन्तरिक्ष्य वायु है, प्रतिष्ठा पञ्चदशस्तोम है, आशय सारा त्रैलोक्य है। एवं सर्वज्ञ इन्द्र का प्रभव अग्निवायुगर्भित दिव्य इन्द्र है, प्रतिष्ठा एकविंशस्तोम है, आशय त्रैलोक्य है। यही त्रिदेवसमष्टि स्वज्ञान-क्रिया-अर्थशक्ति से सारे भौतिक विश्व का आत्मा बन रही है। भूतों के अधिष्ठाता होनें से ही इस देवसत्य को 'सर्वभूतान्तरात्मा' कहा जाता है। केनोप-

निषद् में जिन अग्नि–वायु–इन्द्र का त्रैलोक्य में विजय बतलाया गया है, वह यही सर्वभूतान्तरात्मा है। इस देवसत्य की प्रतिष्ठा ब्रह्मसत्य है, ब्रह्मसत्य की प्रतिष्ठा आत्मसत्य है।

आत्मा के अमृत–ब्रह्म–देव–भूत यह चार विवर्त्त हैं। षोडशीपुरुष स्वयं अमृतात्मा है। स्वयम्भू–परमेष्ठी आदि पांचों पर्व ब्रह्मविवर्त्त है। अग्नि–वायु–इन्द्र की समष्टि देवविवर्त्त है, भूतप्रपञ्च प्रसिद्ध है। यही चारों संस्थाएं अध्यात्म में हैं। इन चारों आध्यात्मिक संस्थाओं में से अमृतात्मा असंस्करणीय है। ब्रह्म–देव–भूत तीनों का संस्कार किया जाता है। लौकिक शुद्धिसंस्कार भूतसंस्कार हैं, १६ स्मार्त्तसंस्कार ब्राह्मसंस्कार हैं, ३२ श्रौतसंस्कार दैवसंस्कार हैं। इन संस्कारों से ब्रह्म–देव–भूत यह तीनो विवर्त्त शुद्ध संस्कृत बनकर ब्रह्मविभूतिमय बनजाते हैं। जैसा कि अभियुक्त कहते हैं—

संस्कारैः संस्कृतः पूर्वैरुत्तरैरपि संस्कृतः।
नित्यमष्टगुणैर्युक्तो ब्राह्मणो ब्रह्म लौकिकम्।
ब्राह्मं पदमवाप्नोति यस्मान्न च्यवते पुनः॥

अध्यात्मसंस्था की उक्त चारों संस्थाओं में अमृतसंस्था के तो वे ही नाम रहते हैं, इतर संस्थाओं के नाम बदल जाते हैं। ईश्वरीय देवसत्य का सर्वज्ञ भाग यहा प्राज्ञ नाम से, हिरण्यगर्भ भाग तैजस नाम से, वैश्वानर भाग वैश्वानर नाम से ही प्रसिद्ध है। यही भूतात्मा है। इस की प्रतिष्ठा वही सर्वभूतान्तरात्मा है। यह भोक्ता सुपर्ण है, वह साक्षी सुपर्ण है। यह कर्मकर्म्मा है, वह कर्मसाक्षी है। दोनों सखा हैं, दोनों सयुक् हैं। दोनों त्रैलोक्यत्रिलोकीरूप महाश्वत्थ की शाखा के अग्रभाग में प्रतिष्ठित हैं। दोनों की मूलप्रतिष्ठा भूमिरङ है।

सर्वज्ञभाग सहस्रशीर्ष है, हिरण्यगर्भभाग सहस्राक्ष है, वैश्वानरभाग सहस्रपात् है। मूल–मध्य–अन्त भेद से यह त्रिपर्वा है। त्रिपर्वा देवसत्य पादरूप वैश्वानर भाग से भूपिण्ड पर प्रतिष्ठित होरहा है। अध्यात्मसंस्था में जीवरूप से यही दश अंगुल का अतिक्रमण कर (प्रादेशमात्र बनकर) प्रतिष्ठित होरहा है। इसी देवसत्य का समष्टिरूप से निरूपण करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं सर्वतस्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ (यजुः सं० ३१।१) ।

ईश्वरजगत्

	१–परात्परः—एककलः	षोडशीप्रजापतिः (अमृतसत्यात्मा)	ईश्वरप्रजापतिः
	२–अव्ययः—पञ्चकलः		
	३–अक्षरः—पञ्चकलः		
	४–आत्मक्षरः–पञ्चकलः		
	—०—		
प्राणः———	१–स्वयम्भूः–आकृतात्मा	ब्रह्मसत्यात्मा	
आपः———	२–परमेष्ठी— "		
वाक्———	३–सूर्यः— "		
अन्नम्———	४–चन्द्रमाः— "		
	—०—		
अमृतात्मानः महिमापृथिवी	१–सर्वज्ञः——इन्द्रः	देवसत्यात्मा साक्षी	
	२–हिरण्यगर्भः—वायुः		
	३–वैश्वानरः—अग्निः		
	—०—		
मर्त्यात्मानः——	४–पृथिवी.	प्रपञ्चरूपम्	

जीवजगत्

१–परात्परः—एकलः
२–अव्ययः—पञ्चकलः
३–अक्षरः—पञ्चकलः
४–आत्मक्षरः–पञ्चकलः
} –शोडषीप्रजापतिः (अमृतसत्यात्मा)

—o—

प्राणः——१–अव्यक्तात्मा–प्राकृतात्मा
आपः——२महानात्मा— "
वाक——३–विज्ञानात्मा– "
अन्नम्——४–प्रज्ञानात्मा– "
} –ब्रह्मसत्यात्मा

—o—

अमृतान्नादः { १–प्राज्ञः—इन्द्रः / २–तैजसः–वायुः / ३–वैश्वानरः–अग्निः } देवसत्यात्मा भोक्ता

—o—

मर्त्यान्नादः—५–शरीरम्]–ब्रह्मसत्यम्

(सब मिलकर) } जीवप्रजापतिः



१–प्रभवः—आन्तरिक्ष्य–दिव्याग्निगर्भितपार्थिवत्रिवृदग्निः
१—२–प्रतिष्ठा—त्रिवृत्स्तोमः……………………
३–आशयः–स्तोमत्रिलोकी……………………
} वैश्वानराग्निः पार्थिवः (अर्थशक्तिप्रवर्त्तकः)

—:o:—

१–प्रभवः–पार्थिव-दिव्याग्निगर्भित-आन्तरिक्ष्यो वायुः
२– २–प्रतिष्ठा—पञ्चदशस्तोमः……………
३–आशयः–त्रैलोक्यत्रिलोकी……………

हिरण्यगर्भोवायुः-आन्तरिक्ष्यः
(क्रियाशक्तिप्रवर्त्तकः)

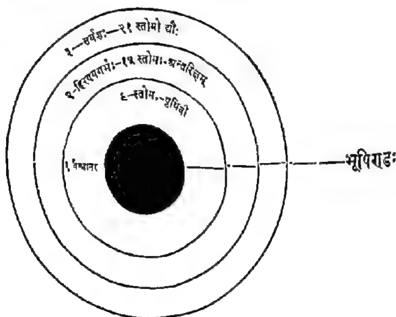
—— :o: ——

१–प्रभवः —पार्थिव–आन्तरिक्ष्य-अग्निगर्भितोदिव्येन्द्रः
३– २–प्रतिष्ठा—एकविंशस्तोमः……………
३–आशयः–त्रैलोक्यत्रिलोकी……………

सर्वज्ञ-इन्द्रः–दिव्यः
(ज्ञानशक्तिप्रवर्त्तकः)

—— :o: ——

एष सर्वभूतान्तरात्मा



अग्नि–वायु–इन्द्र तीनों ही प्राणात्मक । हैं अतएव प्राणाग्नित्रयी से संपन्न इस देवसत्य
को हम 'प्राणात्मा' कहनें के लिए तय्यार हैं। इन्द्रियवर्ग, प्रज्ञानमन, एवं बुद्धि के सहारे स्थूल-
शरीररूप रथ में प्रतिष्ठित यह रथी कर्म्मात्मा इस लोक की यात्रा करता है, एवं आतिवा-
हिकशरीररूप (स्थूलशरीररूप) रथ में प्रतिष्ठित होकर परलोक की यात्रा करता है । इस
रथी कर्मभोक्ता कर्मात्मा के उस छोर में मन (प्रज्ञान)-बुद्धि (विज्ञान)–महत्–अव्यक्त-षोडशी
हैं, इस छोर में शरीर है । विज्ञानात्मा सौर है । महद्गर्भित चिदात्मा के चितभाग का साक्षात्
सम्बन्ध चितिधर्मावच्छिन्न इसी सौरविज्ञान के साथ होता है । विज्ञान चिदात्मा से साक्षात्
सम्बन्ध रखता है, अतएव 'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः' यह कहा जाता है । अध्यात्म-
संस्था में विज्ञानपुरुष ही प्रधान तत्व है । इसी विज्ञानज्योति से प्रज्ञान प्रकाशित है, इसी से
देवसत्यरूप कर्मात्मा प्रकाशित है । कर्म्मात्मा–मन–बुद्धि तीनो का घनिष्ठ सम्बन्ध है । बिना
मन-बुद्धि के कर्म्मात्मा कर्मभोग करनें में सर्वथा असमर्थ है । अत एव मन बुद्धि को ,भोगसाधन
होनें से) भोक्तात्मा में अन्तर्भूत मान लिया जाता है । इसी अभिप्राय से इस कर्म्मात्मरूप देव-
सत्यात्मक भोक्तात्मा का –'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' (कठोपनिषत्) यह
लक्षण किया जाता है । प्रज्ञानयुक्त चाक्षुषपुरुषावच्छिन्न (सौरविज्ञानात्मावच्छिन्न) भोक्ता देव-
सत्य 'अहम्' है, यही जीवात्मा है । चान्द्रयुक्त सौरपुरुषावच्छिन्न साक्षी देवसत्य 'ओम्' है,
यही परमात्मा है । सौर एवं विज्ञानावच्छिन्न देवत्रयसमष्टिरूप साक्षी और भोक्ता देवसत्य के लिए
ही उपनिषत् नें 'सत्यधर्म' शब्द का प्रयोग किया है ।

अब जरा मन्त्रों की संगति का विचार कीजिए । 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं
मुखम्' इत्यादि मन्त्र चाक्षुषपुरुष (विज्ञानात्मा) की उपासना को, दूसरे शब्दों में उसके प्रत्यक्ष
करनें का उपाय बतलाता है । ऐसी अवस्था में उचित यह था कि विज्ञानात्मप्रतिपादक ९–
१०–११ मन्त्रों के अन्त में ही (विज्ञानात्माधिकरण में ही) 'हिरण्मयेन पात्रेण' इत्यादि पढ़ा
जाता । परन्तु ऐसा न कर ऋषिनें सम्भूतिविनाशात्मक प्रज्ञानात्माधिकरण के अन्त में (१४–
वें मन्त्र से आगे) इसे पढ़ा है । ऐसा व्यतिक्रम क्यों किया गया ? उत्तर स्पष्ट है । उपनिषदुप-

देश प्रधानरूप से जीवात्माके स्वरूपज्ञान करवानें के लिए प्रवृत्त हुआ है। जीवसंस्था में-'स वा एष विज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मना संपरिष्वक्तः' के अनुसार विज्ञान प्रज्ञान में ओतप्रोत है, प्रज्ञान विज्ञान में सपरिष्वक्त है। विना विज्ञान के प्रज्ञान कुछ नहीं कर सकता, साथ ही में विना प्रज्ञान के विज्ञान भी स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। न केवल जीवसंस्था में ही, अपितु ईश्वरसंस्था में भी यही स्थिति है। चन्द्रमा (सोम) के बिना सूर्य कभी प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। सौरपुरुष भारूप है, ज्योतिर्मय है। इसका यह ज्योतिर्भाव चान्द्रसोमाहुति पर निर्भर है। 'त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ' के अनुसार सोम नें ही सूर्य को ज्योतिर्मय बना रक्खा है, जैसा कि पूर्व के प्रज्ञानात्माधिकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है। इसी प्रकार चन्द्रमा सौरप्रकाश से ही चन्द्रिकामय बन रहा है। यही स्थिति अध्यात्म में है। मन पर ही सौरविज्ञानपुरुष प्रतिबिम्बित होता है। यदि मन न हो तो उसी क्षण विज्ञानात्मा उत्क्रान्त होजाय। ऐसी अवस्था में हम कह सकते हैं कि चाक्षुषपुरुष का चाक्षुषरूपना प्रज्ञान सम्बन्ध पर ही अवलम्बित है। निष्कैवल्य चाक्षुषपुरुष की उपासना असंभव है। क्योंकि वह कभी निष्कैवल्य (एकाकी) रहता ही नहीं। इसी सारी परिस्थिति को लक्ष्य में रखकर ऋषिनें विज्ञानात्माधिकरण के अन्त में विज्ञानपुरुष की प्राप्ति के उपायभूत 'हिरण्मयेन०' इत्यादि मन्त्र को न पढ़कर प्रज्ञानात्माधिकरण के अन्त में पढ़ा है। इससे ऋषि को यही सिखाना है कि जिस चाक्षुषपुरुष की तुम उपासना करनें चले हो, वह उपासना विना प्रज्ञानमन के सहयोग के असंभव है। मनोयोग ही चाक्षुषपुरुष की उपासना का आधार है।

"विज्ञानात्मा की उपासना का प्रकार बतलानें वाले 'हिरण्मयेन.' इत्यादि मन्त्र को उसी अधिकरण के अन्त में न पढ़कर प्रज्ञानात्माधिकरण के अन्त में क्यों पढ़ा? इस प्रश्न का समाधान तो होगया, परन्तु इसी सम्बन्ध में एक प्रश्न और उपस्थित होता है। प्रकरण विभाग के अनुसार 'हिरण्मयेन०' इत्यादि मन्त्र का हमनें प्राणात्माधिकरण नाम से प्रसिद्ध कर्म्मात्मप्रकरण में समावेश माना है। ऐसा क्यों? पूर्व कथनानुसार तो पूर्व के प्रज्ञानात्माधिकरण में इस मन्त्र का समावेश होना चाहिए था! इस प्रश्न का उत्तर उपासक कर्मात्मा

ही है । विज्ञानात्मा उपास्य है, प्रज्ञानात्मा उपासना का साधन है, कर्मात्मा उपासक है। उपासक कर्मात्मा ही मनोयोग (प्रज्ञानयोग) द्वारा उस विज्ञान पुरुष की उपासना करता है । ऐसी अवस्था में उपासक कर्मात्मा के साथ उस उपास्य विज्ञानात्मा का सम्बन्ध बतलाना आवश्यक है । इसी सम्बन्ध परिज्ञान के लिए उपासनाप्रकारप्रतिपादक 'हिरण्मयेन०' इत्यादि मन्त्र का कर्म्मात्माधिकरण के अन्त में समावेश करना उचित होता है ।

अपि च जबतक कर्म्मात्मा शरीर में प्रतिष्ठित रहता है, तभी तक अन्य आत्मसंस्थाएं प्रतिष्ठित रहती हैं । जीवसंस्था में प्रधानता कर्मात्मा की ही है । कर्मात्म (भोक्तात्म)–प्रतिपादक कठोपनिषत् में यह विस्तार से बतलाया जाने वाला है कि वस्तुतः जीवात्मा देवसत्यरूप कर्म्मात्मा का ही नाम नहीं है, अपितु कर्म्मात्मापरपर्य्यायक इस भोक्तात्मा का भोक्ता पना "आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः" के अनुसार बुद्धिरूप चाक्षुषपुरुष, एवं मनोमय प्रज्ञानपुरुष के समन्वय पर ही निर्भर है । इसीलिए तो उपनिषत् ने मन एवं बुद्धि को कर्म्मात्मा के साथ नित्य सम्बद्ध माना है । यद्यपि चाक्षुषपुरुष का जितना घनिष्ट सम्बन्ध प्रज्ञानात्मा के साथ है, उतना देवसत्यरूप प्राणात्मा के साथ नहीं है, तथापि बिना इसके सम्बन्ध के भोक्तात्मा का भोक्तृत्व ही नहीं बन सकता । विज्ञान–प्रज्ञान एक श्रेणि में हैं, भोक्तात्मा दूसरी श्रेणि में है । प्रज्ञान–विज्ञान दोनों का सम्बन्ध इसके साथ होता है । इस देवसत्य की 'अहंता' (आत्मता) प्रज्ञानसंपरिष्वक्त सौरविज्ञान के आधार पर ही प्रतिष्ठित है, जैसा कि–'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' इत्यादि से स्पष्ट है । देवसत्यप्रतिपादक प्राणात्माधिकरण के मध्य में 'हिरण्मयेन०' इत्यादि का पढ़ा जाना ही यह सूचित करता है कि चाक्षुषपुरुष का सम्बन्ध प्रज्ञान-कर्म्मात्मा दोनों से है । 'मैं क्या हूँ' ? इस प्रश्न का उत्तर है-'देवसत्य' । इस देवसत्य का 'मैं पना' उसी चाक्षुषपुरुष पर निर्भर है । पूर्व में ही बतलाया गया है कि देवसत्य की अपेक्षा से विज्ञान का प्रज्ञान के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है । इसी स्थिति को लक्ष्य में रखकर प्रज्ञाननिरूपण के अन्त में ही पहिले उस विज्ञान का स्वरूप दो मन्त्रों से बतलाकर तीसरे 'वायुरनिलममृतं' मन्त्रभाग से देवसत्य का स्वरूप बतलाया गया है । इस प्रकार इस प्रकरण के तीन

अपि च प्रकारान्तर से मन्त्रार्थ का समन्वय कीजिए। सांसारिक संपत्ति हिरण्मयपात्र है, संसार सुनहरा है। सुवर्ण (संपत्ति) नें ब्यात्मतत्व को आवृत कर रक्खा है। इस हिरण्मय पात्ररूप वित्तमोह से मुग्ध मनुष्य अन्तर्हृदय में प्रतिष्ठित सत्य आत्मतत्व के दर्शन करनें में असमर्थ होरहा है। इस पार्थिव भौतिक सम्पत्ति का अधिष्ठाता पृथिवी का अभिमानी देवता 'पूषा' है। उसी की आराधना से भौतिक आवरण हट सकता है। जो पूषादेवता आवरण का अधिष्ठाता होता है, वही आवरण दूर करनें में समर्थ है। हमें प्रणतभाव से उसी पार्थिव अभिमानी देवता से प्रार्थना करनी चाहिए कि हे पूषन्! आपनें स्वशक्ति से सत्यात्म-तत्व पर जो भौतिक संपत्तिरूप आवरण लगा रक्खा है, उसे हटाइए, हमारे आत्मा को भौतिक बंधन से मुक्त कीजिए, जिससे कि हम आत्मस्वरूप पहिचान सकें। पूषा देवता आवरण को हटाकर सत्यधर्म का साक्षात्कार करवाती है, यह उक्त मन्त्र से सिद्ध हुआ। वह पूषा देवता किस प्रकार से आवरण हटाती है? इस प्रश्न का समाधान करती हुई आगे जाकर श्रुति कहती है—

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्, समूह तेजः।
यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि-योसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥२॥
(ई० उ० १६ मं०)।

सृष्टि के मूलप्रवर्त्तक प्राण को 'ऋषि' कहा जाता है। स्वायम्भुव असत्प्राण का ही नाम ऋषि है। पूर्व के अव्यक्तात्सत्याधिकरण में हमनें स्वायम्भुव वेद को 'ब्रह्मनिश्वसित' कहा है, एवं उस वेद के यजुर्भाग को 'ब्रह्म' कहा है। उस यजु का यत् भाग ही प्राण है, यही ऋषि है। इसी से आगे की सारी सृष्टिएं होतीं हैं। इस ऋषिप्राण की सप्तर्षि, द्वयर्षि, एकर्षि, त्र्यर्षि आदि अनेक जातिएं हैं। विश्व में उपलब्ध होनें वाले एकत्व, द्वित्व-त्रित्व-आदि जितनें भाव हैं, उन सब के मूलाधार यही एकर्षि—द्वयर्षि आदि ऋषिप्राण हैं। सात रस, सात उपरस, सात धातु, सात उपधातु, सात विष, सात उपविष, सात लोक, सात पाताल, सात द्वीप, सात समुद्र, सात मरुद, सात रंग, सात छन्द, सप्ताहयज्ञ, शरीर सात धातु, सप्तनाड़ी, सप्तार्चि, सप्तसमिध, सप्तहोम आदि आदि जितनें भी सप्तक हैं, उन सब का प्रवर्तक एकमात्र 'सप्तर्षिप्राण' है।

ऋत-सत्य, अग्नी-सोम, सत्य-अनृत, द्यावा-पृथिवी, योषा-वृषा, रयि-प्राण, ब्रह्म-सुब्रह्म, स्थिति-गति, आदान-विसर्ग, ब्रह्म-कर्म, ज्ञान-क्रिया, मूर्त्त-अमूर्त्त, निरुक्त-अनिरुक्त, अमृत-मृत्यु, सत्-असत्, अहो-रात्र, शुक्ल-कृष्ण, पुरुष-प्रकृति, पति-पत्नी, पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक, आत्मा-शरीर, आग-पानी, अन्न-वस्त्र, ओषधि-वनस्पति, सूर्य-चन्द्र, श्रोत्रद्वय, चक्षुद्वय, पादद्वय आदि आदि जितने भी द्वैतभाव हैं, सब की मूलप्रतिष्ठा 'द्व्यर्षि' प्राण ही है।

त्रैलोक्य, त्रेताग्नि, वीर्यत्रयी, प्रजात्रयी, वेदत्रयी, त्रिसत्य आदि जितने भी त्रिभाव हैं, उन सबका मूल त्र्यर्षिप्राण है। एवं एकत्वभावापन्न पदार्थों की मूलप्रतिष्ठा 'एकर्षि' प्राण है। इन प्राणों के अध्यात्म-अधिदैवत-अधिनक्षत्र-अधिभूत भेद से भिन्न भिन्न कार्य हैं, जैसा कि भाष्यप्रथमखण्ड की त्रिधनिरुक्ति में बतलाया जाचुका है—(देखिए ई. नि. भा. १ पृ. ३५२–३६२)।

उसी प्रकरण में सारूप्य नाम से प्रसिद्ध सप्तर्षिप्राण का निरूपण किया गया है। इस सप्तर्षिप्राण के समष्टि एवं व्यष्टिरूप से सप्तर्षि-द्व्यर्षि-एकर्षि यह तीन भेद होजाते हैं, जैसा कि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट होजाता है—

१– १–गोतमः २– २–भरद्वाजः	श्रोत्रे	←—– द्व्यर्षिः	सप्तर्षिः (शत० १४।५।२।४।५।६।७)
३– १–विश्वामित्रः ४– २–जमदग्निः	चक्षुषी	←—– द्व्यर्षिः	
५– १–वसिष्ठः ६– २–कश्यपः	नासिके	←—– द्व्यर्षिः	
७– १–अत्रिः	वाक्	←—– एकर्षिः	

उक्त सप्तर्षिप्राणों में से सातवां अत्रि प्राण वाङ्मय है । यह वाङ् (अत्रि)-मय प्राण ही मुख में प्रतिष्ठित होकर अन्न खाता है, अतएव-'अन्नमत्ति' इस व्युत्पत्ति से इस वाङ्मय प्राण को-'अत्ति' कहा जाता है । अत्ति ही देवताओं की परोक्षभाषा में 'अत्रि' नाम से प्रसिद्ध है, जैसा कि श्रुति कहती है—

'वागेवात्रिः । वाचा (अग्निना) ह्यन्नमद्यते । अत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिः । सर्वस्यात्ता भवति, सर्वमस्यान्नं भवति, य एवं वेद'' (शत० १४।५।२।६) ।

यह वाक्तत्व अङ्गिरा ऋषि है । पूर्व में जिन ऋषिप्राणों का दिग्दर्शन कराया गया है, वे अनन्त प्रकार के हैं । उन सब की मूलप्रतिष्ठा वाङ्मय अंगिरा नाम का एकर्षिप्राण ही है , जैसा कि 'तेऽङ्गिरसः सूनवः (ऋक्. १०।६२।५) इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है । यद्यपि भृगु-अंगिरा-अत्रि भेद से अंगिराप्राण अत्रि से पृथक् तत्व माना गया है । परन्तु परमार्थतः तीनों एक ही हैं । अङ्गिरा अग्नि ही विशकलन की पराकाष्ठा पर पहुंच कर भार्गव सोम-रूप में परिणत होजाता है । एवं अंगिरा ही चितिमात्र को प्राप्त होकर धामच्छद बनता हुआ 'अत्रि' कहलानें लगता है । यही आंगिरस अत्रिप्राण भूपिण्ड का स्वरूपसमर्पक है । इसी एकर्षि-वाङ्मय-पार्थिव अत्रिप्राण के हुत भाग से आत्रेय चन्द्रमा उत्पन्न होता है, जैसा कि पूर्व के महानात्माधिकरण में चन्द्रोत्पत्ति-प्रकरण में बतलाया जाचुका है । अंगिरा धामच्छद अवस्था में आकर अत्रि है, यही वागग्नि रूप है । यही अग्निमय प्राण वाक्रूप से (वागिन्द्रिय रूप से) मुख में प्रतिष्ठित होता है—'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' । अत्रि नाम से प्रसिद्ध यह अंगिरा ही मन्त्रगत 'एकर्षिप्राण' है । 'प्रजापतिर्वा एकः' (तै० ब्रा० ३।५।१६।१) के अनुसार यह एकाकी है । इसी अंगिराग्नि से (अंगिराग्नि के मर्त्यभाग की चिति से) भूपिण्ड का स्वरूप निष्पन्न हुआ है । इसी एकर्षिरूप पार्थिव वागग्नि, किंवा अंगिराग्नि, किंवा अत्रि का नाम 'पूषा' है । धामच्छदभाव के कारण यह अत्रिमूर्ति पूषाप्राण पारदर्शकता का प्रतिबन्धक होता हुआ तमोमय है, कृष्ण है, छायारूप है । इसी पूषा प्राण के सम्बन्ध से पृथिवी को पूषा कहा जाता है , जैसा कि निम्न वचन से स्पष्ट है—

१—स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणम्, इयं वै पूषा, इयं हीदं सर्वं पुष्यति–यदिदं किञ्च" (शत० १४।४।२।२५)।

यज्ञविद्या के सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थों में एक प्रश्न किया गया गया है कि, "आज्य (घृत) तरल पदार्थ है। इस की अग्नि में आहुति दी जाती है। उस तरल आज्यद्रव्य की आहुति से घनभावावस्थायुक्त पुरुष कैसे उत्पन्न हो जाता है?"। इस प्रश्न का समाधान करते हुए आगे जाकर ब्राह्मणश्रुति ने उत्तर दिया है कि–"घृत अवश्य तरल पदार्थ है, परन्तु इसमें हिरण्यशकल (सुवर्णखण्ड) डालकर इस की आहुति दी जाती है। अतएव अस्थिभावयुक्त पुरुष उत्पन्न होता है"। इस प्रश्नोत्तर का रहस्य यही है कि घृत शुक्र है, यह पार्थिवद्रव्य है, साथ ही में तरल है। परन्तु इस पार्थिव तरल शुक्र में हिरण्यशकलरूप घनता सम्पादक सौर हिरण्मय तेज प्रविष्ट रहता है। इसीसे अस्थिभाग का निर्माण होता है। जिस प्रजा के शुक्र में सौरप्राण कम होता है, उस की हड्डिएं निर्बल रहती हैं। सौर संवत्सर के जितने पर्व है, पुरुष में उतनी ही हड्डिएं हैं। एक एक पर्व से एक एक अस्थि का निर्माण होता है। "सप्त च है वै शतानि विंशतिश्च संवत्सरस्याहानि च रात्रयश्च (७२०), इत्येतावन्त एव पुरुषस्यास्थीनि च मज्जानश्च" (गो. ब्रा० पू० ५।५।)। यद्यपि पाश्चात्य विद्वान् (स्वयं भारतीय विद्वान् सुश्रुत भी) दांतों को हड्डी नहीं मानते, परन्तु वैदिकसंवत्सरविज्ञान के अनुसार दांत हड्डी का प्रत्यक्ष रूप है। कहना यह है कि अस्थिनिर्माण सौर तेज से होता है। उत्पन्न शिशु में एक वर्ष तक दांत पैदा नहीं होते। कारण इस का यही है कि एक वर्ष तक इसमें पार्थिवरूपा प्राण की ही प्रधानता रहती है। अतएव सौरप्राण प्रबल नहीं होने पाता, अतएव दांत उत्पन्न नहीं होते। वर्ष भर दांत उत्पन्न न होने का एकमात्र कारण पार्थिव पूषाप्राण की ही प्रधानता है। इसी आधार पर–"तस्य दन्तान् परोवाप, तस्मादाहुरदन्तकः पूषा" (गो० ६।१३) यह कहा जाता है।

श्रुति में पूषा शब्द का अनेकधा व्याप्ति देखी जाती है। सूर्य को भी पूषा कहा जाता है। वायु भी पूषा नाम से प्रसिद्ध है। पृथिवी को भी पूषा माना गया है। ऐतरेय नैत्तम

भी पूषा नाम से व्यवहृत होता है। पूष्णो हस्ताभ्यामाददे नार्यसि(यजु ५।२२)का पूषा शब्द रेवती नक्षत्र का वाचक है। "सोमः पूषा च चेततुर्विश्वासां सुक्षितीनाम्"(साम २।६।१०) का पूषा शब्द पृथिवी का वाचक है। "पूषणः पोषेण मह्यं दीर्घायुत्वाय शतशारदाय शतं शरद्भ्य आयुषे वर्चसे" (तैत्ति.ब्रा.१।२।१।१८) का पूषा शब्द सूर्य का वाचक है। "अयं वै पूषा योऽयं (वायुः) पवते, एष हीदं सर्वं पुष्यति-यदिदं किञ्च" (शत. १४।२।१।९) का पूषा शब्द वायु का वाचक है। प्रकृतमन्त्र के 'पूषन्' शब्द से रेवती नक्षत्र को छोड़कर शेष तीनों (पृथिवी-वायु-सूर्य) पूषाओं का ग्रहण है। पृथिवी अग्निमयी है, अन्तरिक्ष वायुमय है, सूर्योपलक्षित द्युलोक आदित्यमय है। १२ आदित्यों में से एक पूषा नाम का आदित्य है। प्रकृत में सूर्य शब्द से इसी आदित्य विशेष का ग्रहण है। पार्थिव पूषा पूर्व कथनानुसार 'एकर्षि' है। रोदसी त्रैलोक्य के अन्तरिक्ष में रहने वाला आङ्गिरस वायुरूप पूषा 'यम' है। द्युलोकस्थ आदित्यरूप पूषा 'सूर्य' है। एकर्षि (पार्थिव पूषा), यम (आन्तरिक्ष्य पूषा), सूर्य (दिव्य पूषा) तीनों ही प्राजापत्य हैं, प्रजापति की सन्तान हैं। भूपिण्ड चित्याग्निमय है। इसमें चितेनिधेय अंगिरा नाम का पूषाग्नि प्रतिष्ठित है। केन्द्रस्थ यही पूषा पार्थिव प्रजापति है। इसी उक्थ प्रजापति की एकर्षि-यम-सूर्य (आदित्य) यह तीन अवस्थाएं हो जाती हैं। पूर्वप्रदर्शित देवसत्य स्वरूप में महिमा पृथिवी में रहने वाले जिन अग्नि-वायु-आदित्य इन तीन देवताओं का दिग्दर्शन कराया गया है, वे यही तीनों हैं। त्रिवृत्स्तोम तक अग्निप्रधान एकर्षि प्राजापत्य,पञ्चदशस्तोम तक वायुप्रधान यम प्राजापत्य,एवं एकविंशस्तोम पर्यन्त आदित्य-प्रधान सूर्य प्राजापत्य प्रतिष्ठित है। एक ही मूलप्रजापति की यह तीन तत्वावस्थाएँ हैं। अग्नि-वायु-आदित्य तीनों एक ही पार्थिव अंगिरा के विवर्त्त हैं, अतएव तीनों के लिए (समष्टि दृष्टि से) ऋषि ने पहिले 'पूषन्' यह कहा है। एवं आगे जाकर इसके व्यष्टिरूप प्राजापत्य भावों का दिग्दर्शन कराते हुए—"एकर्षे! यम! सूर्य! प्राजापत्य" यह कहा है।

सूर्य में ज्योति, गौ, आयु, यह तीन मनोता हैं। ज्योति इन्द्र है, हिरण्मयभाग है, यही देवभाग है। गौ भाग पशु है, यही पूषा है—"पशवो वै पूषा"। आयुभाग आप है, यही

वरुण है। सूर्य में पानी है, ज्योति है, पशु है, तीनों की समष्टि सूर्य है। प्रयाज, अनुयाज, छन्द आदि पशु हैं। सूर्य तेजोमय है, इस लिए वह इन्द्र है। आपोमय है, इस लिए वरुण है। पशुमय है, इस लिए 'पूषा' है। इन तीनों में पूषाभाग देवता (ज्योति–हिरण्मयपात्र–प्रकाश) का विरोधी है। पृथिवी से सूर्य तक यह एक ही पूषाप्राण व्याप्त होरहा है। पृथिवीयुक्त पूषा एकर्षि है, अन्तरिक्षयुक्त पूषा यम है, स्वयं दिव्यलोकस्थ पूषा सूर्य है। जहां एकर्षिप्राण (पार्थिव तमोमय छायारूप पूषाप्राण) रहता है, वहां ऐन्द्र ज्योतिर्भाग नहीं रहता। बस इसी पार्थिव पूषाप्राण को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—हे पूषा! आप पृथिव्यवच्छेदेन एकर्षि हैं, अन्तरिक्षावच्छेदेन यम हैं। दिव्यलोकावच्छेदेन सूर्य हैं। आप महिमारूप से त्रैलोक्य में व्याप्त होकर, अपने प्रजापति (मूल–उक्थ)–रूप को प्राजापत्य (बल–अर्क) रूपों में परिणत कर एकर्षि–यम–आदित्य भेद से तीन स्वरूपों में परिणत होरहे हैं। आप स्वयं (केन्द्रावच्छेदेन) प्रजापति हैं, एवं एकर्षि-यमादि आप के तीनों रूप आप के ही विवर्तभूत होते हुए प्राजापत्य हैं। ऐसे आप अपनी (कृष्ण) रश्मियों को फैलाइए! आप ही में त्रैलोक्य में व्याप्त हिरण्मय सौर तेज का (सत्यधर्म के दर्शन के लिए) संवरण कीजिए, समेटिए! आप का जो कल्याणतम रूप है, मैं उसे ही देखता हूं—(देखना चाहता हूं)। जो वह सौर हिरण्मय पुरुष है, वही मैं हूं"।

रय कृष्णतान को, पूषापरिच्छिन्न कल्याणतमरूप को । इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

> यत्ते कल्याणतमं रूपं तत्ते पश्यामि ।
> योऽसावसौ पुरुषः (हिरण्मयः) सोऽहमस्मि"
> (न तं पश्यामि–स तु–अहमेवेति भावः) ।

पूर्व के सन्दर्भ का निष्कर्ष यही हुआ कि पार्थिव अंगिरा भाग पूषा है । त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश भेद से इसके एकर्षि–यम–सूर्य–यह तीन प्राजापत्य रूप हैं । पूषा पृथिवी है । इसके साथ अहः (दिन) का भी सम्बन्ध है, रात्रि का भी सम्बन्ध है । अहः सौर भाग है, यह चाक्षुषपुरुष का प्रावरक होनें से अकल्याणरूप है । रात्रि का घोरतम भी आगन्तुक होता हुआ, अतएव चाक्षुषपुरुष का आवरक बनता हुआ अकल्याणरूप ही है । प्रातिस्विक छायाभाग ही इसका कल्याणतम रूप है । चाक्षुषपुरुष को न आप दिन में (धूप में) देख सकते, न रात्रि के अन्धकार में देख सकते ; वह दीखता है–छाया में । सत्यधर्मदर्शन के लिए हमें पूषा के छायारूप इसी कल्याणतम रूप पर दृष्टि जमानी चाहिए, छायामय भूतप्रधान पूषादेवता की ही उपासना करनी चाहिए ।

मन्त्रार्थ के आरम्भ में हमनें– पूषन्नेकर्षे यम सूर्य०' इत्यादि मन्त्र को "पूषाप्राण का कौनसा रूप सत्यधर्म का साक्षात् करवानें में समर्थ है" इस प्रश्न का समाधान करनें वाला बतलाया था । वास्तव में मन्त्र उक्त प्रश्न का ही प्रधान रूप से समाधान करता है । परन्तु केवल इसी अर्थ पर मन्त्र की व्याप्ति समाप्त नहीं होजाती । अपितु उक्तार्थ के साथ साथ ही यह मन्त्र वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञरूप जीव देवसत्य का भी निरूपण करता है । पूषा को चित्त भूपिण्ड समझिए । इस पर प्रतिष्ठित त्रिवृत्स्थानीय अग्नि एकर्षि है, पञ्चदशस्थानीय वायु यम है, एकविंशस्थानीय आदित्य सूर्य है । एकर्षि अग्निप्रधान वैश्वानर का, यम वायुप्रधान हिरण्यगर्भ का, सूर्य इन्द्रप्रधान सर्वज्ञ का स्वरूप संपादक है । पार्थिव पूषा प्रजापतिरूप महासत्य है, जिसका कि निरूपण आगे के प्रकरण में होनें वाला है । तीनों की समष्टि देवसत्य है, यही

प्राणात्मा है। मर्त्याग्निभूतमय शरीर है। इस भौतिक पूषाभाग का यह देवसत्यरूप अमृताग्नि ही कल्याणतम रूप है। सत्यधर्मरूप विज्ञान की उपासना के द्वारा मैं इसे ही देखना चाहता हूं। पूषा का कल्याणतम अमृतरूप 'मैं' (भोक्ता-देवसत्य) हूं, यह अमृत भाग उस ईश्वरीय अमृतपुरुष से अभिन्न है, मैं उसी का प्रत्यंश हूं।

१-एकर्षिः-प्राजापत्यः-अमृताग्निः-त्रिवृत्स्थानीयः-अग्निः-वैश्वानरः (वैश्वा०)
२-यमः--प्राजापत्यः-अमृताग्निः-पञ्चदशस्थानीयः-वायुः-हिरण्यगर्भः (तैजसः)
३-सूर्यः--प्राजापत्यः-अमृताग्निः-एकविंशस्थानीयः-इन्द्रः-सर्वज्ञः (प्राज्ञः)
} देवसत्यात्मा



वैश्वानर अग्नि-तैजस वायु-प्राज्ञ इन्द्र तीनों की समष्टि देवसत्यरूप जीवात्मा है। इसप्रकार यद्यपि 'अहं' भाव में अग्नि-वायु-इन्द्र तीनों प्रविष्ट हैं, तथापि हमारे में प्रधानता वायु की ही है। वायु ही हमारा वास्तविक आत्मा है। चिदाभास को ही जीवात्मा कहा जाता है। चित् का प्रतिबिम्ब ही चिदाभास है। इस चित् का प्रतिबिम्ब-'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' के अनुसार महान् पर ही प्रतिष्ठित है। मृत्युतत्त्व ही महद्ब्रह्म है। इस मृत्यु की आप-वायु-सोम यह तीन अवस्थाएं है। महद्ब्रह्म की इन तीन अवस्थाओं के कारण ही यह महत् प्रतिबिम्ब पानी-हवा-सोम इन तीन ही स्थानों में प्रतिष्ठित होता है। अतएव जीवसर्ग आप्य जीव, वायव्य जीव, सौम्य जीव भेद से तीन ही भागों में विभक्त है। पानी में रहने वाले मत्स्यादि जीव आप्य हैं। इन की चेतना का मूलाधार पानी ही है। यदि इन्हें हवा में रख दिया जाता है तो इन आप्य जीवों की चेतना उत्क्रान्त होजाती है। दूसरा विभाग वायव्य जीवों का है। पृथिवी पृष्ठ पर उत्पन्न होनें वाले जीव 'वायव्य' हैं। कृमि-कीट-पक्षि-पशु-मनुष्य-इत्यादि सब वायव्य जीव हैं। बिना वायु के इन की जीवनसत्ता नहीं रह सकती। इस

१-एकविंशस्तोम पर सूर्य है। २१ पर ही पार्थिव अमृतेन्द्र है। इसी स्थानाभिन्नता को लक्ष्य में रखकर उपनिषत् ने इन्द्र के लिए सूर्य शब्द का प्रयोग कर दिया है।

वायव्य जीवों को यदि अधिक समय तक पानी में रक्खा जाय तो हमारी जीवनसत्ता उत्क्रान्त होजाय। तीसरा विभाग सौम्य जीवों का है। राक्षस-पिशाच-यक्ष-गंधर्व-ऐन्द्र-पैत्र्य-प्राजापत्य-ब्राह्म भेदभिन्न अष्टविध सत्वविशालजीव सौम्य हैं। चान्द्रसोम ही इनकी चेतना का आधार है। उक्त जीवविभागों में से उपनिषदुपदेश हम वायव्य जीवों के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। हमारी अध्यात्मसंस्था में वायु ही प्रधान है। वैश्वानर अपान सम्बन्धी है, प्राज्ञभाग प्राण सम्बन्धी है, मध्यस्थ वायुरूप तैजसभाग व्यान सम्बन्धी है। जब तक मध्यस्थ व्यान वायु स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है, तभी तक जीवनसाधक प्राणरूप वैश्वानर-प्राज्ञ प्रतिष्ठित रहते हैं।

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥१॥
ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति अपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते ॥२॥ [कठ ५।५—३।]

उक्त श्रुति के अनुसार मध्यस्थ व्यानवायुमय तैजस ही जीवनसत्ता का कारण है। बीच में बैठा हुआ यह तैजस वायु इस ओर से पार्थिव रस लेता है, उस ओर से दिव्यरस लेता है। पार्थिवभाग अर्थप्रधान होनें से मर्त्य है, दिव्यभाग ज्ञानप्रधान होनें से अमृत है। मध्यस्थ वायु इधर अनुगत बनता हुआ मर्त्यभावापन्न है, उधर अनुगत रहता हुआ अमृतभावापन्न है। पार्थिवरस 'इरा' नाम से प्रसिद्ध है। महर्षि ऐतरेय नें इस पार्थिव इरा रस के सम्बन्ध से ही प्रज्ञानपुरुष को 'इरामय' बतलाते हुए परोक्षभाव से इसे हिरण्मय कहा है। विज्ञानपुरुष भी हिरण्मय है, प्रज्ञानपुरुष भी हिरण्मय है। दोनों ही हिरण्मय हैं, केवल स्वरूप में अन्तर है। विज्ञानपुरुष हिरण्य (अग्नि) मय होनें से हिरण्मय है, एवं प्रज्ञानपुरुष इरामय [पार्थिवान्नरसमय] होनें से हिरण्मय है। (देखिए ऐ० आरण्यक २।७।) । इस निदर्शन से प्रकृत में हमें यही कहना है कि पार्थिव मर्त्य भौतिक रस 'इरा' कहलाता है। सारा अर्थप्रपञ्च पार्थिव इरामय वैश्वानर से सम्बन्ध रखता है। भूतप्रधान होता हुआ यह बन्धन का कारण बनता हुआ मृत्यु-

मय है। जिस पुरुष का वायुमय आत्मा पार्थिव मर्त्य इरा की ओर [पार्थिव संपत्ति की ओर] झुक जाता है, उसका वह वायुरूप आत्मा इराप्रधान बनता हुआ मृत्युरूप बन जाता है। जब तक पार्थिव इरावित्त में आसक्ति है, तब तक अमृतत्व का अभाव है। 'नामृतत्त्वस्य तु-आशास्ति वित्तेन'। यदि वायुमय आत्मा पार्थिव इरारस की आसक्ति छोड़कर ज्ञानमूर्ति प्राज्ञ का आश्रय लेता हुआ 'अनिर' (इरा रहित) बन जाता है तो अमृतप्राज्ञ की प्रधानता से यह भी अमृतरूप बन जाता है–'ज्ञानान्मुक्तिः'। "दिवसत्त्व ही जीवात्मा है। उसमें प्रधान मध्यस्थ तैजस वायु है। यदि आप आत्मकल्याण चाहते हैं तो अपने इस वायुप्रधान आत्मा को 'अनिर' बनाइए, पार्थिव संपत्ति से आसक्ति करना छोड़िए। अनासक्ति–योगरूप बुद्धियोग द्वारा जब आपका वायुभाग अनिर बन जायगा तो विश्वास कीजिए, मर्त्यभाव से पृथक्‌ होता हुआ वह उसी समय–'अमृत' बन जायगा। इसी रहस्य का निरूपण करते हुए आगे जाकर ऋषि कहते हैं—

"वायुरनिलममृतम् ·················· ।
······························· ॥"

(ई० उ० १७ मं०)।

(यदा वायुः (मध्यस्थस्तैजसात्मा) अनिलो–(अनिरो-पार्थिवरसासक्तिविरहितो) भवति–अथ स आत्मा अमृतभावयुक्तो भवति)—

पार्थिव धातु इरा है, इस से भौतिक शरीर बनता है, यही वाक्‌रूपा भूतचिति है। आन्तरिक्ष धातु वायु है, यही ओज बनता है, यही प्राणचिति है। दिव्य धातु इन्द्र है, इस से मन बनता है, यही देवचिति है। इस प्रकार त्रैलोक्य के तीनों विवर्तों से अध्यात्म के उक्त तीनों विवर्तों का निर्माण होता है। दिव्यलोक मनोमय है, अन्तरिक्षलोक प्राणमय है, पृथिवीलोक वाङ्मय है—(देखिए मैत्रायणीसंहिता········)। शरीर मर्त्य है, मन अमृत है। प्राणवायु दोनों के मध्य में है। यदि यह इयर है तो मृत्युभावापन्न है, अनिर है तो अमृत है।

१—शरीरम्—वाक्—पार्थिवधातुः——अग्निः (मृत्युः)—हरणमयः (वायुर्मृत्युमयः)

२—ओजः—प्राणः—अन्तरिक्ष्यं बलम्—वायुः

३—मनः—मनः—दिव्यं ज्ञानम्——इन्द्रः (अमृतम्)-हिरण्मयः(वायुरनिलममृतम्)



इस प्रकार हमारा यह प्राणात्माधिकरण देवसत्य से अविनाभूत वायुपुरुष की उपासना का उपाय बतलाता हुआ, देवसत्य का निरूपण करता हुआ, सर्वान्त में उसे वायुप्रधान बतलाता हुआ, साथ ही में आत्मा के अमृतभाव के लिए पार्थिव विषयों में अनासक्ति रखने का आदेश देता हुआ समाप्त होता है।

इति—प्राणात्माधिकरणम्



प्राकृतात्माधिकरणे

प्राणात्माधिकरणं

समाप्तम्

५



पूर्णमदः →→——→
६–भूः →→——→
अधिदैवतम् →→——→

भूतवैभव

पूर्णमिदम्
६–शरीरम्
अध्यात्मम्

ब्रह्मसत्यान्तरः—

बीज-दैवत-भूतमयः प्राकृतात्मा भूः

शरीरम्

६

भूः←——←←←मर्त्यान्नादः→→→——→शरीरम्

(प्राकृतात्माधिकरणे शरीरात्माधिकरणम्)

यज्ञमात्रिकवेदावच्छिन्नः-वीज-देव-भूतमयात्मा

चित्यात्मा

१–··················अथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।

ओं क्रतो स्मर, कृतं स्मर, क्रतो स्मर, कृतं स्मर ॥

(ईशोपनिषत् १७ मन्त्र) ।





शरीरात्मस्वरूपनिदर्शन

१–पञ्चात्मकं पञ्चसु वर्त्तमानं षडाश्रयं षड्गुणयोगयुक्तम् ।
तं सप्तधातुं त्रिमलं द्वियोनिं चतुर्विधाहारमयं **शरीरम्** ॥
(गर्भोपनिषद्) ।

२–खं-वायु-र्ज्योति-रापश्च-**पृथिवी** विश्वस्य धारिणी ॥
(कैवल्योपनिषद्) ।

३–भस्मनिष्ठस्य दह्यन्ते दोषा भस्माग्निसंगमात् ।
भस्मस्नानविशुद्धात्मा भस्मनिष्ठ इति स्मृतः ॥
(बृहज्जाबालोपनिषत्)

४–अथ यैतेषां सप्तानां पुरुषाणां श्रीः, यो, रस आसीत्, तमूर्ध्वं समुदौहन् । तदस्य शिरोऽभवत् । यच्छ्रियं समुदौहन्, तस्माच्छिरः । तस्मिन्नेतस्मिन् प्राणा अश्रयन्त, तस्माद्वेवैतच्छिरः । अथ यत् सर्वस्मिन्नश्रयन्त, तस्माडु **शरीरम्** ॥
(शत.६ ब्रा० ६ कां ।१ प्र. ।१ ब्रा. ।४ कं.)।

५–"आत्मा वै तनूः" (शत० ६।७।२।६।)।
६–"आत्मनो ह्येवाध्यङ्गानि प्ररोहन्ति" (शत० ८।७।२।१५) ।
७–"पाङ्क्त इतर आत्मा (शरीरं) लोम–त्वङ्–मांस–अस्थि–मज्जा" (तां. ब्रा. ५।१।४) ।
८–"षडङ्गोऽयमात्मा (शरीरं) षड्विधः" (कौ० ब्रा० २०।३) ।
९–"तस्मादितर आत्मा (शरीरं) मेद्यति च कृश्यति च" । (तां. ब्रा. ५।१।७) ।
१०–"भूमोऽएषोऽङ्गानां यदात्मा (शरीरम्)" (शत. ६।६।१।१०) ।

११–"तस्मादयं सर्व एवात्मा (शरीरं) उष्णः (अग्निमयः)।
तद्धैतदेव जीविष्यतश्च मरिष्यतश्च विज्ञानम्।
उष्ण एव जीविष्यन्, शीतो मरिष्यन्" (शत. ८।७।३।११)।

१२–"तत् सर्व आत्मा (शरीरं) वाचमप्येति, वाङ्मयो भवति" (कौ. ब्रा. २।७)।

१३–"बाह्यो ह्यात्मा (शरीरम्)," (शत. ६।६।२।१६)।

१४–"सप्तपुरुषो ह्ययं पुरुषः [शरीरं], यच्चत्वार आत्मा,
त्रयः पक्षपुच्छानि" [शत० ६।१।१।६])।

१५–"आत्मा [शरीरं] एव–उखा" (शत० ६।५।३।४)।

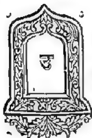




॥ श्रीः ॥

महाभूतानि सत्त्वानि संहतानि क्रमेण च।
सप्तधातुमयो देहो दग्धो योगाग्निना शनैः ॥१॥
यथाकाशस्तथा देह आकाशादपि निर्मलः।
सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरो दृश्यः स्थूलात् स्थूलो जडाजडः ॥२॥
घृतमिव पयसि निगूढं भूते भूते च वसति विज्ञानम्।
सततं मन्थयितव्यं मनसा मन्थानभूतेन ॥३॥





पनिषत् का वक्तव्य विषय प्रायः समाप्त है। आत्मदृष्टि की अपेक्षा से अध्यात्मसंस्था में जो तात्त्विक अंश थे, उनका क्रमिक निरूपण कर उपनिषदर्थ गतार्थ है। जो संसारी उक्त आत्मविवर्तों को न पहिचान कर केवल शरीर की आराधना में ही निमग्न रहते हुए भोग–ऐश्वर्यों में तल्लीन रहते हैं, जिन यथाजात मूढ मनुष्यों के जीवन का एकमात्र उद्देश्य शरीर परिपालन ही है, जिन्होंने–"खाना-पीना मौज़ उड़ाना" (eat drink and be marry) इसी सिद्धान्त को अपने जीवन का परम पुरुषार्थ मान रक्खा है, उन का वह प्रियतम शरीर एक दिन भस्मसात् (राख की ढेरी) होने वाला है। यदि उन्होंने इसी शरीर में प्रतिष्ठित उक्त आत्मसंस्थाओं को न पहिचाना तो अन्त में शरीर तो एक दिन मिट्टी में मिलही जायगा, साथ ही में यह यथाजात इस जन्म-मृत्युपरम्परालक्षण दुःखार्णव से भी कभी छुटकारा न पासकेंगे। अमृतात्मा निकल गया, रह गया भस्मान्त शरीर।

विश्वास करो जो शरीर एक दिन भस्म बननें वाला है, इसी भस्मान्त शरीर में अमृतात्मा से अनुग्रहीत कर्म्मात्मा प्रतिष्ठित है। उसके स्वरूप को पहिचानो। कर्म्मात्मा द्वारा प्रज्ञानात्मा [अन्तर्मन] पर, प्रज्ञानद्वारा विज्ञानात्मा [बुद्धि] पर, विज्ञानद्वारा महानात्मा पर, महान् द्वारा

अव्यक्त नाम से प्रसिद्ध शान्तात्मा पर पहुंचते हुए, पराकाष्ठा रूप उस पुरुष तत्व को प्राप्त कर अपना जन्म, एवं जीवन सफल करलो। इस दुर्लभ मानव शरीर को पाकर भी यदि तुमनें अपना जन्म एवं जीवन, निरर्थक ही गमा दिया तो तुमनें अपना सबसे बड़ा अनिष्ट कर लिया। यही शरीर आत्मदृष्टि से तुम्हारे उद्धार का साधन है, यही शरीर तुम्हारे सर्वनाश का कारण है। इसी भाव का बड़े सुन्दर शब्दों में दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है —

१-इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ (केनोपनिषद् २।१३)।

२-अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते ॥ (कठोप० ५।४।)।

३-इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ (कठ० ६।४)।

जिस प्रकार महाविश्व उस विश्वव्यापक ईश्वर का शरीर है, एवमेव हमारे जीवात्मा का यह भौतिक शरीर हमारा विश्व है। ईश्वरतत्व शरीरापेक्षया ८४ अगुल का है, इधर जीवतत्व भी अपने विश्व की अपेक्षा से ८४ अंगुल का ही है। दोनों का आकार समान है, तभी तो "पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्" (मनुष्य ईश्वर के बहुत समीप है, ईश्वर से मिलता जुलता है—(शत. २।५।१।१) यह श्रुति चरितार्थ होती है। ईश्वर और पुरुष ही क्या, प्रत्येक प्राणी का शरीर अपने अगुल के परिमाण से ८४ अंगुल का ही होता है। एक ६ महीनें का बच्चा भी ८४ अंगुल का ही है, एक युवा भी ८४ अगुल का ही है। कारण इस का यही है कि आत्मसृष्टि का मूल स्तम्भ अष्टाक्षर गायत्री छन्द माना गया है, जैसा कि पूर्व में विस्तार से बतलाया जा चुका है—(देखिए ई. उ. हि. ख. प्रज्ञानात्माधिकरण पृ. सं. ३१० से ३१३ पर्यन्त)। "अष्टाक्षरा वै गायत्री" इस सिद्धान्त के अनुसार गायत्री को आठ अक्षर का छन्द माना गया है। प्राणतत्व का ही नाम अक्षर है। एवं "प्रादेशमितः प्राणः" (ऐ. आ. १।२।४) के

अनुसार प्राणतत्त्व प्रादेश परिमित स्थान में अपनी व्याप्ति रखता है। अंगुष्ठ और तर्जनी को फैला दीजिए। इन दोनों के मध्य का जितना प्रदेश होगा, वही प्रादेश कहलावेगा। यह अंगुली-परिमाण की अपेक्षा से १०॥ अंगुलमित होगा, जैसा कि-"अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्" इत्यादि से स्पष्ट है। निष्कर्ष यह हुआ कि प्रत्येक प्राण की व्याप्ति १०॥ अंगुलावच्छिन्न प्रदेश में रहती है। गायत्री में ऐसे आठ प्राण, किंवा आठ अक्षर हैं। फलतः पूरे गायत्री छन्द की व्याप्ति ८४ अंगुलमयी बन जाती है। ब्रह्मरन्ध्र से कण्ठ तक एक प्रादेश है। कण्ठ से हृदय तक दूसरा प्रादेश है। हृदय से नाभि तक तीसरा प्रादेश है। नाभि से ब्रह्मग्रन्थि (गुदस्थान) पर्य्यन्त चौथा प्रादेश है। ब्रह्मग्रन्थि से गोडों की कपाली तक दो प्रादेश हैं। यहां से पाद पर्य्यन्त दो प्रादेश हैं। सम्भूय आठ प्रादेश हो जाते हैं। इस प्रकार आठ प्रादेशों से शरीर चोरासी अंगुल का होजाता है। इन आठों प्रादेशों में क्रमशः सत्य, तप, जनत्, महः, स्वः, भुवः, पृथिवी, भूः इन आठ पर्वों का उपभोग है। ईश्वर शरीर सप्तवितस्तिकाय नाम से प्रसिद्ध है। जैसा कि—"संवेष्टितारण्डघटसप्तवितस्तिकायः" (भागवत) इत्यादि पुराण-सिद्धान्त से स्पष्ट है। अंगुष्ठ से कनिष्ठिका अंगुली पर्य्यन्त जो वितत प्रदेश है, उसे ही वितस्ति (बिलांत) कहा जाता है। यह प्रदेश १२ अंगुल मित है। ईश्वर शरीर में भूः-भुवः-स्वः-महः-जनत्-तपः-सत्यम्-यह सप्तलोकात्मिका सात वितस्तिएं हैं। संभूय विश्वात्मक ईश्वर शरीर भी चौरासी अंगुल का ही हो जाता है-(१२+७—८४)। जैसी स्थिति इस आध्यात्मिक पुरुष की है, ठीक वही स्थिति उस आधिदैविक पुरुष की है। केवल मध्यस्थ आधिभौतिक प्रपञ्च ने दोनों में भेद उपस्थित कर रक्खा है। देखिए!

> योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविकः।
> यस्तत्रोभयविच्छेदः पुरुषो ह्याधिभौतिकः॥
>
> [श्रीमद्भागवत द्वि० स्कं० १० अ० ८ श्लो०]

ईश्वर के उक्त सात पर्वों के आठ पर्व होजाते हैं। सातवें, किंवा पहिले भूपर्व के भूः-पृथिवी दो विभाग हैं, जैसा कि पूर्व के प्राणात्माधिकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है।

यह आठों ही पर्व-'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्' इस सिद्धान्त के अनुसार अमृत-मर्त्य भेद से दो दो भागों में विभक्त हैं। इन अमृत भागों की समष्टि आत्मसंस्था है, एवं मर्त्य भागों की समष्टि विश्वसंस्था है। विश्व क्षरप्रधान है, आत्मा अव्ययगर्भित अक्षरप्रधान है। क्षर भूतमात्र है, भूत ही भूति है, भूति ही भस्म है, यही भस्मान्त विश्व है। ठीक यही क्रम अध्यात्म में हैं। अधिदैवत की अमृतमयी आत्मसंस्था से अध्यात्मसंस्थाओं का उदय होता है, एवं विश्वसंस्था से शरीर का स्वरूप निष्पन्न होता है। विश्व का क्या स्वरूप है ? एवं विश्वांशभूत शरीर का क्या स्वरूप है ? इन सब विषयों का विशद निरूपण ईशभाष्य के प्रथमखण्ड में किया जाचुका है-(देखिए ई. उ. प्र. खं. विश्वनिरुक्ति ३४७ से ३८० पृष्ठ पर्यन्त)। अतः यहां पिष्टपेषण की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रकृत में केवल यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि हमारे शरीर का निर्माण यद्यपि भूपिण्ड से हुआ है, परन्तु भूपिण्ड पञ्चात्मक, किंवा सप्त लोकात्मक है। अतः तदुत्पन्न शरीर में भी विश्व के सभी भौतिक प्रत्यंशों का समावेश सिद्ध होजाता है। आपाद-मस्तक शरीर भौतिक है। इसमें उक्त आठों पर्वों का भोग होरहा है, जैसा कि आगे के परिलेख से स्पष्ट होजायगा।

उक्त शरीरसंस्था का निरूपण करता हुआ ही निम्न लिखित मन्त्र हमारे सामने आता है-

......................अथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
ओं क्रतो स्मर, कृतं स्मर, क्रतो स्मर, कृतं स्मर॥

(ई० उ० १७ मन्त्र)।

'अथेदं भस्मान्तं शरीरम्' इस वाक्य से उपनिषत् को यही बतलाना है कि मर्त्य का वायुरूप आत्मा अनिल (अनिर) बनता हुआ अमृतभाव को प्राप्त होजाता है, परन्तु शरीर भस्मीभूत बनकर यहीं रह जाता है। इस प्रकार यह ईशोपनिषत् उपक्रमस्थानीय षोडशी-पुरुष से आरम्भ कर उपसंहार स्वरूप शरीरपर्यन्त सम्पूर्ण आत्मविभागों का संक्षेप से निरूपण करती हुई अपने—"सर्वोपनिषद्" "पूर्णोपनिषद्" इत्यादि नामों को चरितार्थ कर रही है।

उपनिषदादेश समाप्त हुआ। ईश्वर-एवं जीव दोनों का स्वरूप हमारे सामनें रखकर सर्वान्त में उपनिषत् हमें आदेश करती है कि "यदि तुम ज्ञानकर्ममय पूर्वोक्त आत्मस्वरूप का यथार्थ स्वरूप जानना चाहते हो तो क्रतु का स्मरण करो, एवं कृत का स्मरण करो। अध्यवसायवृत्ति क्रतु है। 'अहमिदं करिष्यामि' (मैं यह करूंगा) इस मानसवृत्ति का नाम ही क्रतु है। इस क्रतु की सफलता 'दक्ष' है। कार्यसिद्धि दक्षभाव है, तदर्थ होनें वाला संकल्प (इरादा) क्रतुभाव है। पहिले क्रतु होता है, अनन्तर कृतरूप दक्षभाव का उदय होता है। प्रत्येक कर्म में क्रतु-दक्ष (क्रतु-कृत) दोनों भाव निविष्ट हैं। मनोयुक्त प्राणव्यापार क्रतु है, वाग्व्यापार कृत है, दोनों का आलम्बन मन है। मन से कामना का उदय होता है, तदनुकूल प्राणव्यापार हो पड़ता है, तदनन्तर वाग्व्यापार होता है, कर्म सिद्ध होजाता है। प्राणव्यापार कामनामय है, अतएव क्रतु को मानस व्यापार भी मान लिया जाता है, जैसा कि-श्रुति कहती है-

"स यदेव मनसा कामयते-इदं मे स्यात्, इदं कुर्वीय-इति, स एव क्रतुः।"
(शत० ४।१।४।१)।

"हृत्सु ह्ययं क्रतुर्मनोजवः प्रविष्टः" (शत० ३।३।४।७)।

इरादा क्रतु है, इरादे से जो कर्म किया जाता है वह कृत है। जो मनुष्य अपने क्रतु और कृत पर पूर्ण दृष्टि रखता है, वही आत्मबोध में समर्थ होता है। लौकिक विषय-सम्बन्धी क्रतु और कृत आसक्ति के कारण हैं, आत्मानुग्राहक क्रतु एवं कृत अनासक्ति के कारण हैं। 'क्या इरादा था, क्या किया' इस प्रकार प्रत्येक कर्म में दोनों पर दृष्टि रक्खो। इससे सदसद्विवेक होगा, अच्छे बुरे की पहिचान होगी। फलतः सत्कार्य में प्रवृत्ति होगी, असत् कर्मों से निवृत्ति होगी। आत्मबोध के लिए प्रत्येक दशा में-'हमारा क्या इरादा था, हमनें क्या करडाला'

* किं नु मे स्यादिदं कृत्वा किं नु मे स्यादकुर्वतः।
इति संचिन्त्य मेधावी सततं कर्म्म व्यापरेत्॥

इस विचारधारा को लक्ष्य में रक्खो ! इस विचारधारा से कालान्तर में तुम्हें यथार्थ परिस्थिति का ज्ञान होजायगा। आत्मज्ञान के लिए क्रतु और कृत के स्मरण से अतिरिक्त और कोई श्रेष्ठ उपाय नहीं है।

अपि च तुमनें आत्मोपनिषत् सुनी, आत्मा का शब्दद्वारा (शास्त्रद्वारा) तुम्हें परिज्ञान हुआ। परन्तु यह शाब्दिक ज्ञान तब तक सर्वथा निरर्थक है, जब तक कि तुम तदनुकूल क्रतु-और कृत का आश्रय न लो। "आत्मा नित्य है, हम और वह अभिन्न हैं, हम साक्षात् ब्रह्म हैं" इस प्रकार केवल मुख से शब्द कह देनें से ही आत्मबोध नहीं हुआ करता। आत्मबोध के लिए जहां आत्मस्वरूप श्रवण आवश्यक है, तथैव (श्रवणानन्तर) मनन-निदिध्यासन भी आवश्यक हैं। "आत्मारे वाय द्रष्टव्यः-(कथं द्रष्टव्यः) ? श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"। सुनो, मनन करो, अन्तरात्मा में दृढ़ करो, तभी आत्मसाक्षात्कार होगा। मन्तव्यः-क्रतुभाव है, निदिध्यासितव्यः-कृतभाव है। श्रवणानुकूल संकल्प रक्खो, संकल्पानुकूल आत्मोपयोगी निष्काम कर्म करो, यही आत्मबोध के मुख्यद्वार हैं-"कृतो स्मर-कृतं स्मर"। "अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' के अनुसार पुनरुक्ति दृढता के लिए है। साथ ही में यहीं उपनिषत् समाप्त है, इस समाप्ति सूचना के लिए भी द्विरुक्ति है। "क्रतु का स्मरण करो, कृत को स्मरण में रक्खो" यही कल्याण का अन्यतम मार्ग है।

इति शरीरात्माधिकरणम् ।



६
उभयोः सत्यात्मनोरभिन्ना-ऐकात्म्यम्

स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी यह पांच ईश्वरीय ब्रह्मसत्य हैं, अव्यक्त-महान्-विज्ञान प्रज्ञान-शरीर यह पांच जीव ब्रह्मसत्य हैं। सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-वैश्वानर

इन तीनों की समष्टि ईश्वरीय देवसत्य है,एवं प्राज्ञ-तेजस-वैश्वानर की समष्टि जीवदेवसत्य है। यह ब्रह्मसत्य और देवसत्य दोनों ही सत्यात्मा अग्निरूप हैं। देवसत्य की अग्निता तो स्पष्ट ही है। उधर ब्रह्मसत्य के पांचों पर्वों में स्वयम्भू वागग्निमय है, सूर्य देवाग्निमय है, पृथिवी अन्नादाग्निमयी है। मध्यपतित परमेष्ठी एवं चन्द्रमा अग्नसोमरूप होने से अग्निगर्भित होते हुए अग्निरूप ही हैं। वेदाग्निमूर्त्ति षोडशी पुरुष भी अग्निविभूति से पृथक् नहीं है। इस प्रकार आत्मा-ब्रह्मसत्य-देवसत्य सब का अग्निमयत्व सिद्ध होजाता है। आत्मसत्य से ब्रह्मतत्व सत्य है, ब्रह्मसत्य से देवतत्व सत्य है—'सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्'। यह सत्यतत्व साक्षात् अग्नि है। सम्पूर्ण आत्मविभूति का इसी अग्निरूप से निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥

(ईशोप० १८ मं०)।

मन्त्र का अर्थ स्पष्ट है। केवल 'वयुन' शब्द का अर्थ जानलेना आवश्यक है। अम्भोवाद के अनुसार सारा विश्व 'वयुन' है। सत्यदृष्टि से, भातिदृष्टि से, एवं उभयदृष्टि से आप जो कुछ पदार्थ प्राप्त करते हैं, एवं देखते हैं, वे सब वयुन हैं। विश्वरूप वयुन ईश्वरप्रजापति का भोग्य पशु है, अतएव वयुन को 'ब्रह्म' कहा जाता है। इस वयुन में वय-वयोनाध यह दो विभाग हैं। प्रत्येक वस्तु में वस्तु और उस का आकार यह दो भाग रहते हैं। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिस का कोई आकार न हो। इस आकार से वह वय्रूप वस्तु घिरी रहती है, बद्ध रहती है। अतएव वय को बद्ध रखने वाला यह आकारभाव 'वयोनाध' नाम से प्रसिद्ध है। यही वयोनाध याज्ञिक परिभाषा में 'छन्द' नाम से व्यवहृत हुआ है। वयोनाध रूप छन्द से छन्दित (सीमित) वस्तुमात्र ही वय है। वय-वयोनाध की समष्टि ही वयुन है। अनन्त वयुनों की समष्टि विश्व है। विश्व एक महा वयुन है, विश्व में रहने वाले अवान्तर सारे वयुन क्षुद्र वयुन हैं। इन वयुनों का जानने वाला (स्वरूपसंपादन करने वाला), अतएव 'जातवेदा'

नाम से प्रसिद्ध अग्नि ही है। इसी वयुनवित् विश्वमूर्त्ति अग्नि का स्वरूप बतलाते हुए ऋषि कहते हैं—

"हे अग्ने! आप संपत्ति (आत्मसम्पत्ति-एवं विश्वसम्पत्ति) के लिए हमें अच्छे मार्ग से ले चलिए। क्योंकि संसार की वयुनरूप जितनी भी सम्पत्ति है, आप ही उस सबके अन्यतम, ज्ञाता हैं। हमारे आत्मा को कुटिल बनानें वाला [असन्मार्ग में ले जानें वाला] जो पाप्मा है, उसे हमसे पृथक् कीजिए। हे अग्ने! हम आपके लिए बार बार नमः वाक् का उच्चारण करते हैं-[आपके अन्न बनते हैं]"। स्वाहा-स्वधा-स्वगा-वौषट्-श्रौषट्-नमः आदि भेद से अन्न के कई भेद हैं। इनमें मनुष्यरूप अन्न 'नमः' है। 'हम आपको नमस्कार करते हैं' इसका तात्पर्य यही है कि हम आपके भोग्य (अन्न) बनते हैं। अग्नि अन्नाद है। अन्न इसकी प्रसन्नता का कारण है। आज हम स्वयं 'नमः' बोलते हुए इस अग्नि के नमः रूप अन्न बन रहे हैं। इस प्रकार ब्रह्मसत्य-देवसत्यात्मभूत वयुनाधिष्ठाता, सन्मार्गप्रवर्त्तक इसी अग्निदेव को भूयो-भूयः नमस्कार करते हुए यह उपनिषत् समाप्त होती है।

ओं पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

ओं शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

इति वाजसनेयोपनिषत्-विज्ञानभाष्यं सम्पूर्णम्।



⊰ एषा काम ब्राह्मी उपनिषत् ⊱

उपनिषत्-निष्कर्ष

तत्त्वविवेक के अभाव से मनुष्य अपना स्वरूप भूलता हुआ यावज्जीवन फलाशापूर्वक भोगों में ही प्रवृत्त रहता है।

> भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
> व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते" (गीता० २।४४)

इस स्मार्त्त उपनिषत् के अनुसार जो व्यक्ति भोगैश्वर्य का वास्तविक रहस्य न समझते हुए कामना पूर्वक इनमें अहोरात्र प्रवृत्त रहते हैं, दूसरे शब्दों में जिनके जीवन का चरम लक्ष्य एक मात्र सांसारिक भोग-वैभव ही हैं, उन अविवेकी मनुष्यों का भोगासक्त मन चञ्चल रहता है। मन के साथ बुद्धि का घनिष्ठ सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में सोमरसमय मन पर प्रतिबिम्बरूप से बुद्धि प्रतिष्ठित है। जिस प्रकार वायु के आघात से समुद्र से पार लेजानें वाली नौका डगमगा जाती है—(वायुर्नावमिवाम्भसि—गीता), अथवा जिस तरह पानी के हिल जानें से तत्प्रतिष्ठ सूर्यप्रतिबिम्ब हिल पड़ता है, ठीक इसी तरह कामासक्तिस्थानीय वायु के आघात से चञ्चल बना हुआ समुद्र, किंवा अप्स्थानीय मन तत्प्रतिष्ठ नौकास्थानीय बुद्धि को चञ्चल बना देता है। बुद्धि के साथ 'महान्' नाम से प्रसिद्ध 'चित्त' की स्वाभाविक स्थिरता मारी जाती है। चित्त का सत्वभाव उत्क्रान्त होजाता है, रजोमिश्रित तमोभाव बुद्धि और मन पर आक्रमण कर लेता है। ऐसी मलिन बुद्धि कभी आत्मशान्तिलक्षणा समाधि में प्रतिष्ठित नहीं रह सकती। भले ही ऐसा संसारी कहनें भर को अपने आप को सुखी समझता रहे, परन्तु यदि इस से शपथ पुरस्सर पूछा जाय तो इसे वही उत्तर देना पड़ेगा, जो कि उद्गार कामकामी महाराज ययाति के मुख से निकले थे। पुरु द्वारा प्राप्त युवावस्था से भी जब ययाति की तृप्ति न हुई तो खिन्न होकर अन्त में उन्हें कहना पड़ा—

> न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
> हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥

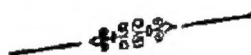
इस प्रकार अविवेक के द्वारा दुःखाणव में निमग्न प्राणियों के समुद्धार के लिए ही ईशोपनिषत् प्रवृत्त हुई है। उपनिषत् का वक्तव्यांश केवल यही है कि "तुम ईशदृष्टि से भोग मार्ग में प्रवृत्त रहते हुए निष्कामबुद्धि से यावज्जीवन कर्म करते रहो"। निष्कामभाव से कर्म करते करते कालान्तर में तुम्हारा मन अनासक्त बन जायगा, प्रज्ञा स्थिर होजायगी, मन की स्थिरता से बुद्धि स्थिर होजायगी। बुद्धि की स्थिरता से चित्तप्रसाद होगा–'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते'। प्रकृत उपनिषत् में निम्न लिखित ६ वाक्यों पर ही दृष्टि रखनी चाहिए—

१—तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा !
२—मा गृधः कस्यस्विद्धनम् !
३—कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेत् !
४—योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम् !
५—क्रतो स्मर, कृतं स्मर !
६—अग्ने नय सुपथा राये !

—:o:—

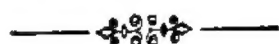
१–ईश से छोड़े हुए भाग का (ही) भोग करो !
२–किसी की सम्पत्ति पर नियत मत डिगाओ !
३–काम करते हुए ही जीवित रहने की इच्छा करो !
४–जो आदित्य में आत्मा है, वही तुम हो !
५–अपने इरादे को लक्ष्य में रक्खो, जो करचुके हो उसे लक्ष्य में रक्खो !
६–साथ ही में अपने बल (अग्निबल) का ठीक मार्ग में उपयोग करो !

१- तुम्हें अपने जीवन में जो कुछ भोग मिलने वाला है, वह उस अन्तर्यामी की प्रेरणा से (तुम्हारे ही सञ्चित कर्मों के अनुसार) पहिले से ही नियत है। 'जात्यायुर्भोगाः' इस सिद्धान्त के अनुसार तुम्हारी जाति (योनि), आयु, और भोग तीनों पहिले से ही नियत हैं। तुम्हें जो कुछ मिलने वाला है, वह तुम्हारा भागधेय (हिस्सा) है, उसे दूसरा नहीं बदा सकता, साथ ही में तुम दूसरे का ले भी नहीं सकते। मिलने वाला मिल ही जायगा, न मिलने वाला नहीं ही मिलेगा। विश्वास करो! भोजन तुम्हारे जीवन के लिए है, जीवन भोजन के लिए नहीं है। भोजन को जीवन का दास समझो, जीवन को भोजन का गुलाम मत बनाओ! व्यसनों के दास मत बनो, व्यसनों को अपना दास बनाओ! खाने के लिए जिवित मत रहो, जीवित रहने के लिए खाओ! भोजन की दासता में तुम स्वयं संसार के भोजन बन जाओगे, एवं भोजन को अपना दास बनालेने से संसार तुम्हारा भोग्य बन जायगा। यदि ऐसा नहीं करोगे तो—

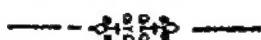


२- तुम्हारी लिप्सा, तुम्हारी फलाकांक्षा, तुम्हारी वाञ्छा तुम्हारे आत्मा को गिरा देगी। तुम्हें अन्न की दासता में आत्मसमर्पण करना पड़ेगा, कंकरों के लिए हीरों की भेट चढ़ानी पड़ेगी, अल्पलाभ के लिए सर्वस्व खोदेना पड़ेगा, अर्थ की दासता में तुम्हें परमुखापेक्षी बनना पड़ेगा, दूसरों की झिड़कियां सहनी पड़ेगी। सोचो! (मन का व्यापार करो), विचारो (बुद्धि से कामलो)! सोच समझकर कल्याणपथ का आश्रयलो। तुम क्यों दूसरों की संपत्ति में लिप्सा रखते हो। क्या तुम मनुष्य नहीं हो! क्या तुम्हारे पास बुद्धिबल नहीं है! क्या तुम उस सर्वज्ञानघन के अंश नहीं हो! हो और अवश्य हो! तुमने अपने प्रज्ञापराध (नासमझी-गलती) से अपना विभूतिभाव भुला रक्खा है। उठो! जागो!! वेदपुरुषद्वारा प्रदत्त वर से आगे बढ़ते चलो!!! आत्मदेवता तुम्हारे साथ है। तुम्हें किस का डर है, तुम्हारे पास क्या कमी है। जानते हो आत्मदेवता कब तुम्हारे ऊपर अनुग्रह करेंगे! कब

तुम्हें आत्मबल (Will Pawor) मिलेगा ? कब तुम्हारी गर्दा छूटेगी ? कब तुम भोगों के पञ्जे से छूटोगे ? नहीं तो सुनो !



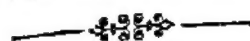
३— जो मनुष्य फल को अपनें अधिकार से बाहर की वस्तु समझता हुआ अनन्यभाव से केवल कर्म्म में प्रवृत्त रहता है, विश्व की विभूति उस के चरणों में लौटा करती है। फल को तुम उत्पन्न नहीं करते, फल उत्पन्न होता है तुह्मारे कर्म्म से। तुम कर्म्मदशा में ही जब फल की चर्वणा करनें लगते हो तो परिणाम इस का यह होता है कि तुह्मारा मन दोनों तरफ़ बट जाता है, अनन्यता जाती रहती है। कर्मसिद्धि में जितना बल अपेक्षित है, वह बट जाता है, कर्म अपूर्ण रह जाता है। फलतः पूर्ण कर्म्म से सम्बन्ध रखनें वाले पूर्णफल का उदय नहीं होता। इस प्रकार कर्म्मप्रवृत्तिकाल में फल की आशा रखते हुए तुम स्वयं ही फलनाश के कारण बन जाते हो। यही नहीं, फलाशासंस्कार से तुह्मारा मन लिप्त होजाता है, स्पृहा बढ़ जाती है। यदि तुम स्पृहा हटाना चाहते हो, निस्तृष्ण बनना चाहते हो तो कर्म्मप्रवृत्तिकाल में सर्वथा अनधिकृत फलाशा का परित्याग करते हुए शास्त्रसिद्ध चातुर्वर्ण्यधर्म्ममूलक कर्म्मों में निष्कामबुद्धि से प्रवृत्त रहो। भोगलिप्सा के लिए जीवित रहनें की इच्छा मत करो, कर्म्म करनें के लिए जीवित रहनें की इच्छा करो। परिणाम इस का यह होगा कि कर्म्म की अनन्यता से फलाभिसन्धि में भी सन्देह न रहेगा, एवं फलाशा से सम्बन्ध रखनें वाला संस्कार लेप भी न होगा। अरे ! तुम किन तुच्छ फलों की आसक्ति में पड़े हुए हो। त्रैलोक्य की समृद्धि के अधिष्ठाता आदिम पुरुष के वंशज होकर इन तुच्छ सम्पत्तियों के पीछे दौड़ते हुए तुम अपनें वंशजों की कीर्ति मिट्टी में मिला रहे हो। सोचो तुम कौन हो, कहां से आए हो, क्या करना चाहिए था, क्या कर रहे हो। यदि तुम यह नहीं जानते कि तुम क्या हो तो सुनो, हम बतलाते हैं।



४– सूर्य तुम्हारे सामने है। त्रैलोक्य इस के प्रकाश से प्रकाशित है। "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" (यजुः सं०) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार हम उसी के अंश हैं। अंश अंशी से अभिन्न है। फलतः जो वह है, वही हम हैं। "हम कौन हैं" इस का यही सच्चा इतिहास है। जिन धोकेबाजों ने तुम्हारे इतिहास का स्वरूप विकृत कर तुम्हारे आत्मगौरव का अपहरण कर रक्खा है, एवं जिस कल्पित इतिहास को मोहवश सत्य समझते हुए तुम अपनी जन्मसिद्ध स्वतन्त्रता से वञ्चित होरहे हो, कलङ्कित, कल्पित, कुत्सित, कुकर्ममय उस मिथ्या इतिहासग्रन्थ के पत्रों को जला डालो। अपने अतीत गौरव के सच्चे इतिहास का अन्वेषण करो। वह मिलेगा तुम्हें अपने ऋषियों की वाणी में, उपनिषदों में। वह इतिहास अजर अमर है, अतएव अमिट है। अपने इस सत्य आत्मइतिहास के बल पर तुम जन्मसिद्ध उस आत्मानन्दमूला स्वतन्त्रता को प्राप्त करने में समर्थ बनोगे। परन्तु इतना ध्यान रखना कि इतिहास देखने में कहीं प्रमाद न हो जाय। कर्म्म करो, परन्तु सावधानी से। आंख मीच कर यथेच्छाचारी मत बनना। अपितु निम्न लिखित सिद्धान्त को सदा अपने सामने रखते हुए ही कर्ममार्ग में प्रवृत्त रहना–

किं नु मे स्यादिदं कृत्वा किं नु मे स्यादकुर्वतो।
इति संचिन्त्य मेधावी कर्म्म कुर्वीत वा न वा॥

कर्मजाल बड़ा दुस्तर है। "किं कर्म किमकर्म्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः" (गीता) के अनुसार कवि (भृगु–सोम) वंशज, सोममय मन का संयम करने के कारण कवि नाम से प्रसिद्ध बड़े बड़े मनस्वी भी कभी कभी धोका खा जाते हैं। वे भी कभी कभी वर्णाश्रमधर्म्ममूलक आधिकारिक कर्म्म की उपेक्षा कर अकर्म्म को कर्म्म मान बैठते हैं, कर्म्म को अकर्म मान बैठते हैं। तुम्हें चाहिए कि–



५– तुमने कर्म्म में प्रवृत्त होने के लिए जो इरादा (क्रतु) किया है, उसकी खूब परीक्षा कर लो। साथ ही में जो कर्म्म कर चुके हो उस पर दृष्टि रक्खो। सोचो कि अबतक हमने

जो कुछ किया है, उससे हमारा क्या उपकार हुआ है एवं उस से समाज का क्या हित हुआ है! वर्त्तमान को भव्य बनाने के लिए अतीत को लक्ष्य में रक्खो। कहीं ऐसा न हो कि केवल वर्त्तमान के झञ्झावात के झपेटे में आकर आंख मीच कर अशास्त्रीय कर्म्मों को शास्त्रीय मानते हुए, साथ ही में कर्म्ममार्ग का डिण्डिमघोष करते हुए अपना सर्वनाश करा बैठो। "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति"।

———

६– तुम्हारा क्रतु (इरादा) भी बड़ा उदात्त है, अतीत भी तुम्हारा बड़ा भव्य था। परन्तु सावधान! कहीं वर्त्तमान को न भूल जाना। वर्त्तमान में तुम्हारे पास जितनी शक्ति है, उसे ध्यान में रखते हुए ही आगे बढ़ना। लम्बे चौड़े इरादे, अतीत का गौरव ही कर्म्म प्रवृत्ति के मुख्य द्वार नहीं हैं। इसके लिए तुम्हें वर्तमान बल का आश्रय लेना पड़ेगा। तुम्हारी अध्यात्मसंस्था में कर्म्म के प्रवर्त्तक देवता सोमगर्भित अग्नि हैं। अग्नि अङ्गिरा है, सोम भृगु है। यही दोनों तुम्हारे तप [कर्म्म] के सञ्चालक हैं। "भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्" इस श्रौत सिद्धान्त का समादर करते हुए, भृगु–अङ्गिरामय अपने शरीर आग्नेय बल को सामने रखते हुए तदनुसार कर्म्म करो। वही अग्नि देवता तुम्हें सुपथ का अनुगामी बनाने वाला है। जो व्यक्ति शक्तिसीमा का उल्लंघन करता हुआ असम्भव कर्म्मों में प्रवृत्त होजाता है, वह कभी सफल नहीं होसकता। इस प्रकार क्रतु (इरादा), कृत (अतीत), अग्नि (वर्त्तमान शक्ति) तीनों को लक्ष्य में रखते हुए, फलाशा छोड़ते हुए कर्म्म में प्रवृत्त रहो, ऐहलौकिक, पारलौकिक दोनों विभूतिएं करबद्ध तुम्हारे सामने खड़ी हैं।

ओं शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!



———